जिनागम के आलोक में...

तीन लोक

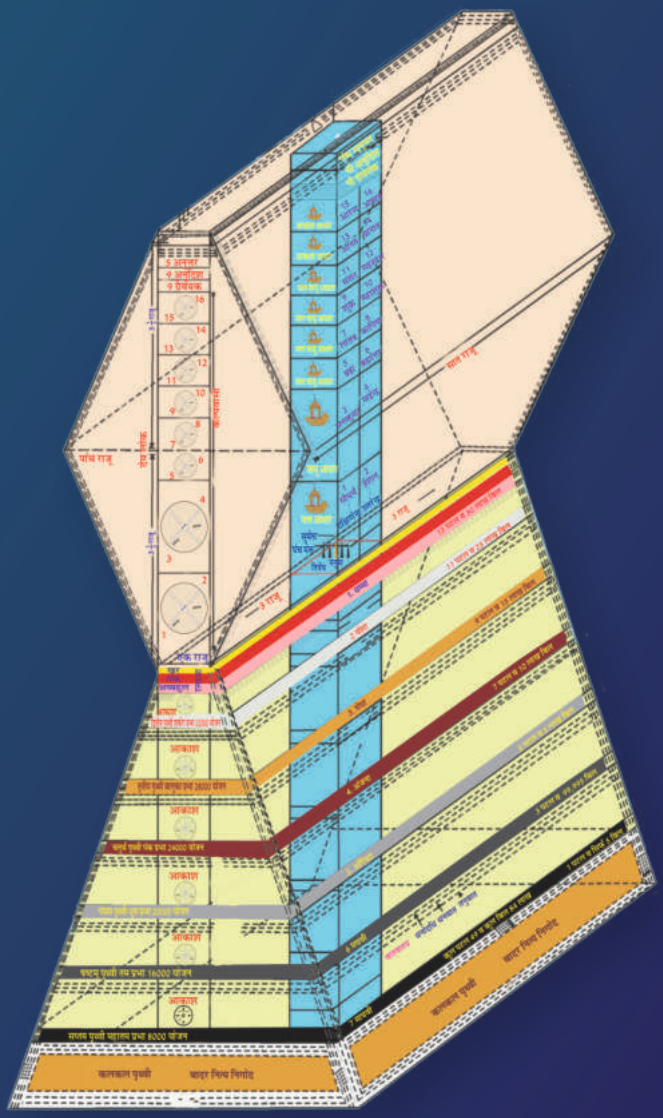

– डॉ. संजीवकुमार गोधा

जिनागम के आलोक में...

तीन लोक

लेखक

डॉ. संजीवकुमार गोधा

एम.ए. द्वय, नेट, एम.फिल (जैनदर्शन), पीएच.डी.

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर (राज.) 302015

E-mail : ptstjaipur67@gmail.com

PTST_JAIPUR +91 8949033694 www.ptst.in PTST.LIVE

जिनागम के आलोक में तीन लोक	:	डॉ. संजीवकुमार गोधा

प्रथम संस्करण : 2000
26 नवम्बर, 2023
(प्रभावना दिवस के अवसर पर)

मूल्य
भारत में – 130 रुपये मात्र
Outside India - USD 14.99 (includes shipping chg)

प्रकाशन सहयोग

वीरेन्द्र के. जैन (CPA)
New York, NY 10036 (USA)
श्री वीरेन्द्र–सुनीता, वैभव–नीतू, सम्यक–श्वेता, आदित्य, अनंतवीर जैन परिवार, न्यूयॉर्क/मुम्बई

N R Doshi & Partners
Public Accountants (Dubai)
श्री नीतिश–रोशनी, राहुल–किन्नरी, राजवी, मीशिका दोशी परिवार, दुबई/सिंगापुर/मुम्बई

मुद्रक :
रिद्धि प्रिंटर्स
मालवीय नगर, जयपुर

प्राप्ति स्थल

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए–4, बापूनगर, जयपुर (राज.) 302015

वीरेन्द्र के. जैन (CA, CPA)
2 west, 46 street, suite 1014 New York, NY 10036 (USA)
4 Ann street, Bergenfield NJ 07621 (USA)
E-mail - vkjainusa@yahoo.com
Whatsapp No. - 91-93232-02402

Rajvi Doshi (FCCA, CPA)
N R Doshi & Partners
Suite# 2401
The Burjuman Business Tower
P O Box : 13742
Dubai - UAE
www.nrdoshi.ae

प्रकाशकीय

जिनागम के चारों ही अनुयोगों के मर्मज्ञ, अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान डॉ. संजीवकुमार गोधा अब हमारे बीच नहीं रहे। भारत ही नहीं सम्पूर्ण विश्व की जैनसमाज उनके प्रवचनों को बड़े आदर से सुनती थी, इतनी अल्पवय में वे सम्पूर्ण जैनसमाज के हृदय के हार बन गये थे। आज उनकी रिक्तता की पूर्ति होना असम्भव-सा लग रहा है; परंतु उनके द्वारा लिखित कृतियों के माध्यम से उनकी कमी की कुछ भरपाई करने का प्रयास कर रहे हैं। आपकी प्रथम तीन कृतियाँ **कालचक्र, समुद्घात** व **कर्मचक्र से सिद्धचक्र** के अनेक संस्करण विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। इसी क्रम में अब उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति **जिनागम के आलोक में तीन लोक** आपके सम्मुख प्रस्तुत है।

भारत के सभी दर्शनों में एक बात प्रायः समानरूप से दृष्टि गोचर होती है कि सभी ने सृष्टि के प्रादुर्भाव, स्थिति और विनाश आदि के बारे में गहन अन्वेषण किया है तथा सत्य तक पहुँचने के लिए प्रयत्न भी किया है तथापि यथार्थ मार्ग तक पहुँच पाना सम्भव नहीं है क्योंकि ये सभी विषय प्रत्यक्षगोचर नहीं हैं। इस हेतु सर्वज्ञता/ केवलज्ञान पर भी श्रद्धान होना अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा सत्यार्थ मार्ग का ज्ञान और श्रद्धान न हो सकेगा। जिनागम में केवली प्रणीत करणानुयोग में उपर्युक्त प्रश्नों का वास्तविक समाधान विभिन्न ग्रंथों में किया गया है उन ग्रंथों का गहन अध्ययन कर इस कृति का प्रणयन हुआ है।

जिनागम में जिन भी ग्रंथों में लोक के स्वरूप का वर्णन किया गया है ऐसे त्रिलोकसार, त्रिलोक प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति,लोक विभाग, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि ग्रंथों का आलोड़न करते हुए उन सभी की लोक से संबंधित विषय वस्तु को साररूप में इसमें दिया गया है। लोक के स्वरूप के साथ, लोक-अलोक, द्वीप-समुद्र आदि से संबंधित अनेक रोचक तथ्यों को इसमें सुगमता के साथ समझाया गया है। स्वर्ग-नरक,कर्मभूमि-भोगभूमि आदि का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है।

विभिन्न विषयों को समझाने के लिए चित्रों की सहायता ली है तथा परिशिष्ट में अनेक रंगीन चित्रों के माध्यम से विभिन्न विषयों का प्रतिपादन किया गया है। संक्षेप में कहें तो तीन लोक को व्यवस्थित रूप से एक ही स्थान पर समझने हेतु यह कृति शोधार्थियों तथा आत्मार्थियों के लिए अत्यंत लाभदायक है।

डॉ. संजीव गोधा ने 13 ग्रंथों का संपादन व अनेक शोध लेख लिखे हैं। इस कृति के अतिरिक्त भी कुछ अन्य पुस्तकों का प्रणयन भी आपके द्वारा किया गया है, जिनका प्रकाशन यथाशीघ्र किया जाएगा।

यह कृति डॉ. संजीवजी द्वारा प्रस्तुत शोध प्रबंध (Ph.D.) का ही परिवर्तित व सम्पादित रूप है, जिसे स्वयं संजीवजी ने अत्यन्त परिश्रम कर तैयार किया था।

इस कृति के प्रकाशन का दायित्व सदा की भांति विभाग के प्रभारी डॉ. अखिल बंसल ने बखूबी सम्भाला है तथा इस कृति को परिष्कृत करने में पण्डित अनिल शास्त्री, खनियाँधाना व पण्डित अखिल शास्त्री, मंडीदीप का सहयोग भी सराहनीय रहा है। अतः सभी का आभार।

लोकालोक के साथ निज चैतन्य लोक की परिचायक इस कृति का अध्ययन कर सभी विज्ञजन अपना आत्मकल्याण करें - यही भावना है।

विपिन जैन 'शास्त्री', मुम्बई
प्रकाशन मंत्री

अन्तर्भावना

इस दुषम पंचम काल में जिनदेव का जब हो विरह।
तब मात सम उपकार करते शास्त्र ही आधार हैं।।

श्री संजीवकुमारजी गोधा सरल एवं रोचक शैली में प्रवचन कर धर्म की प्रभावना में अभूतपूर्व योगदान देने वाले विद्वान तो थे ही, इसके साथ-साथ वे एक गहन अध्येता भी थे; जो बड़ी ही जिज्ञासु प्रवृत्तिपूर्वक ग्रंथों का अध्ययन किया करते थे जिसके परिणामस्वरूप ही उनके द्वारा इस कृति का उद्भव हुआ है।

दिन-रात एक करते हुए करणानुयोग के ग्रंथों का सूक्ष्मता के साथ अभ्यास करते हुए शोध प्रबंध के रूप में आपने **'जिनागम के आलोक में तीन लोक'** इस विषय पर लेखन कार्य किया है।

प्रायः सभी दर्शनों में लोक-अलोक का स्वरूप जिज्ञासा का ही विषय रहा है जिसके अन्वेषण का भी सभी ने प्रयत्न किया है तथापि जैसा गहन अन्वेषण हमारे जैनाचार्यों ने किया है वैसा अन्यत्र दृष्टि गोचर नहीं होता है। उस सूक्ष्म अन्वेषण को सार रूप में इस कृति में प्रस्तुत किया गया है।

तीन लोक के संदर्भ में अपनी जिज्ञासा रखने वाले जिज्ञासुओं तथा अध्येताओं अथवा शोध प्रवृत्ति में संलग्न शोधार्थियों के साथ प्रत्येक आत्मार्थी के लिए अपने परिणामों की स्थिरता तथा लोक-अलोक से भिन्न निज चिद्रूप घनलोक को जानने में यह कृति अवश्य ही लाभदायी होगी।

इस कृति का अध्ययन कर अपने उपयोग को सूक्ष्म करते हुए सभी मोक्षमार्ग में अग्रसर हों इसी पवित्र भावना के साथ यह कृति आपके समक्ष प्रस्तुत है।

– संस्कृति गोधा

विषय-सूची

प्राक्कथन xiii

प्रस्तावना xvi

प्रथम अध्याय – लोक का सामान्य स्वरूप 1–28

- **लोक शब्द का अर्थ/लक्षण** 02
- **लोक/विश्व की उत्पत्ति एवं विनाश संबंधी धारणाएँ** 04
  - ➤ पहली वैज्ञानिक कल्पना 05
  - ➤ दूसरी वैज्ञानिक कल्पना 05
  - ➤ लोक का स्वरूप : अकृत्रिम 07
- **लोक का स्थान या स्थिति** 10
- **लोक के प्रकार** 11
- **तीन लोक का विभाजन** 12
- **लोक का आकार** 13
- **लोक का विस्तार** 15
  - ➤ राजू (रज्जु) का प्रमाण 15
  - ➤ लोक की ऊँचाई का वर्गीकरण 18
  - ➤ लोक का घनफल 19
- **लोक का आधार वातवलय** 21
  - ➤ वातवलयों का रंग 22
  - ➤ वातवलयों की मोटाई 22
- **त्रस व स्थावर लोक** 23
  - ➤ त्रसनाली के बाहर त्रसपना 24
  - ➤ समस्त रचनायें त्रसनाली में 25
- **निश्चय लोक (आध्यात्मिक लोक) –** 26

द्वितीय अध्याय – अधोलोक का स्वरूप 29–53

- अधोलोक की नरक पृथ्वियाँ 29
- सात पृथ्वियों की मोटाई 30
- रत्न प्रभा पृथ्वी के विभाग 31
- भवनवासी एवं व्यंतर लोक 33
- पृथ्वियों पर नरकों की संख्या 35
- नरक पृथ्वियों में आयु, ऊँचाई एवं अवधिज्ञान 39
- नारकियों की जन्मभूमियाँ 42
- नारकियों के दुःख 43
- नरक जाने के मुख्य कारण 47
- दुःख का मूल कारण एवं नरकों में सम्यक्त्व 48
- नरक गति–आगति 49
- नरक जन्म–मरण अन्तराल 52

तृतीय अध्याय – मध्यलोक में जम्बू द्वीप 54–96

- मध्यलोक का सामान्य स्वरूप 54
- जम्बू द्वीप की रचना 55
  - ➤ परिधि एवं क्षेत्रफल 55
  - ➤ जम्बू द्वीप की जगती 55
  - ➤ जम्बूद्वीप में षट् कुलाचल 56
  - ➤ जम्बू द्वीप के सात क्षेत्र 59
  - ➤ छह सरोवर 62
  - ➤ चौदह महानदियाँ 65
- सुमेरु पर्वत 71
  - ➤ सुमेरु पर्वत पर वन 72
  - ➤ मेरु से जुड़े गजदंत पर्वत 75

- **विदेह क्षेत्र** 81
  - विदेह क्षेत्र की नदियाँ 81
  - विदेह क्षेत्र स्थित 16 वक्षार पर्वत 84
  - विदेह क्षेत्र की 12 विभंगा नदियाँ 85
  - विदेह के 32 क्षेत्र : नाम व रचना 86
- **भरत क्षेत्र** 87
  - भरत क्षेत्र का रचनात्मक स्वरूप 87
  - विजयार्द्ध पर्वत 89
  - गंगा-सिन्धु नदियाँ 91
  - आधुनिक विश्व 94

चतुर्थ अध्याय – मध्यलोक के प्रमुख द्वीप-समुद्र 97-125

- **मध्यलोक का सामान्य स्वरूप** 97
  - द्वीप समुद्रों के उपलब्ध नाम 97
  - समुद्रों का जल 98
  - समुद्रों में जलचर जीव 98
  - द्वीप-समुद्रों के रक्षक देव 99
- **लवण समुद्र** 100
  - परिधि व क्षेत्रफल 100
  - समुद्र का जल स्तर 101
  - पाताल 101
  - लवण समुद्र में पर्वत 102
  - समुद्र में कुमानुष द्वीप 103
  - लवण समुद्र की जगती 105
- **धातकी खण्ड द्वीप** 105
  - धातकी खण्ड द्वीप की परिधि एवं क्षेत्रफल 105
  - धातकी खण्ड में इष्वाकार पर्वत 106
  - धातकी खण्ड के विभाग, पर्वत, क्षेत्र आदि 106
  - धातकी खण्ड में मेरु पर्वत 107

- धातकी खंड में गजदंत पर्वत 108
- धातकी खण्ड में कुरुक्षेत्र 108

कालोद समुद्र 108

- कालोद समुद्र की परिधि एवं क्षेत्रफल 109
- समुद्र में द्वीप 109

पुष्करवर द्वीप 110

- पुष्करार्द्ध की परिधि व क्षेत्रफल 110
- पुष्करार्द्ध में इष्वाकार पर्वत 111
- पुष्करार्द्ध में मेरु एवं गजदंत 111
- पुष्करार्द्ध में कुरु क्षेत्र 111
- पुष्करार्द्ध में कुलाचल एवं क्षेत्र 112
- मानुषोत्तर पर्वत 112
- मनुष्य क्षेत्र 114

नन्दीश्वर द्वीप 115

- नन्दीश्वर द्वीप में अंजन गिरि 115
- नन्दीश्वर में सोलह वापिकाएँ 116
- नन्दीश्वर द्वीप में दधिमुख पर्वत 117
- नन्दीश्वर द्वीप में रतिकर पर्वत 117
- नन्दीश्वर द्वीप के अकृत्रिम चैत्यालय 117

कुण्डलवर द्वीप 119

- कुण्डल गिरि 119
- कुण्डल गिरि के कूट 119

रुचकवर द्वीप 120

- रुचक गिरि 120
- रुचक गिरि के कूट 120

दूसरा जम्बू द्वीप 123

स्वयंभूरमण द्वीप 124

पंचम अध्याय – कालचक्र **126–171**

- **काल की परिभाषा / स्वरूप** 126
- **काल के भेद** 128
  - ➤ व्यवहार और निश्चयकाल 129
  - ➤ व्यवहारकाल के विविध मापदण्ड 130
  - ➤ संख्यात, असंख्यात और अनन्त काल 132
  - ➤ भूत, वर्तमान और भविष्य काल 133
  - ➤ उत्सर्पिणी–अवसर्पिणी काल 134
- **अवसर्पिणी के प्रथम तीन काल (भोगभूमि)** 138
  - ➤ कल्पवृक्षों का स्वरूप 140
  - ➤ अवसर्पिणी का पहला काल (सुषमा–सुषमा) 142
  - ➤ अवसर्पिणी का दूसरा काल (सुषमा) 144
  - ➤ अवसर्पिणी का तीसरा काल (सुषमा–दुषमा) 145
  - ➤ कुलकर व्यवस्था 147
- **अवसर्पिणी के अंतिम तीन काल (कर्मभूमि)** 151
  - ➤ अवसर्पिणी का चतुर्थ काल (दुषमा–सुषमा) 152
  - ➤ अवसर्पिणी का पंचम काल (दुषमा) 155
  - ➤ अवसर्पिणी का छठा काल (अतिदुषमा) 158
  - ➤ कल्पान्त काल (प्रलय) 159
  - ➤ हुण्डावसर्पिणी काल 160
  - ➤ उत्सर्पिणी के छह काल 161
  - ➤ काल अपरिवर्तन वाले क्षेत्र 163
- **कुछ सहज जिज्ञासायें ?** 164
  - ➤ वर्तमान में कौन–सा काल – उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी? 165
  - ➤ क्या काल परिवर्तन होने पर सब कुछ बदल जाता है? 169
  - ➤ कौन–सा काल श्रेष्ठ? 170

षष्ठ अध्याय – ज्योतिष्कलोक **172–195**

- **ज्योतिषी देवों के भेद** 173
- **ज्योतिष्क विमानों की पृथ्वी से ऊँचाई** 173
- **सूर्य चर अथवा अचर** 175
- **ज्योतिष्क विमानों के वाहन देव** 177
- **विमानों की गणना अथवा चन्द्रमा का परिवार** 178
  - ➤ अट्ठाईस नक्षत्र एवं अठासी ग्रह 179
  - ➤ भरत आदि क्षेत्रों में तारों की संख्या 180
  - ➤ ढाई द्वीप एवं उसके बाहर ज्योतिष्क विमान 181
- **ज्योतिष्क विमानों का आकार / विस्तार** 182
- **ज्योतिषी देवों की आयु एवं शरीर की ऊँचाई** 182
- **सूर्य–चन्द्र व दिन–रात** 183
  - ➤ चारक्षेत्र एवं वीथियाँ 183
  - ➤ दक्षिणायन एवं उत्तरायन 184
  - ➤ दिन एवं रात्रि का घटना / बढ़ना 185
  - ➤ परिधि एवं दिन घटने–बढ़ने का परिमाण 186
  - ➤ एक मुहूर्त और एक मिनिट में सूर्य का गमन 187
  - ➤ अधिक माह की गणना 187
  - ➤ सूर्य–चन्द्र ग्रहण एवं कृष्ण–शुक्ल पक्ष 188
- **ज्योतिष्क विमानों की किरणें अथवा प्रकाश** 189
  - ➤ सूर्य की ऊष्ण एवं चन्द्र की शीतल किरणें 190
  - ➤ सूर्य प्रकाश का विस्तार 191
- **ज्योतिष्क देवों के निवास–स्थान** 191
- **विमानों में अकृत्रिम चैत्यालय** 191
- **चक्रवर्ती द्वारा जिनबिम्ब दर्शन** 192
- **ज्योतिष्कलोक एवं वैज्ञानिक** 193

सप्तम अध्याय – ऊर्ध्वलोक का स्वरूप **196–226**

- **ऊर्ध्वलोक सामान्य** 196
- **ऊर्ध्वलोक में पटल** 197
  - ➤ कल्प पटल 197
  - ➤ कल्पातीत पटल 198
  - ➤ कल्प और कल्पातीत पटलों की अवस्थिति 198
- **स्वर्गों के विमान** 200
  - ➤ विमानों के भेद/प्रकार 200
  - ➤ विमानों की संख्या 201
  - ➤ विमानों का स्वामित्व (आज्ञा) 202
  - ➤ विमानों का विस्तार 202
  - ➤ विमानों की मोटाई/तल बाहल्य 203
  - ➤ विमानों का आधार 203
  - ➤ विमानों का वर्ण 204
- **देवों का स्वरूप** 204
  - ➤ देवों के अधिपति (इन्द्र) 205
  - ➤ इन्द्रों का परिवार 205
  - ➤ सौधर्म स्वर्ग 208
  - ➤ इन्द्रों का निवास-स्थान 211
  - ➤ इन्द्रों संबंधी नगरियों की चौड़ाई 212
  - ➤ इन्द्रों के महलों की ऊँचाई 212
  - ➤ देवियों की संख्या 213
  - ➤ कल्पातीत विमान 213
- **लौकान्तिक देव** 213

- **देवों संबंधी विशेष बातें** 215
  - ➤ देवों की आयु 215
  - ➤ आहार 216
  - ➤ श्वासोच्छ्वास 216
  - ➤ देवों के शरीर का उत्सेध 216
  - ➤ प्रवीचार 217
  - ➤ देवों में अवधिज्ञान 217
  - ➤ वैमानिक देवों की शक्ति 217
  - ➤ देवों की उत्पत्ति प्रक्रिया 218
  - ➤ देवों के समीचीन कार्य 218
  - ➤ वैमानिक देवों में जन्म-मरण का अन्तराल 218
  - ➤ देवों में सम्यक्त्व / ग्रहण के कारण 219
  - ➤ देवों की गति-आगति 219
- **देव गति के दुःख** 221
- **सिद्धशिला व सिद्धलोक** 223
  - ➤ सिद्धशिला 223
  - ➤ सिद्धलोक 224
  - ➤ सिद्धों का स्वरूप 225
- **उपसंहार** 227-233
- **परिशिष्ट -1 (विलुप्तसूचक गाथाओं का संकलन)** 234-242
- **संदर्भ ग्रन्थ सूची** 243-254
- **परिशिष्ट -2 (चित्रावली)** 255-290

"दुनियाँ मुझे जाने यह बड़ी बात नहीं,
मैं अपने को जानूँ यह बड़ी बात है।"

- डॉ. संजीवकुमार गोधा

प्राक्कथन

मनुष्य का मन बहुत चंचल है, उसमें सदैव नये-नये विचार जन्म लेते रहते हैं। मेरे मन में भी बचपन से ही लोक/परलोक के संबंध में अनेक विचार उठा करते थे। घर में धार्मिक माहौल होने से बचपन से ही जैन कथाओं आदि के माध्यम से स्वर्ग, नरक आदि की चर्चायें बहुत सुनते थे। जब भी पुराण पढ़ते थे तो वहाँ आचार्य बात ही जम्बूद्वीप से प्रारंभ करते थे। ऐसा लगता था कि आखिर ये जम्बूद्वीप है कहाँ, कितना बड़ा है, उसकी रचना कैसी है? यदि शास्त्र यह कहते हैं कि हम जम्बूद्वीप में ही रहते हैं तो वर्ल्ड एटलस में कहीं तो जम्बूद्वीप दिखाई देना चाहिये। उस समय इंटरनेट या सैटेलाइट का जमाना नहीं था। फिर भी जब स्कूल/कॉलेज में स्वर्ग-नरक, जम्बूद्वीप आदि विषयों की चर्चा किसी से करते थे तो अध्यापक अथवा मित्र, सभी इन विषयों के बारे में बिना विचार किये ही तुरंत कह देते थे - 'ये सब शास्त्रों की बातें हैं, ऐसा दुनिया में कुछ नहीं है।' अनेक साथी तो इन्हें बहुत मजाक का विषय बना लेते थे।

तभी से मन में बराबर यह चलता रहता था कि ये सब हैं अथवा नहीं? क्या ये सब काल्पनिक बातें हैं? क्या दुनिया में स्वर्ग-नरक जैसी कोई चीज नहीं है? क्या ये सब शास्त्र झूठे हैं। हमारी प्राचीन धार्मिक/सांस्कृतिक धरोहर जो पाण्डुलिपियों, ताड़पत्रों एवं शास्त्रों के रूप में हमारे पास उपलब्ध है, क्या वे सब मूल्यहीन हैं? - ऐसा मानने पर तो प्राचीन ऋषि-मुनि, तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुषों के ज्ञान पर सीधा प्रश्नचिह्न खड़ा हो जायेगा। ऐसे सैकड़ों प्रश्नों ने मानो हृदय में इन बातों के संबंध में शोध करने की भावना को जन्म दिया। ऐसा लगता था कि इन विषयों के संदर्भ में शोध-खोज होनी चाहिये।

मेरे जैसे चिन्तन वाले भाई अमित जैन, हर्ष जैन और विक्रान्त शाह शास्त्री सोलापुर आदि साथियों ने मेरी भावना को बल दिया। हम लोग बैठकर इन विषयों के बारे में घण्टों चर्चा करते थे, खूब माथा लगाते थे। कभी जम्बूद्वीप, कभी विदेह क्षेत्र, कभी उनमें होने वाली दिन-रात व्यवस्था, कहीं 24 घण्टे का दिन, तो कहीं छह माह तक निरन्तर दिन आदि अनेक ऐसे विषय थे, जो गहन चिंतन-मनन, अध्ययन के साथ-साथ किसी भी प्रकार के समाधान के लिये ठोस आगम प्रमाणों की अपेक्षा रखते थे।

फिर सहज ही इन विषयों के विशेषज्ञ पण्डित किशनचन्दजी जैन अलवर वालों का जयपुर में समागम प्राप्त हुआ। सन् 1994 से 1997 तक प्रतिवर्ष उनके द्वारा आयोजित शिविर में इन विषयों के बारे में बहुत कुछ सीखने एवं समझने का अवसर प्राप्त हुआ। जैसे-जैसे पढ़ा, जिज्ञासायें और बढ़ती गईं। स्वयं संतुष्ट होने एवं अन्य युवाओं के सामने इन विषयों को सिद्ध करने की प्रबल भावना से प्रेरित होकर मैंने एम. ए. करने के तुरन्त बाद इस विषय पर शोध हेतु मानस बना लिया; किन्तु शोध के पूर्व जैन दर्शन से एम. ए., नेट तथा एम. फिल किया; फिर शोध रूपरेखा तैयार करके पीएच. डी. रजिस्ट्रेशन हेतु प्रयास किया।

सन् 2010 में पुण्य योग से सहज ही संस्कृत विभाग की आचार्या डॉ. बीनाजी अग्रवाल का समागम हुआ, जिन्होंने सहज ही शोध निर्देशन करने की स्वीकृति प्रदान की; फिर रजिस्ट्रेशन हुआ और कार्य प्रारंभ कर दिया।

लगभग तीन वर्षों के कार्यकाल में मुझे इस कार्य के लिये अनेक लोगों का सहयोग प्राप्त हुआ, मैं उन सबका बहुत-बहुत आभारी हूँ। सर्वप्रथम मैं उन संतों, आचार्यों, महापुरुषों तथा विद्वानों का आभार व्यक्त करना चाहता हूँ, जिनकी कृतियों के माध्यम से मुझे इस विषय को गहराई से समझने में मदद मिली है।

तदुपरान्त सरलहृदया उदारमना गुरुवर डॉ. बीनाजी अग्रवाल का मैं हृदय से आभारी हूँ, जिनके कुशल निर्देशन एवं मार्गदर्शन में मैंने अपना शोधकार्य पूर्ण किया है। आपके महत्त्वपूर्ण सुझावों से ही यह कार्य सहज-रीति से सम्पन्न हो सका है। मैं आभारी हूँ, जैन अनुशीलन केन्द्र के मानद निदेशक माननीय प्रो. संजीवजी भानावत साहब का एवं केन्द्र के पूर्व मानद निदेशक प्रो. पी. सी. जैन एवं प्रो. अनिलजी जैन का; जिनके शोध संबंधी श्रेष्ठ सुझावों ने मेरे कार्य को सरलता से पूर्ण करने की दिशा प्रदान की।

इस प्रसंग पर मैं अपने पिताश्री महेन्द्रकुमारजी गोधा एवं मम्मीजी श्रीमती मंजू देवी का हृदय से आभारी हूँ, जिनका भरपूर सहयोग एवं आशीर्वाद मेरे इस कार्य के लिये रहा; साथ ही सहधर्मिणी संस्कृति गोधा एवं सुपुत्र आर्जव का भी आभारी हूँ, जिनके अनुकूल सहयोग से मैं अपने कार्य को पूर्ण करने में सक्षम हो सका। सासु-माँ श्रीमती कुसुम चौधरी का भी आभारी हूँ; जिनका कार्य में निरन्तर सहयोग रहा।

जून 2012 में कनाडा के टोरंटो शहर में जैन अध्यात्म एकेडमी ऑफ नार्थ अमेरिका द्वारा आयोजित सेमीनार में एक साधर्मी भाई द्वारा 'जैन ई-लाइब्रेरी' की 3500 ग्रन्थों की डीवीडी प्रदान की गई, जिसका शोध के दौरान भरपूर लाभ लिया, मैं उनका भी हृदय से आभारी हूँ। इसके अतिरिक्त स्वयं के पास लगभग 2000 ग्रन्थों की व्यक्तिगत लाइब्रेरी है। शोध के आधारभूत एवं अन्य लगभग 350 ग्रन्थों की पीडीएफ तो आई पॉड के रूप में सदैव हैंड बुक की तरह साथ ही रहते हैं।

सहायक संदर्भ पुस्तकें उपलब्ध कराने हेतु श्रीमान् हरीशचन्दजी ठोलिया जयपुर, विश्व प्रहेलिका उपलब्ध कराने हेतु डॉ. योगेश जैन लाडनूँ, कुछ पुराण ग्रन्थों की पीडीएफ उपलब्ध कराने हेतु श्री प्रमोद शास्त्री शाहगढ़ (दिल्ली), लोकानुप्रेक्षा हेतु श्री महेन्द्र जैन एवं श्री देवेन्द्र बड़कुल भोपाल, त्रिलोकसार ग्रन्थ हेतु श्री नीलेश शास्त्री इन्दौर के सहयोग को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। अनेक ग्रन्थ त्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर (उत्तर प्रदेश) से तथा अनेक पुस्तकें जम्बूद्वीप विज्ञान रिसर्च केन्द्र पालीताना (गुजरात) से प्राप्त हुईं। इसके अतिरिक्त भी जयपुर के अनेक पुस्तकालयों एवं शोध संस्थानों के सहयोग हेतु मैं सदैव आभारी रहूँगा।

शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त कुछ चित्रों के लिये छोटे पीयूषजी शास्त्री का, राजस्थान विश्वविद्यालय एवं जैन अनुशीलन केन्द्र से जुड़े सभी औपचारिक कार्यों हेतु श्री महेन्द्रजी शर्मा का तथा अन्य सभी कार्यों के लिये श्री राजकुमारजी जैन का भी मैं हृदय से आभारी हूँ।

शोध-प्रबन्ध का सम्पूर्ण लेखन कार्य स्वयं के द्वारा कम्प्यूटर पर ही किया गया; अत: कहीं परिश्रम की अधिकता तो कहीं कार्य करने की सुलभता का भी अपना एक अलग ही अनुभव रहा। लगभग सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध की भाषा और वाक्य रचना स्वयं की है। सम्पूर्ण विषय को पहले स्वयं आत्मसात करके गहराई से समझने का प्रयास किया है, तदुपरान्त लेखन का अनुभव आनन्द के साथ ही रचनाधर्मिता का सन्तोष देने वाला रहा।

यद्यपि मैंने इस शोध-कार्य को पूर्ण मनोयोग से सावधानीपूर्वक किया है, तथापि इस क्षयोपशम ज्ञान की अल्पता और किंचित् प्रमादवश किसी प्रकार की कमी/अशुद्धि रह जाने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। मैं उसके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

– डॉ. संजीवकुमार गोधा

प्रस्तावना

मानव मन में सदा काल अनेक प्रकार की शंकायें-आशंकायें जन्मती रहती हैं। जगत के किसी भी नवीन पदार्थ को देखकर मन में अनायास ही यह प्रश्न उठता है कि यह पदार्थ क्या है ? यह कैसे बना? क्यों बना? किसने बनाया? कब बनाया? कहाँ बनाया? किसके लिये बनाया ? इत्यादि।

यह लोक विविधताओं से भरा है। यहाँ निरन्तर नई-नई घटनायें घटित होती रहती हैं। कभी बाढ़ आती है तो कभी भूकम्प, कभी ज्वालामुखी फटता है तो कभी सुनामी उठती है। कौन करता है ये सब?

बोलता, चलता हुआ एक व्यक्ति अचानक निष्क्रिय हो जाता है, डॉक्टर जवाब दे देते हैं, आखिर क्या हुआ? ये व्यक्ति मरता क्यों है? क्या मरण के बाद भी पुन: जीवन मिलता है? क्या इस जीव का पुनर्जन्म होता है? क्या होता है परलोक में? कहाँ है परलोक? क्या लोक में ऐसा कोई स्थान है, जहाँ अत्यधिक पाप करने वाले को उसका फल मिलता हो अथवा जो जीव अत्यधिक पुण्य करते हैं, उसका फल भोगने को मिलता हो? क्या स्वर्ग और नरक यहीं है, इसी धरातल पर... अथवा ये कोरी कल्पना मात्र हैं?

आखिर कौन देगा इन सब सवालों के जवाब?

ऐसे किसी भी सवाल का जवाब विज्ञान अथवा वैज्ञानिकों के पास नहीं है। वे परलोक को नहीं मानते; इन सब बातों के समाधान के लिये हमें विज्ञान की नहीं, धर्म-दर्शन की शरण लेनी होगी; क्योंकि ये विज्ञान के नहीं दर्शन के विषय हैं। लगभग सभी भारतीय दर्शनों में इन विषयों के संबंध में व्यापक चिन्तन हुआ है। चार्वाक को छोड़कर जैन, बौद्ध, हिन्दू आदि सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में पुनर्जन्म, परलोक अथवा स्वर्ग-नरक की सत्ता को स्वीकार करते हैं। वैदेशिक, मुस्लिम, ईसाई आदि धर्मों में भी स्वर्ग एवं नरक का वर्णन है। इस्लाम धर्म में नरक को दोज़ख एवं स्वर्ग को ज़न्नत कहते हैं। ईसाई धर्म में स्वर्ग को Heaven

(हेवन) और वहाँ वास करने वाले जीव को Heavenly being कहते हैं। नरक को Hell एवं वहाँ वास करने वाले जीव को Hellish being कहते हैं।

यहाँ हमें चर्चा जैन दर्शन एवं आगमों के परिप्रेक्ष्य में करनी है। जैन दार्शनिकों ने अधोलोक एवं ऊर्ध्व लोक के रूप में उक्त स्थानों की चर्चा की है। लोक के संदर्भ में जैन मनीषियों का अपना एक विशिष्ट चिंतन रहा है।

जैन आगम ग्रन्थों की लेखन शैली मुख्यरूप से चार भागों में विभक्त है - 1. प्रथमानुयोग 2. चरणानुयोग 3. करणानुयोग व 4. द्रव्यानुयोग।

प्रथमानुयोग में महापुरुषों के जीवनचरित्र का वर्णन करके जीवों को पाप से बचने की प्रेरणा दी गई है। चरणानुयोग में आचरण की प्रधानता से पाप को छोड़ने का उपदेश दिया गया है। करणानुयोग में गुणस्थान, मार्गणास्थान, कर्म तथा लोक के रचना-स्वरूप आदि को विस्तार से बताया गया है तथा द्रव्यानुयोग में तत्त्व, द्रव्य आदि दार्शनिक विषयों का प्रतिपादन प्राप्त होता है।

जैन परम्परा के आचार्य उमास्वामी, यतिवृषभ, कार्तिकेय, पूज्यपाद, अकलंकदेव, जिनसेन, वीरसेन, नेमिचन्द्र, ब्रह्मदेवसूरि, सिंहसूरि आदि अनेक दिग्गज आचार्यों ने तीन लोक संबंधी विषयों पर अपना विशिष्ट चिंतन प्रस्तुत करते हुये कलम चलाई है। इन सभी में आचार्य यतिवृषभ को तीन लोक संबंधी स्वतंत्र ग्रन्थ एवं विस्तृत विवेचना के लिये सर्वाधिक सम्मान प्राप्त है।

वे आचार्य यतिवृषभ तिलोयपण्णत्ती प्रथम अधिकार की गाथा-148 में लिखते हैं कि **'भणामो णिस्संदं दिट्ठि वादादो'** अर्थात् मैं वैसा ही वर्णन करता हूँ, जैसा दृष्टिवाद अंग से निकला है। इसी अधिकार की गाथा-99 में लिखते हैं कि **'इय दिट्ठं दिट्ठिवादम्हि'** अर्थात् ऐसा दृष्टिवाद अंग में निर्दिष्ट है।

इस प्रकार यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि यतिवृषभ आचार्य के तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ अथवा जैन तीन लोक संबंधी सम्पूर्ण विवेचना का उद्गम स्रोत द्वादशांग आगम का अंतिम अंग दृष्टिवाद है। भगवान महावीरस्वामी की दिव्यध्वनि सुनकर गौतम गणधर ने द्वादशांग आगमों की रचना की। उसमें दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं विशाल था, किन्तु वह वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

इसके पश्चात् भी प्राचीन काल से अब तक करणानुयोग के विपुल ग्रन्थों का सृजन हुआ है, तथापि उसमें से भी बहुभाग का तो काल-प्रवाह से लोप हो गया है। उपलब्ध करणानुयोग के ग्रन्थों में भी लोक की रचना एवं स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ बहुत कम हैं। जो हैं, उनमें भी गणितीय विषय बहुत है और वह भी इतना जटिल है कि वर्तमान में गणित के विशेषज्ञों को समझने में भी पसीना आ जाये। यही कारण है कि सामान्यजन ऐसे ग्रन्थों के पठन-पाठन की चर्चा के विकल्प से भी घबराते हैं, दूर भागते हैं।

यद्यपि करणानुयोग की चर्चायें जटिल हैं; किन्तु फिर भी लिखी तो मनुष्यों ने ही हैं। यदि उसे रुचि से समझने और पढ़ने की कोशिश की जाये तो समझ में न आने जैसी कोई बात नहीं है। वे चर्चायें जटिल अवश्य हैं; पर इतनी भी जटिल नहीं कि जिन्हें समझना सैनी पंचेन्द्रिय मनुष्य के लिये असंभव हो। रुचि के अभाव में तो सरल से सरल विषय भी जटिल लगने लगते हैं, फिर यह तो गूढ़, गम्भीर, सूक्ष्म गणित का विषय है। इसे पढ़ने में अरुचि का कारण विषय की जटिलता तो है ही, भाषा एवं पारिभाषिक शब्दावली से अनभिज्ञता भी एक बहुत बड़ा कारण है।

इन्हीं सब परिस्थितियों को देखकर हमने इस पुस्तक में -

(1) जटिल गणितीय विषयों का समावेश नहीं किया है।

(2) कठिन पारिभाषिक शब्दों को सरल भाषा में समझाया है।

(3) अनेक स्थानों पर विषय को विविध तालिकाओं के माध्यम से समझाया है।

(4) विषय के स्पष्टीकरण के लिये विभिन्न स्थानों पर चित्र दर्शाये गये हैं, जिनमें अनेक संकलित हैं, तथा अनेक लेखक द्वारा स्वयं बनाये गये हैं।

(5) विषय को इस प्रकार प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है कि जिससे वर्तमान युवा पीढ़ी एवं प्रबुद्ध वर्ग इस मार्मिक विषय को समझ सके।

(6) अनेक विषयों के बारे में जहाँ आचार्यों में किंचित् मतभेद दिखाई देता है, वहाँ उन विषयों की परस्पर तुलना प्रदर्शित की है।

(7) कुछ विषयों के संदर्भ में अन्य दर्शनों के प्रमाण भी दिये गये हैं।

(8) वैज्ञानिक मान्यताओं से समन्वय बैठाने का प्रयास किया है।

(9) आगमों की गूढ़, गम्भीर भाषा-शैली को सरल शब्दों में व्यक्त किया है।

(10) तीन लोक के नीरस रचनात्मक स्वरूप को रोचक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

(11) स्वर्ग/नरक आदि की सत्ता को तार्किक ढंग से सिद्ध किया है।

(12) इन चर्चाओं से लौकिक एवं सामाजिक जीवन में प्रयोजन और उपयोगिता को प्रस्तुत करने का प्रयास रहा है।

(13) विषय से संबंधित अनेक प्राचीन पाण्डुलिपियों, जिन मंदिरों, तीर्थक्षेत्रों आदि से प्राप्त दुर्लभ चित्रों को परिशिष्ट के रूप में संकलित कर प्रस्तुत किया है।

(14) तिलोयपण्णत्ती की **पाँच हजार सात सौ छियत्तर (5776) गाथाओं में से** खोजकर उन गाथाओं को परिशिष्ट-1 के रूप में प्रस्तुत किया है, जिनमें आचार्यदेव ने विशिष्ट प्रकरण के विलुप्त हो जाने संबंधी उल्लेख किया है।

(15) इस शोध के दौरान आगामी शोध के लिये अनेक पहलू सामने आये हैं, उनका भी उल्लेख विविध स्थानों पर किया है।

यह शोध-प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है -

प्रथम अध्याय में लोक शब्द का सामान्य अर्थ एवं परिभाषा बताकर लोक के सम्बन्ध में विविध अवधारणाओं को बताया गया है। लोक की उत्पत्ति एवं विनाश संबंधी प्रकरण को अनेक युक्तियों एवं आगम प्रमाणों से सिद्ध करके लोक के अकृत्रिम एवं अनादिनिधनपने की पुष्टि की है।

आगमों में उल्लिखित लोक की विविध संख्याओं को बताकर सबका समन्वय तीन लोक के रूप में किया है। लोक का आकार - लम्बाई, चौड़ाई एवं मोटाई, लोक का आधार, तीन वात वलय, वात वलयों की मोटाई, वात वलयों पर लोक कैसे टिका है? लोक का घनफल, त्रस नाड़ी एवं स्थावर लोक का भेद, त्रस एवं स्थावर जीवों के रहने का स्थान आदि रचनात्मक महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा के साथ-साथ अन्त में आध्यात्मिक लोक की चर्चा भी इस अध्याय में की गई है।

द्वितीय अध्याय में अधोलोक की नरक पृथ्वियाँ, उनकी संख्या, नाम, मोटाई आदि बताकर वहाँ रहने वाले नारकियों के अतिरिक्त प्रथम पृथ्वी पर रहने वाले भवनवासी एवं

व्यंतर देवों की चर्चा की है। नारकियों के बिलों की संख्या, बिलों का विभाजन, इन्द्रक, श्रेणीबद्ध एवं प्रकीर्णक बिल, नारकियों की आयु, शरीर की ऊँचाई, अवधिज्ञान, नारकियों के दु:ख एवं दु:ख का मूल कारण, सम्यक्त्व प्राप्ति के कारण, अधोलोक जाने के कारण, वहाँ से निकले जीवों की योग्यता आदि का निरूपण करते हुये अंत में जगत जनों को पाप, अनीति, अन्याय आदि से बचने की प्रेरणा दी गई है।

तृतीय अध्याय में मध्यलोक की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई आदि की चर्चा करते हुये इस लोक का आकार एवं संरचना को बताया गया है। साथ ही जम्बू द्वीप का क्षेत्र, परिधि तथा विष्कम्भ बताकर उसमें भरतादि सात क्षेत्र, हिमवन आदि छह कुलाचल, 16 वक्षार पर्वत, 34 विजयार्द्ध पर्वत, 14 नदियाँ एवं उनकी सहायक नदियाँ, 6 सरोवर आदि की लम्बाई, चौड़ाई आदि के रचनात्मक स्वरूप को विविध चित्रों एवं तालिकाओं के माध्यम से बताया गया है। सुमेरु पर्वत की ऊँचाई, उस पर विविध कटनियाँ, भद्रशाल आदि वन, पाण्डुक वन स्थित चार शिलायें, शिलाओं पर बाल तीर्थंकरों का जन्माभिषेक, पूर्व विदेह एवं पश्चिम विदेह की 32 नगरियाँ, गजदंत पर्वत आदि की विस्तार से चर्चा करते हुये इस जम्बू द्वीप में आधुनिक विश्व की स्थिति को भी बताया गया है।

चतुर्थ अध्याय में जम्बूद्वीप को चारों ओर से घेरे हुये लवण समुद्र, उसे घेरे हुये धातकी खण्ड द्वीप तथा उसे चारों ओर से घेरे हुए कालोदधि तथा पुष्करार्द्ध द्वीप की विस्तार से चर्चा की गई है। उनका क्षेत्र, विष्कम्भ, इनमें स्थित पाताल-कुमानुष द्वीप, इष्वाकार पर्वत, पंचमेरु, आर्यखण्ड एवं म्लेच्छखण्ड, मानुषोत्तर पर्वत, मनुष्य लोक, ढाई द्वीप के बाहर स्थित असंख्यात द्वीप-समुद्रों में प्रमुख द्वीपों एवं समुद्रों की सूक्ष्म चर्चा के अतिरिक्त अन्य द्वीप-समुद्रों की सामान्य चर्चा की गई है। इनमें नन्दीश्वर, कुण्डलवर, रुचकवर तथा अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप-समुद्र मुख्य हैं।

पंचम अध्याय में काल का स्वरूप, उसके अनेक भेद, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के छह-छह कालों का स्वरूप, हुण्डावसर्पिणी काल की विचित्रतायें, काल परिवर्तन से प्रभावित-अप्रभावित क्षेत्र, कुलकरों की उत्पत्ति कब-क्यों? कुलकरों के कार्य, उनके सामने उपस्थित समस्यायें एवं उनका समाधान, हा-मा-धिक दण्ड व्यवस्था, भोगभूमि-कर्म भूमि का स्वरूप एवं अन्तर, सृष्टि प्रलय का स्वरूप आदि विषयों की चर्चा रोचक ढंग से की गई है।

षष्ठ अध्याय में मध्यलोक के अंतर्गत ही ज्योतिष देवों के निवास-स्थान की चर्चा की गई है। मध्यलोक में दिन/रात व्यवस्था, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र एवं तारों की संख्या, परिवार, उनका गमन क्षेत्र, उत्तरायन-दक्षिणायन, दिन एवं रात्रि घटने-बढ़ने का कारण, अधिक मास का कारण, सूर्य-चन्द्र ग्रहण, मेरु प्रदक्षिणा, ढाई द्वीप के बाहर ज्योतिष विमानों की स्थिति, मानव की चन्द्रमा पर पहुँच आदि विषयों पर आगम के आलोक में प्रकाश डाला गया है।

सप्तम अध्याय में ऊर्ध्वलोक की रचना, कल्पोत्पन्न एवं कल्पातीत वैमानिक देव, नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश, पाँच अनुत्तर, पटल व्यवस्था, विमानों का आकार एवं संख्या, भवनों की ऊँचाई-विस्तार, देवों के भोग-वैभव, शरीर, आयु, अवधिज्ञान, लौकान्तिक देव एवं उनके भेद, एक भवावतारी जीव, देव गति से गमन-आगमन, आदि की चर्चा करते हुये अन्त में देवों को भी दु:खी सिद्ध किया है। इसके माध्यम से जगतजनों को विषयासक्ति छुड़ाने की प्रेरणा दी है। अन्त में अष्टम भूमि, सिद्धशिला, सिद्धालय की चर्चा की है।

उपसंहार के रूप में सभी अध्यायों का सरल संक्षिप्त निष्कर्ष बताया है। साथ ही इस सम्पूर्ण चर्चा से हमारा प्रयोजन किसप्रकार से सिद्ध होता है, इस पर भी प्रकाश डाला है।

अन्त में **दो परिशिष्ट** दिये हैं। प्रथम परिशिष्ट में तिलोयपण्णत्ती की उन गाथाओं का संकलन किया है, जिसमें यतिवृषभ आचार्य ने इन प्रकरणों संबंधी ज्ञान के विलुप्त होने का उल्लेख किया है।

द्वितीय परिशिष्ट में विविध स्थानों एवं पाण्डुलिपियों से प्राप्त दुर्लभ रंगीन एवं श्याम-श्वेत चित्रों के अतिरिक्त लेखक द्वारा स्व-चित्रित रचनाओं का समावेश किया है, साथ ही विषय से संबंधित न्यूज़ पेपर की कटिंगों को संलग्न करके विषय को स्पष्ट करने का भरपूर प्रयास किया गया है।

नरक गति के दु:खों को प्रदर्शित करने वाले रंगीन चित्रों को भी परिशिष्ट के अन्त में दिखाया है, जिससे नरक का वातावरण और वहाँ की घोर यातनाओं को देखकर हमें सप्त व्यसनों से बचने की प्रेरणा मिले। इस प्रकार अनीति, अन्याय, बेईमानी और धोखाधड़ी से हम स्वयं बचें एवं दूसरों को इन महापापों से बचाकर एक सुदृढ़ समाज एवं सभ्य सुसंस्कृत देश की परिकल्पना कर सकें।

– डॉ. संजीवकुमार गोधा

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ।
तुभ्यं नमः क्षितितलामल भूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय।।
तुभ्यं नमो जिन! भवोदधिशोषणाय।।

हे जिनेन्द्र ! आप तीन लोक के प्राणियों की पीड़ा हरने वाले हैं, संसार के आभूषण हैं, तीन जगत के परमेश्वर हैं तथा संसार समुद्र का शोषण करने वाले हैं, अतः आपको मेरा बारम्बार नमस्कार है।

लोक का सामान्य स्वरूप

तीन भुवन में सार वीतराग-विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहूँ त्रियोग सम्हारिकै।।

जैन समाज में बहुत प्रसिद्ध ये पंक्तियाँ पण्डित दौलतरामजी की कालजयी कृति छहढाला की हैं। इन पंक्तियों में तीन लोक में एकमात्र वीतराग-विज्ञान स्वरूप आत्मा को ही सारभूत, प्रयोजनभूत कहा गया है। जिस सम्पूर्ण लोक में अपने आत्मा को सबसे महिमावंत बताया गया है। उस लोक की विशालता को जाने बिना सही अर्थों में आत्मा की महिमा नहीं आ सकती।

लोक के विस्तार को समझकर ही लोक में आत्मा के सर्वश्रेष्ठ होने की महिमा आ सकती है। उदाहरण के तौर पर यदि यह कहा जाये कि हमारा बालक पूरे विद्यालय में श्रेष्ठ है। इस श्रेष्ठता का आकलन विद्यालय की लघुता और विशालता के आधार पर ही संभव है। हो सकता है, विद्यालय में 5-10 ही बालक हों और यह भी हो सकता है कि दो-तीन हजार बालकों में श्रेष्ठ कहा जा रहा हो। इसीप्रकार 3 लोक में श्रेष्ठ आत्मा की यथार्थ महिमा समझने के लिए तीन लोक की व्यापकता एवं विशालता का ज्ञान आवश्यक है।

लोक के सन्दर्भ में अनेक प्रकार की जिज्ञासायें लोगों के मन में रहती हैं, यथा- यह लोक कितना बड़ा है, इसे किसने बनाया है? यह स्वसंचालित है या कोई ईश्वर इस लोक का नियंता है? इसीप्रकार लोक/दुनिया/सृष्टि की उत्पत्ति-विनाश संबंधी प्रश्न भी भारतीय दार्शनिकों में प्राचीन काल से ही चर्चा के विषय रहे हैं। यद्यपि अनेक भारतीय दार्शनिकों ने अपने चिन्तन से इन विषयों पर कलम चलाई है तथापि लोक के संदर्भ में जैन मनीषियों का अपना एक विशिष्ट चिंतन रहा है। अत: हम यहाँ जैन शास्त्रों को आधार बनाकर ही लोक की रचना एवं इसके स्वरूप के बारे में वर्णन करेंगे।

यह लोक शब्द अत्यन्त प्रचलित शब्द है। लोक-कथा, लोक-व्यवहार, लोक-गीत, लोक-सभा, लोक-तंत्र, लोक-गाथा, लोक-नृत्य, लोक-प्रसिद्ध, लोक-प्रिय, लोकमत, लोकपाल, लोक-विरुद्ध और लोक-नीति आदि अनेक रूपों में जनसामान्य भी लोक शब्द का प्रयोग करते रहते हैं।

जनसामान्य इस 'लोक' शब्द से अत्यधिक परिचित होने पर भी इसकी विशालता, व्यापकता और स्वरूप से बिलकुल अपरिचित है। अत: यहाँ इस संदर्भ में विशेष जिज्ञासा रखने वाले आत्मार्थियों को लोक के बारे में आवश्यक सारगर्भित जानकारी प्राप्त होगी।

जैन मनीषियों ने लोक का आकार, उसकी स्थिति, संख्या तथा उसमें स्थित स्वर्ग-नरक, द्वीप-समुद्र आदि के संदर्भ में बहुत विशद विवेचन किया है। यहाँ हम जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में लोक के स्वरूप का अवलोकन कर रहे हैं।

लोक शब्द का अर्थ/लक्षण –

लोक शब्द का अर्थ ऐसे स्थान विशेष से होता है, जहाँ प्राणी रहते हैं। शब्दकोश के अनुसार **'लोक्यन्तेऽसौ लोकः'** अर्थात् जो कुछ दिखाई देता है, वह दुनिया, संसार, विश्व ही लोक है।[1] इसे सृष्टि, ब्रह्माण्ड, जगत्, जग, जगती, पृथ्वी, महीतल, भुव, भुवन, भूतल, भूलोक, संसृति, दुनिया, विश्व, संसार आदि अनेक नामान्तरों से जाना जाता है।

जैनाचार्यों ने लोक के स्वरूप के संदर्भ में अलौकिक चिंतन प्रस्तुत करते हुये बहुत विशद विवेचन किया है।

विविध ग्रन्थों में लोक का लक्षण/स्वरूप एवं परिभाषायें निम्नानुसार उपलब्ध होती हैं –

(1) जे लोक्कई से लोए।[2]

अर्थात् जिसका लोकन या प्रलोकन किया जाये, वह लोक है।

(2) धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पोग्गल जंतवो।
एस लोगु त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं।।[3]

अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, इन छह द्रव्यों वाला लोक है – ऐसा केवलज्ञानी जिनवर ने कहा है।

---

1. वामन आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश, 'लोक' शब्द, पृष्ठ-883
2. भगवतीसूत्र, 5/9/160
3. उत्तराध्ययनसूत्र, 28/7

(3) जीवादिपयट्ठाणं समवाओ सो णिरूच्चए लोगो।[1]

अर्थात् जीवादि पदार्थों के समवाय को लोक कहते हैं।

(4) दंसंति जत्थ अत्था, जीवादीया स भण्णदे लोओ।[2]

अर्थात् जहाँ जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं, वह लोक कहलाता है।

(5) लोयदि आलोयदि पल्लोयदि सल्लोयदित्ति एगत्थो।
जह्मा जिणेहिं कसिणं तेणेसो वुच्चदे लोओ।।[3]

अर्थात् लोकन, आलोकन, प्रलोकन, संलोकन - ये सब एकार्थवाची हैं। जिनेन्द्र भगवान के द्वारा यह सब देखा जाता है, इसलिये यह लोक है।

(6) धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोक इति।[4]

अर्थात् धर्म, अधर्म आदि द्रव्य जहाँ देखे जाते हैं, वह लोक है।

(7) लोक्यन्ते उपलभ्यन्ते यस्मिन् जीवादय: पदार्था: स लोक:।[5]

अर्थात् जहाँ जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं, पाये जाते हैं, वह लोक है।

(8) लोकतीति वा लोक:।[6]

अर्थात् जो दिखाई देता है, वह लोक है।

(9) लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक:।[7]

अर्थात् जहाँ जीवादि पदार्थ दिखाई देते हैं, वह लोक है।

(10) धम्माऽधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो।।[8]

अर्थात् धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव - ये पाँच द्रव्य जितने आकाश में रहते हैं, वह लोकाकाश है। उस लोकाकाश से बाहर अलोकाकाश है।

---

1. वारसाणुवेक्खा, गाथा-38
2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-121
3. मूलाचार, गाथा-542
4. सर्वार्थसिद्धि, 5/12/549
5. धवला पु.-13/288, 347
6. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 5/12/455
7. पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, गाथा-3 टीका/पृष्ठ-76
8. द्रव्यसंग्रह, गाथा-20

(11) षड्द्रव्यात्मको लोकः।[1]

अर्थात् यह लोक षट् द्रव्यात्मक है।

इसप्रकार लगभग सभी मनीषियों ने शब्दान्तर से छह द्रव्यों के समूह को ही 'लोक' शब्द से संबोधित किया है। वे छह द्रव्य निम्न हैं –

1.	**जीवास्तिकाय**	:	ज्ञानवान पदार्थ (Soul)
2.	**पुद्गलास्तिकाय**	:	मूर्त जड़ पदार्थ (Matter)
3.	**धर्मास्तिकाय**	:	गति में सहायक द्रव्य
4.	**अधर्मास्तिकाय**	:	स्थिति में सहायक द्रव्य
5.	**आकाशास्तिकाय**	:	अवगाहना (सभी द्रव्यों को ठहरने के लिये स्थान देने में सहायक) देने में सहायक
6.	**काल**	:	परिणमन/परिवर्तन में सहयोगी

इन छह जाति के द्रव्यों को छोड़कर विश्व में और कुछ भी नहीं है।[2] इनमें से काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों की अस्तिकाय संज्ञा है।[3] ये षट् द्रव्य दो भागों में विभक्त हैं – मूर्त और अमूर्त। दिखाई देनेवाले प्रत्यक्षभूत मूर्त पदार्थ (पुद्गल) के आधार पर 'लोकन' माने 'देखना' से लोक शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। इसप्रकार यह कहा जा सकता है कि जहाँ विविध पदार्थ दिखते हैं, जहाँ उनकी सत्ता/मौजूदगी/अस्तित्व है – ऐसा स्थान ही लोक है।

लोक/विश्व की उत्पत्ति/विनाश संबंधी अवधारणाएँ –

विविध भारतीय दर्शनों में इस विश्व की उत्पत्ति एवं विनाश को लेकर हजारों वर्षों से ऊहापोह होती रही है। इसकी उत्पत्ति, विकास और विनाश को लेकर अनेक प्रकार के अनुमान लगाये जाते रहे हैं। कुछ लोग कहते हैं कि ब्रह्मा से इसकी उत्पत्ति हुई, इसीलिये इसका नाम ब्रह्माण्ड है। सांख्य दर्शन में जगत् की कल्पना प्रकृति से उत्पन्न 24 तत्त्वों से की गई है। वैज्ञानिकों की अपनी अलग मान्यता है।

---

1. श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, 1/8
2. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा-3
3. (1) तत्त्वार्थसूत्र, 5/1 (2) पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा-4

इस दुनिया की उत्पत्ति को लेकर दो कल्पनायें वैज्ञानिक रूप से कुछ खास मानी जाती हैं। पहली 'स्टैडी स्टेट थ्योरी' और दूसरी 'बिग बैंग थ्योरी'।[1]

पहली वैज्ञानिक कल्पना – 'स्टैडी स्टेट थ्योरी'। इसके अनुसार यह विश्व जैसा आज है, पहले भी वैसा ही था और भविष्य में भी वैसा ही रहेगा। इसका न आदि है और न ही अंत है। अनादि-अनंत शाश्वत मान्यता ही इस परिकल्पना का मूल आधार है। समय के अनुसार इसमें परिवर्तन होते रहते हैं।

दूसरी वैज्ञानिक कल्पना – 'बिग बैंग थ्योरी'। बिग बैंग का अर्थ है जोरदार धमाका। यह वैज्ञानिक सिद्धान्त इस प्रश्न का जवाब देने की कोशिश करता है कि यह विश्व कैसे बना? इसके अनुसार अरबों वर्ष पहले समस्त भौतिक तत्त्व और ऊर्जा एक बिन्दु में सिमटी हुई थी। इससे पहले क्या था, यह कोई नहीं जानता। फिर इस बिन्दु ने धीरे-धीरे फैलना शुरू किया और फूटकर उसके कण अंतरिक्ष में फैल गये। वैज्ञानिकों का कहना है कि यह 'बिग बैंग' कोई बम विस्फोट जैसा नहीं था, इससे उत्पन्न ऊर्जा और भौतिक तत्त्व एक-दूसरे से दूर भागने लगे। अत्यधिक घनत्व होने से विस्फोट के कारण ब्रह्माण्ड तथा अन्य ग्रहों, उपग्रहों, आकाश गंगाओं आदि की उत्पत्ति हुई होगी।

इसप्रकार वह बिन्दुरूप आग का गोला कालान्तर में ठण्डा होकर पृथ्वी के रूप में विकसित हुआ। फिर इस पर धीरे-धीरे कालक्रम से बढ़ते हुये अनेक जातियों-प्रजातियों के रूप में जीवों की उत्पत्ति होती गई। सबसे अन्त में मनुष्य जाति विकसित हुई।

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति संबंधी इस बिग बैंग थ्योरी को समझने के लिये सितम्बर 2008 में कुछ प्रयोग किये गये, उनमें कुछ खामियाँ रह गई थीं फिर कुछ समय बाद 30 मार्च 2010 को **जिनेवा** में 'बिग बैंग महाप्रयोग' किया गया। इसके लिये स्विट्जरलैंड और फ्रांस की सीमा पर जमीन के नीचे अरबों डालर खर्च कर पिछले 20 वर्षों में दुनिया की सबसे बड़ी प्रयोगशाला **'यूरोपियन ऑर्गनाइजेशन फॉर न्यूक्लियर रिसर्च'** (सीईआरएन) की लैब स्थापित की गई।

विशाल हेड्रन कोलाइडर (सुरंग की तरह) में अणुओं को लगभग प्रकाश की गति से टकराया गया। इस प्रयोग के लिये 27 किलोमीटर लंबी गोलाकार सुरंगों में दो विपरीत

1. उड़न तश्तरी का रहस्य - अर्चना गोस्वामी, अमित पुरोहित, पृष्ठ-11

दिशाओं से प्रोटोनों को भेजा गया। इनकी गति लगभग प्रकाश की गति के बराबर थी। वैज्ञानिकों के अनुसार एक सैकण्ड में प्रोटोन ने ग्यारह हजार से भी अधिक परिक्रमा पूरी कीं। उनके अनुमान से प्रोटोनों के आपस में टकराने की घटनायें 60 करोड़ से ज्यादा बार हुईं। इस दौरान वैज्ञानिकों द्वारा प्रति सैकण्ड सौ मेगाबाइट से भी ज्यादा आंकड़े एकत्र किये गये।

27 किलोमीटर लंबी गोलाकार सुरंग में प्रति सैकण्ड 11 हजार चक्कर लगा लेनेवाले प्रोटोनों का आपस में टकराना उतना ही मुश्किल कार्य था, जितना कि मानो अटलांटिक महासागर के दो तटों से इसतरह सूइयां दागी जायें कि वे बीच रास्ते में आपस में टकरा जायें। वैज्ञानिकों का मानना है कि इस दु:साध्य कार्य हेतु हो रहे महाप्रयोगों में उनको बहुत कुछ सफलता मिली।

113 देशों के 10 हजार वैज्ञानिकों की इस संदर्भ में की जा रही मेहनत का नतीजा **4 जुलाई, 2012** को दुनिया के सामने आया। जिनेवा (स्विट्जरलैंड) में अनेक वर्षों से चल रहे इस परीक्षण के परिणामस्वरूप इस मिशन से जुड़े वैज्ञानिकों ने यह दावा किया कि 'वह कण खोज लिया गया है, जिससे ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है।' 'हिग्स बोसॉन' जैसे इस कण को वैज्ञानिकों ने **'गॉड पार्टिकल'** का नाम दिया और इससे भविष्य में ब्रह्माण्ड संबंधी सैकड़ों गुत्थियों को सुलझाने का दावा किया। अब इससे ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति आदि संबंधी कितने रहस्य खुलेंगे, यह तो भविष्य ही बतायेगा।[1]

जैन दर्शन दुनिया की उत्पत्ति संबंधी उक्त किसी भी कल्पना को स्वीकार नहीं करता। जैन दर्शन में प्ररूपित लोक अकृत्रिम है यहाँ प्ररूपित विश्व व्यवस्था को अनेक वैज्ञानिक प्रथम 'स्टैडी स्टेट थ्योरी' के अंतर्गत रखते हैं। उनके अनुसार भी विश्व की उत्पत्ति नहीं हुई तथा पूरी तरह विनाश भी नहीं होगा।

इस दुनिया के विनाश के संबंध में भी सैकड़ों बार भविष्यवाणियाँ हो चुकी हैं, किन्तु वे सब की सब असत्य निकलीं।[2] वस्तुत: इस दुनिया को किसी ने बनाया नहीं है तथा इसे मिटाया भी नहीं जा सकता है। यही जैन मान्यता है। इसी के आधार पर आगामी समस्त विवेचन किया जा रहा है।

---

1. परिशिष्ट में समाचारपत्रों की नजर से देखें।
2. दिनांक 21 मई 2011, जयपुर से प्रकाशित **दैनिक भास्कर**, मुखपृष्ठ 'वैज्ञानिकों ने दिये तर्क, कहा– शान से चलती रहेगी जिंदगी, कोरी अफवाहें हैं दुनिया खत्म होने की बातें' 'कुछ नहीं होगा, सलामत रहेगी दुनिया' शीर्षक से पूर्व में 200 से अधिक बार दुनिया खत्म होने की झूठी अफवाहों को बड़े ही शोधपरक ढंग से उजागर किया गया। ज्ञातव्य है कि 21 मई, 2011 को 'Judgment day' कहकर दुनिया खत्म होने की बात को अनेक देशों में प्रचारित किया गया।

लोक का स्वरूप : अकृत्रिम – जिसे किसी ने न बनाया हो, जो कभी बना ही न हो, जिसका प्रारम्भ न हो, जो सदा से ही हो, उसे अकृत्रिम कहते हैं। जैनदर्शन के अनुसार यह लोक अकृत्रिम है, इसे बनानेवाला कोई ईश्वर नहीं है तथा इसे मिटाया भी नहीं जा सकता है, अत: इसे अनादि-निधन कहा गया है। आचार्य यतिवृषभ लिखते हैं –

आदि-णिहणेण हीणो, पयडिसरूवेण एस संजादो।
जीवाजीवसमिद्धो, सव्वण्हावलोइओ लोओ।।[1]

सर्वज्ञ भगवान द्वारा देखा गया यह लोक आदि और अन्त रहित अर्थात् अनादि-अनन्त है। यह स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ है और जीव एवं अजीव द्रव्यों से व्याप्त है। इसी बात को आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती निम्न शब्दों में कहते हैं-

लोगो अकिट्टिमो खलु, अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो।
जीवाजीवेहिं फुडो, सव्वागासावयवो णिच्चो।।[2]

वस्तुत: यह लोक अकृत्रिम है, अनादिनिधन है, स्वभाव से ही निर्मित है, जीव व अजीव द्रव्यों से व्याप्त है, सम्पूर्ण आकाश का ही एक भाग है तथा नित्य है।

करकंडचरिउ में लोकानुप्रेक्षा का वर्णन करते हुए मुनि कनकामर कहते हैं- जैसे गगनांगन में रवि रहता है, उसी प्रकार लोक को कोई धारण करने वाला नहीं है, जैसे आकाश क्रिया-विहीन है, वैसे ही लोक अकृत्रिम है।[3]

आचार्य जिनसेनस्वामी ने अनेक तर्क देकर सृष्टि कर्त्तावाद का निराकरण करते हुये इस लोक को अकृत्रिम सिद्ध किया है। वे कहते हैं कि न इसे कोई बना सकता है न ही कोई इसका संहार कर सकता है, यह हमेशा अपनी स्वाभाविक स्थिति में विद्यमान रहता है।[4] यह किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है तथा किसी हरिहरादि के द्वारा धारण (रक्षा) किया हुआ भी नहीं है।[5]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 1/133
2. त्रिलोकसार, गाथा-4
3. 'गयणंगणे रवि अच्छेइ जेव एह भुवणु ण केण वि धरिउ तेव...।' - करकण्ड चरिउ, संधि 9/15/पृ.131
4. आदिपुराण, 4/16-40
5. '...केण वि णेय कओ, ण य धरिओ हरिहरादीहिं।'- का.अनु./115 (उत्तरार्द्ध)

आचार्य ब्रह्मदेवसूरी इन्हीं बातों को पुष्ट करते हुये लिखते हैं - **'स चानादिनिधनः, केनापि पुरुषविशेषेण न कृतो, न हतो न धृतो न च रक्षितः'**[1] अर्थात् यह लोक अनादि-निधन है, कोई पुरुष विशेष इसका कर्त्ता, हर्त्ता, धर्त्ता व रक्षक नहीं है। **आचार्य शुभचन्द्र**[2] इसे उत्पत्ति व प्रलय से रहित अनादि सिद्ध बताते हुये कहते हैं कि यह किसी की रचना नहीं है।

ईश्वर कर्तृत्ववादी अन्य दर्शनों में भी कहीं-कहीं लोक के अकर्तृत्व की बात मिल जाती है। **श्रीमद्भगवद्गीता** में भी लिखा है - **'न कर्तृत्वं न कर्माणि, न लोकस्य सृजति प्रभु।'**[3] अर्थात् न परमात्मा ने इस लोक की रचना की है और न वह इसका कर्त्ता-धर्त्ता है।

पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने सृष्टि के ईश्वर कर्तृत्व का निषेध एवं लोक के अनादि-निधनपने की पुष्टि बहुत ही तार्किक शैली में की है[4], जो उनके द्वारा लिखित ग्रन्थ मोक्षमार्गप्रकाशक के पाँचवें अध्याय से मूलत: पठनीय है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटीन के विश्व संबंधी बेलन सिद्धान्त (Cylinder theory of Universe) में 'यह विश्व अनादिकाल से ऐसा ही चला आ रहा है और ऐसा ही चलता रहेगा', इसी प्रकार की मान्यता व्यक्त होती है।[5]

जैनदर्शन के अनुसार कोई भी वस्तु सर्वथा नई उत्पन्न नहीं होती तथा किसी भी वस्तु का सर्वथा नाश भी नहीं होता। मात्र उसकी अवस्थायें बदलती रहती हैं। वस्तु अपने मूलस्वरूप से ध्रुव है। अवस्था या रूप बदलने पर नवीन अवस्था की दृष्टि से उसे उत्पन्न तथा पूर्व अवस्था (जो अब नहीं रही की दृष्टि से) से उसे नष्ट होना बताया जाता है। इस तरह प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय और ध्रुवता से युक्त है। पदार्थ का लक्षण सत् है और वह सत् उत्पाद-व्यय और ध्रुवता से सहित होता है। उनके मूल शब्द इसप्रकार हैं - **सत्द्रव्यलक्षणम्, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**[6]**।**

---

1. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-20 टीका, पृ.46
2. ज्ञानार्णव, सर्ग 2/लोक भावना पद्य 7
3. श्रीमद्भगवद्गीता, 5/14
4. मोक्षमार्ग प्रकाशक - पण्डित टोडरमलजी, 5/99-111
5. विश्व विज्ञान रहस्य, प्रारंभिक पृष्ठ-18
6. तत्त्वार्थसूत्र, 5/29-30

आधुनिक विज्ञान से नित्यता की सिद्धि – जैन दर्शन मान्य वस्तु के इस तथ्य को आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार करने लगा है। वैज्ञानिकों का मानना है कि शक्ति या मात्रा कभी नष्ट नहीं होती, वह अन्य रूप में परिवर्तित हो जाती है। विज्ञान में कहा है –

"Matter and energy neither be created nor be destroyed. Each can be completely changed into another form or into one another.

विज्ञान का मूलभूत सिद्धान्त है कि किसी भी नई वस्तु की सृष्टि नहीं होती है एवं कोई वस्तु सम्पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होती। केवल उसके आकार और पर्याय में परिवर्तन होता है।"[1]

रसायन विज्ञान से यह बात आसानी से स्पष्ट हो जाती है। जिसे हम कोयले का जलना कहते हैं, उसे रसायन विज्ञान में निम्न रासायनिक क्रिया द्वारा व्यक्त किया जाता है –

$$C+O_2 = CO_2 + \text{ऊर्जा}$$

(कार्बन) + (ऑक्सीजन) = (कार्बनडाइऑक्साइड) + ऊर्जा

भौतिक विज्ञान द्वारा इस क्रिया का विश्लेषण करें तो ज्ञात होता है कि कार्बन अणु (C) में 6 प्रोटॉन, 6 न्यूट्रॉन एवं 6 इलेक्ट्रॉन थे तथा ऑक्सीजन के अणु (O_2) में 16 प्रोटॉन, 16 न्यूट्रॉन एवं 16 इलेक्ट्रॉन थे। कार्बन और ऑक्सीजन मिलकर बनी कार्बनडाइ ऑक्साइड में 22 प्रोटॉन, 22 न्यूट्रॉन एवं 22 इलेक्ट्रॉन हैं अर्थात् जलने के बाद भी प्रोटॉन, न्यूट्रॉन एवं इलेक्ट्रॉन की संख्या उतनी ही है, जितनी पहले थी तब फिर क्या नष्ट हुआ, क्या उत्पन्न हुआ?[2] वास्तव में कार्बन और ऑक्सीजन रूप अवस्था नष्ट होकर कार्बनडाई ऑक्साइड रूप अवस्था उत्पन्न हुई और उनका द्रव्य (प्रोटॉन इत्यादि) ज्यों का त्यों रहा।

इसप्रकार जैन दर्शन सम्मत वस्तु की नित्यता को आधुनिक विज्ञान भी स्वीकारने व सिद्ध करने लगा है।

कोई भी वस्तु नवीन उत्पन्न नहीं होती, प्रत्येक वस्तु अपने मूल स्वरूप की दृष्टि से देखने पर अनादि से है और उसके मूल स्वरूप को कभी नष्ट भी नहीं किया जा सकता, अत: वह अनंत (काल अपेक्षा) है। जब कोई द्रव्य नया उत्पन्न नहीं हो सकता, सर्वथा

---

1. ब्रह्माण्ड के रहस्य, पृष्ठ-24
2. वहीं, पृष्ठ-28

नष्ट नहीं हो सकता तब यह सहज ही सिद्ध है कि द्रव्यों का समुदाय लोक भी न किसी से उत्पन्न हुआ है, न कभी इसका नाश होगा। यह लोक स्व-निर्मित, अकृत्रिम, अनादि-अनंत है।

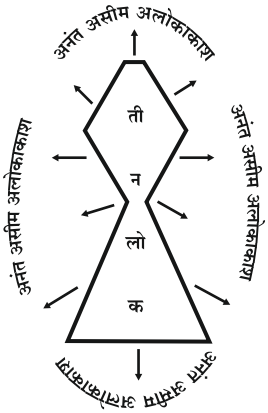

लोक का स्थान या स्थिति –

जैन दर्शन प्ररूपित यह लोक अनन्तानन्त अलोकाकाश के बहुमध्य भाग में स्थित है, अलोकाकाश में सिर्फ आकाश है और जहाँ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल - ये पाँच द्रव्य व्याप्त हैं, वह लोक अथवा लोकाकाश के नाम से जाना जाता है।

आचार्य यतिवृषभ[1] लिखते हैं कि –

जितने आकाश (क्षेत्र) में धर्म और अधर्म द्रव्य के निमित्त से होने वाली जीव और पुद्गलों की गति एवं स्थिति हो, उसे लोकाकाश समझना चाहिये। छह द्रव्यों से सहित यह लोकाकाश का स्थान निश्चय ही स्वयं प्रधान है, इसकी सब दिशाओं में नियम से अनंत शुद्ध अलोकाकाश[2] स्थित है। आचार्य कार्तिकेयस्वामी लोक का स्थान बताते हुये कहते हैं –

आकाश द्रव्य का क्षेत्र अनन्त है, उसके बहुमध्य भाग में लोक स्थित है।[3] दूसरे शब्दों में कहें तो आकाश के प्रदेशों की संख्या अनन्त[4] हैं, उसके मध्य में असंख्यात प्रदेशी[5] लोकाकाश है।

लोक तो आकाश (अलोकाकाश) के बीचों-बीच है, पर आकाश कहाँ है? वह भी तो किसी के आधार से होगा? ऐसी जिज्ञासा वालों को समझाते हुये कहा गया है कि आकाश किसी के आधार से नहीं है, क्योंकि आकाश से अधिक बड़ा कोई दूसरा द्रव्य

---

1. **धम्माधम्मणिबद्धा गदिरगदी जीव पोग्गलाणं च।**
   जेत्तिय मेत्ताआसे लोयाआसो स णादव्वो।।
   लोयायासट्ठाणं सयं पहाणं स दव्व छक्कं हु।
   सव्वमलोयायासं तं सव्वासं हवे णियमा।। –तिलोयपण्णत्ती, 1/134-135
2. 'तस्माद्बहिर्भूतमनन्त शुद्धाकाशमलोकः' - पंचास्तिकाय, ता.वृ., 3/पृ.23
3. **'सव्वायासमणंतं तस्स य बहुमज्झसंठिओ लोओ।'** –कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-115 (पूर्वार्द्ध)
4. 'आकाशस्यानंताः' - तत्त्वार्थसूत्र, 5/9
5. (1) त्रिलोकसार, गाथा-3 (2) क्षत्रचूड़ामणि, लम्ब 11/71

नहीं है; अत: उसके लिये किसी दूसरे आधार की बात ही नहीं बनती है। वह स्वयं के आधार से है। सभी जगह है, अनन्त है और स्वप्रतिष्ठ है। इसतरह स्वीकारने पर अनवस्था दूषण भी नहीं आता।[1]

उक्त सम्पूर्ण विवेचन के निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि अनन्त-असीम आकाश के मध्य सीमित क्षेत्र में जहाँ अन्य द्रव्य पाये जाते हैं, वह लोक है।

लोक के प्रकार –

जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। यहाँ विविध अपेक्षाओं से देखने पर लोक के विविध प्रकार बताये गये हैं। मूलाचार में लिखा है –

एगविहो खलु लोओ दुविहो तिविहो तहा बहुविहो वा।
दव्वेहिं पज्जएहिं य चिंतिज्जो लोय सब्भावं।।[2]

यह लोक सामान्य की अपेक्षा **एक प्रकार** का है। लोक्यन्ते उपलभ्यन्ते' अर्थात् जिसमें पदार्थ उपलब्ध होते हैं, वह सामान्य से एक लोक है। अधोलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से लोक के **दो प्रकार** हैं। अधोलोक, ऊर्ध्वलोक और मध्यलोक के भेद से लोक के **तीन भेद** होते हैं अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के भेद से लोक के तीन भेद हैं। चतुर्गति अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा लोक के **चार भेद** हैं। पंचास्तिकाय अथवा पंच परावर्तन की अपेक्षा लोक को **पाँच प्रकार** का कहा गया है। सम्पूर्ण लोक षट् द्रव्यात्मक है, अत: वह **छह प्रकार** का है। द्रव्य और पर्यायों की अपेक्षा से लोक **बहु प्रकार** के हैं।

लोक के नौ भेद बताते हुये आचार्य वट्टकेर लिखते हैं-

णामट्ठवणं दव्वं खेत्तं चिण्हं कसायलोओ य।
भवलोगो भावलोगो पज्जयलोगो य णादव्वो।।[3]

लोक के निक्षेप द्वारा 9 भेद माने गये हैं - (1) नाम लोक (2) स्थापना लोक (3) द्रव्य लोक (4) क्षेत्र लोक (5) चिह्न लोक (6) कषाय लोक (7) भव लोक (8) भाव लोक (9) पर्याय लोक। इन सभी की संक्षिप्त व्याख्या भी वहाँ की गई है। उसकी चर्चा यहाँ अपेक्षित/विवक्षित नहीं है।

---

1. इसप्रकार का न्यायसंगत विवेचन तत्त्वार्थ राजवार्तिक एवं श्लोकवार्तिक में 5/12 में विस्तार से दिया गया है।
2. मूलाचार, गाथा-713
3. वहीं, गाथा-543

क्षेत्र की अपेक्षा से **तिलोयपण्णत्ती** आदि ग्रन्थों में लोक को तीन भागों में ही विभाजित किया गया है। सम्पूर्ण लोक अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से तीन प्रकार का है।[1] **धवला** में लोक के पाँच प्रकारों का उल्लेख मिलता है। अधोलोक, मनुष्यलोक, तिर्यक्लोक, ऊर्ध्वलोक और सामान्य लोक।[2]

रचनात्मक दृष्टि से लोक के तीन ही भेद हैं। ऊपर बताए गये लोक के विविध प्रकारों में से मनुष्य लोक को तिर्यक्लोक (मध्यलोक) में गर्भित कर लिया जाता है। इनके अतिरिक्त आगमों में सिद्ध लोक, ज्योतिष लोक, व्यंतर लोक, भावन लोक, त्रस लोक, स्थावर लोक आदि की चर्चायें भी मिलती हैं; किन्तु वे सभी ऊर्ध्व, मध्य, अधो– इन तीनों लोकों में गर्भित हो जाते हैं। इसप्रकार लोक की तीन संख्या निर्बाध सिद्ध है।

तीन लोक का विभाजन –

तीन लोक के विभाजन का आधार मेरु पर्वत है। इसकी मेरु संज्ञा तीन लोक का मानदण्ड होने से ही है।[3] सुमेरु के शिखर के ऊपर से ऊर्ध्वलोक, मेरु के नीचे अधोलोक तथा मेरु की ऊँचाई प्रमाण मध्यलोक है। इनकी पृथक्–पृथक् ऊँचाई बताते हुये कार्तिकेयस्वामी मूल गाथा में लिखते हैं –

मेरुस्स हिट्ठभाये, सत्त वि रज्जू हवेइ अहलोओ।
उड्ढम्हि उड्ढलोओ, मेरुसमो मज्झिमो लोओ।।

अर्थात् मेरु के नीचे के भाग में सात राजू अधोलोक है, मेरु से ऊपर सात राजू ऊर्ध्वलोक है तथा मेरु की ऊँचाई के समान मध्यलोक है।[4] इस संदर्भ में आचार्य यतिवृषभ कहते हैं– 'अधोलोक की ऊँचाई 7 राजू, मध्यलोक की ऊँचाई 1 लाख 40 योजन और ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई 7 राजू में 1 लाख 40 योजन कम है।'[5]

सुमेरु पर्वत की ऊँचाई एक लाख चालीस योजन है, मध्यलोक की ऊँचाई सुमेरु के बराबर है, अत: मध्यलोक की ऊँचाई भी 1,00,040 योजन ही है।

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 1/135 (2) लोक विभाग, 1/3
   (3) 'तिविहो हवेई लोगो अहमज्झिमउड्ढभेएण' – वारसाणुवेक्खा, लोकानुप्रेक्षा/38 (उत्तरार्द्ध)
2. धवला, पुस्तक–4, पृ. 31
3. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10/181/6
4. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा–120
5. तिलोयपण्णत्ती, 1/151

जैनदर्शन इन सब विषयों के सन्दर्भ में बहुत सूक्ष्मता से वर्णन करता है। मेरु पर्वत के शिखर से **एक बाल** की मोटाई बराबर अन्तर से ऊपर की ओर ऊर्ध्वलोक प्रारंभ होता है तथा मेरु पर्वत की नींव के नीचे से अधोलोक प्रारंभ होता है।

लोक का केन्द्र (आठ प्रदेश) – मेरु पर्वत की जड़ में सम्पूर्ण लोक के केन्द्र रूप आठ रुचक प्रदेश हैं। लोकालोक के मध्य में चौकोर संस्थान रूप से अवस्थित वे आठ प्रदेश सुमेरु पर्वत के नीचे चित्रा पृथ्वी एवं वज्रा पृथ्वी की सूक्ष्म संधि पर हैं। लोकपूरण केवली समुद्घात के समय जब अरिहंत भगवान के आत्मा के प्रदेश सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होते हैं, तब उनकी आत्मा के मध्य के आठ रुचक प्रदेश इन्हीं आठ प्रदेशों पर अवस्थित होते हैं। लोक के केन्द्र स्वरूप इन आठ प्रदेशों में से ऊपर के चार प्रदेश चित्रा पृथ्वी के तल भाग में एवं नीचे के चार प्रदेश वज्रा पृथ्वी के ऊपरी हिस्से पर हैं। चित्रा पृथ्वी मध्यलोक में तथा वज्रा पृथ्वी अधोलोक में है। इससे सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण लोकालोक के केन्द्र स्वरूप 8 प्रदेशों में से 4 प्रदेश मध्यलोक में तथा 4 प्रदेश अधोलोक में हैं।

क्षेत्र (जगह) के सबसे छोटे हिस्से को प्रदेश कहते हैं। यह इतना छोटा होता है कि सूई के अग्र भाग जितने हिस्से पर भी असंख्यात प्रदेश होते हैं।

मध्यलोक एवं अधोलोक की विभाजन रेखा का इतना सूक्ष्म विवेचन केवलज्ञान की दिव्य अलौकिक सामर्थ्य के बिना संभव नहीं है। इससे हमें केवलज्ञान की अपूर्व सामर्थ्य का भान होता है, वह केवलज्ञान भी ज्ञान गुण की एक समय की पर्याय है; ऐसी पर्यायें जिसमें प्रति समय होती हैं– वह ज्ञान गुण तथा ज्ञान भी आत्मा का सिर्फ एक गुण है, इस जैसे अनंत गुण जिसमें रहते हैं– ऐसे अपने आत्मा की महिमा अपरम्पार है, वही प्रयोजनभूत है।

लोक का आकार –

इस सान्त–ससीम लोक का एक निश्चित आकार माना गया है। किसी व्यक्ति द्वारा अपने दोनों पैरों को फैलाकर, दोनों हाथ कमर के ऊपर रखकर खड़ा होने पर जो आकृति बनती है, वह लोकाकृति है।[1] क्षत्रचूड़ामणि में षट् द्रव्यमयी एवं वातवलयों से वेष्टित इस लोकाकृति के लिये 'पुरुषाकार'[2] शब्द का प्रयोग मिलता है। पं. भूधरदासजी ने बारह भावना में कहा है –

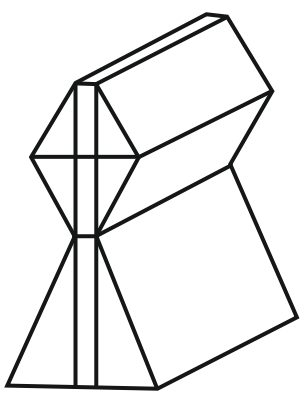

लोकाकृति

1. पाण्डव पुराण, 25/108 2. क्षत्रचूड़ामणि, 11/70-72

चौदह राजू उत्तंग नभ, लोक पुरुष संठान।[1]

अर्थात् लोक का संस्थान पुरुष के समान है, जिसकी ऊँचाई चौदह राजू कही है। **आदिपुराण**[2] में इस लोक को वैसाखी पर खड़े हुए तथा कमर पर हाथ रखे हुए पुरुष के रूप में कल्पित किया है।

भगवती सूत्र[3] में लोक के लिये **'सुप्रतिष्ठक'** आकार शब्द का प्रयोग मिलता है। इसका अर्थ बताते हुये कहा है कि लोक का आकार **त्रिशरावसम्पुटाकार** है अर्थात् तीन शिकोरों में से एक को उल्टा रखें, फिर दूसरे को उसके ऊपर सीधा एवं तीसरे को फिर उसके ऊपर उल्टा रखने से जो आकार बनेगा, वही त्रिशरावसम्पुटाकार लोक है।

तीन लोक के आकारों को भिन्न-भिन्न उदाहरण से स्पष्ट करते हुये यतिवृषभाचार्य लिखते हैं- अधोलोक का आकार स्वभाव से वेत्रासन के सदृश और मध्यलोक का आकार खड़े किये हुये आधे मृदंग के ऊर्ध्वभाग के समान तथा ऊर्ध्वलोक का आकार खड़े किये हुये मृदंग सदृश है।[4] आचार्य पद्मनंदी ने भी तीनों लोकों की आकृति बताने के लिये पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये हैं। वे कहते हैं कि - यह लोक नीचे, मध्य और ऊपर क्रम से वेत्रासन, झल्लरी व मृदंग के सदृश है।[5]

ध्यान रहे, मृदंग आदि का उदाहरण देने से लोक का आकार मृदंग आदि के समान गोलाई लिये हुये न मान लिया जाये। आचार्य वीरसेनस्वामी ने धवला पुस्तक-4 में आयत चतुष्कोण शब्द का प्रयोग किया है। जिसके अनुसार लोक रचना सभी ओर से आयत के समान चार कोनों से सहित है। ऐसा स्वीकार करने पर ही लोक का घनफल भी यथार्थ रीति से निकलता है।

यह लोक नीचे तल भाग में अधिक विस्तारवाला है, वहाँ से क्रमश: मध्यलोक तक इसका विस्तार घटता गया है तथा मध्यलोक के ऊपर धीरे-धीरे ब्रह्म स्वर्ग तक विस्तार बढ़ता गया है, फिर पुन: लोक के अंत में शिखर तक विस्तार घटता गया है।

---

1. बारह भावना, कविवर भूधरदास कृत
2. आदिपुराण, 4/42
3. भगवतीसूत्र, 7/3
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 1/137-138 (2) लोक विभाग, 1/6
5. (1) जंबूदीवपण्णत्ति संगहो, 11/106 (2) आदिपुराण, 4/41

लोक का विस्तार –

लोक के तीन आयाम (ऊँचाई, लम्बाई, चौड़ाई) में से प्रथम आयाम ऊँचाई 14 राजू प्रमाण है। दूसरा आयाम लम्बाई (गहराई) सर्वत्र 7 राजू है। तीसरा आयाम चौड़ाई सम्पूर्ण लोक में समान नहीं है। इसकी चौड़ाई बताते हुये कार्तिकेयस्वामी लिखते हैं –

सत्तेक्क पंच इक्का, मूले मज्झे तहेव बंभंते।
लोयन्ते रज्जूओ, पुव्वावरदो य वित्थारो।।[1]

अर्थात् लोक का पूर्व-पश्चिम दिशा में विस्तार मूल में 7 राजू, मध्य में 1 राजू, ऊपर ब्रह्मस्वर्ग के अन्त में 5 राजू और लोक के अन्त में 1 राजू है। इसीप्रकार की बात त्रिलोकसार एवं तिलोयपण्णत्ती में भी प्राप्त होती है, वहाँ कहा गया है-

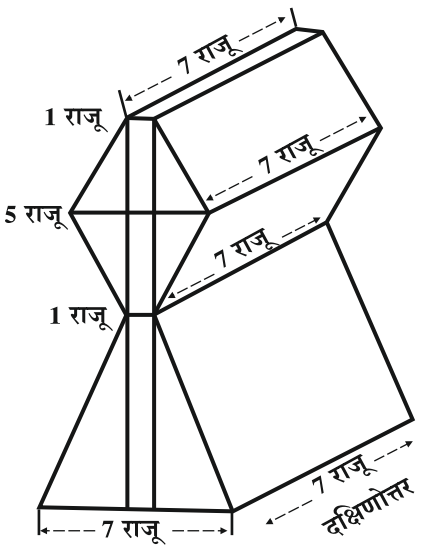

14 राजू उत्तंग इस लोक का आयाम उत्तर-दक्षिण जगतश्रेणी के बराबर अर्थात् 7 राजू है। पूरब-पश्चिम विस्तार अधोलोक में 7 राजू, फिर क्रमश: घटते-घटते मध्यलोक में 1 राजू फिर ऊर्ध्वलोक में ब्रह्मस्वर्ग तक बढ़ते-बढ़ते 5 राजू तथा फिर क्रमश: घटते हुये लोक के अन्त में 1 राजू है।[2]

राजू (रज्जु) का प्रमाण – राजू जैन दर्शन की क्षेत्र गणना संबंधी अलौकिक माप है। इसकी व्याख्या करते हुये तिलोयपण्णत्ती में कहा है –

जगसेढीए सत्तमभागो रज्जू पभासंते।[3]

सात राजू प्रमाण आकाश के प्रदेशों की पंक्ति जगतश्रेणी कहलाती है, इसके सातवें भाग प्रमाण दूरी को राजू कहते हैं।

जगतश्रेणी व राजू की गणना –

शास्त्रों में पल्य का प्रमाण **जघन्य असंख्यातासंख्यात** बताया गया है। ऐसे पल्य को पल्य से गुणा करें, फिर उसे पल्य से गुणा करें, फिर पल्य से गुणा करें ..... इसप्रकार पल्य के अर्द्धच्छेद बार गुणा करते रहें, तब जो मान आये, वह **सूच्यांगुल** है।

---

1. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-118
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 1/149 (2) त्रिलोकसार, गाथा-113 (3) जंबूदीवपण्णत्तिसंगहो, 11/107
3. तिलोयपण्णत्ती, 1/132

(किसी भी संख्या को 2 से जितनी बार विभाजित किया जा सके, वह उस संख्या का अर्द्धच्छेद कहलाता है।)

सूच्यांगुल के घन को घनांगुल कहते हैं अर्थात् सूच्यांगुल से सूच्यांगुल को गुणा तथा उसे पुनः **सूच्यांगुल** से गुणा करने पर जो संख्या आवे, वह **घनांगुल** होती है।

घनांगुल को घनांगुल से, फिर घनांगुल से, फिर घनांगुल से ..... इसप्रकार पल्य के अर्द्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग बार गुणा करने पर **जगतश्रेणी** आती है। शास्त्रों में इसकी नाप 7 राजू बताई गई है, इसके सातवें भाग के बराबर 1 राजू होता है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि एक राजू में असंख्यात योजन होते हैं।

क्षेत्र के नाप की गणनायें –

आगमों में प्रयुक्त राजू, योजन और इसीतरह की शब्दावली को जानने के लिए यहाँ क्षेत्र के मापकों को संक्षेप में बताया जा रहा है–

अनंतानंत पुद्गल परमाणु	=	1 उवसन्नासन्न
8 उवसन्नासन्न	=	1 सन्नासन्न
8 सन्नासन्न	=	1 त्रुटि रेणु
8 त्रुटि रेणु	=	1 त्रस रेणु
8 त्रस रेणु	=	1 रथ रेणु
8 रथ रेणु	=	1 उत्तम भोगभूमियां के बाल का अग्रभाग
8 उ. भो. भूमियां के बालाग्र	=	1 मध्यम भोगभूमियां के बाल का अग्रभाग
8 म. भो. भूमियां के बालाग्र	=	1 जघन्य भोगभूमियां के बाल का अग्रभाग
8 ज. भो. भूमियां के बालाग्र	=	1 कर्म भूमियां के बाल का अग्रभाग
8 कर्म भूमियां के बालाग्र	=	1 लींख
8 लींख	=	1 जूँ/सरसों
8 जूँ / सरसों	=	1 जौ का दाना
8 जौ के दाने	=	1 उत्सेध अंगुल

6 उत्सेध अंगुल	=	1 पाद
2 पाद	=	1 विलस्त
2 विलस्त	=	1 हाथ
2 हाथ	=	1 गज (ईषु)
2 गज (ईषु)/4 हाथ	=	1 धनुष
2000 धनुष	=	1 कोस
4 कोस	=	1 योजन (उत्सेध)
2000 कोस	=	1 योजन (प्रमाण)
असंख्यात प्रमाण योजन	=	1 राजू
7 राजू	=	जगत श्रेणी
7 राजू गुणा 7 राजू	=	जगत प्रतर
जगत श्रेणी का घन	=	जगत घन (लोक)

अंगुल के प्रकार –

शास्त्रों में अंगुल की नाप का उल्लेख तीन प्रकार से किया गया है। जिन्हें उत्सेध अंगुल, प्रमाण अंगुल और आत्मांगुल के नाम से जाना जाता है। अलग-अलग स्थानों पर माप के लिये अलग-अलग अंगुल का प्रयोग किया जाता है। शास्त्रों में कुछ वस्तुओं की नाप उत्सेध अंगुल से बताई है तो कुछ की प्रमाणांगुल से। इनका स्वरूप समझे बिना अनेक बार भ्रम की स्थिति बनी रहती है। अत: आगे बढ़ने से पहले इनका स्वरूप समझ लेना उपयुक्त होगा।

1. उत्सेधांगुल – 3/4 (पौन इंच) का एक अंगुल होता है। पौन इंच लंबी, एक प्रदेश चौड़ी व एक प्रदेश ही ऊँची आकाश के प्रदेशों की पंक्ति को एक व्यवहार अंगुल कहते हैं। इसे ही सूची (लंबाई) अंगुल तथा उत्सेधांगुल भी कहते हैं।

2. प्रमाणांगुल – 1 प्रमाण अंगुल में पाँच सौ व्यवहार अंगुल होते हैं।

1 प्रमाण अंगुल = 500 व्यवहार अंगुल

3. आत्मांगुल – आत्मांगुल भरत-ऐरावत क्षेत्रों में होने वाले मनुष्यों के भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। इसके द्वारा छोटी-छोटी वस्तुओं, जैसे- झारी, कलश, दर्पण, गाड़ी, सिंहासन, छत्र, मनुष्यों के निवास-स्थान व नगर और उद्यान आदि को नापा जाता है।

एक उत्सेध (सामान्य) योजन 4 कोस का होता है। जैन परम्परा में द्वीप समुद्र आदि को मापने वाला योजन सामान्य योजन से 500 गुना बड़ा[1] बताया है, इसे प्रमाण योजन कहते हैं। इस प्रकार एक योजन में 2000 कोस अर्थात् लगभग 4000 मील होते हैं।

लोक की ऊँचाई का वर्गीकरण – सम्पूर्ण लोक की ऊँचाई 14 राजू है। इसमें 7 राजू में अधोलोक एवं 7 राजू में मध्यलोक सहित ऊर्ध्वलोक है। तीन लोक की ऊँचाई का विशेष विभाजन निम्न प्रकार है –

अर्द्धमृदंगाकार **अधोलोक** में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा, महातमप्रभा नामक 7 पृथ्वियाँ एक-एक राजू के अन्तराल से एक के नीचे एक हैं, जो कि तीन वातवलय और आकाश के आधार पर स्थित हैं।[2] वस्तुत: इन पृथ्वियों की मोटाई का जितना प्रमाण है, उतना कम एक राजू वहाँ का अन्तराल समझना चाहिये। इन पृथ्वियों की मोटाई एवं विस्तार की चर्चा आगे अधोलोक संबंधी दूसरे अध्याय में की गई है।

आचार्य यतिवृषभ इसी बात को विस्तार से समझाते हुये लिखते हैं – मध्यलोक के अधोभाग से प्रारंभ होकर **पहला** राजू शर्कराप्रभा पृथ्वी के अधोभाग में समाप्त होता है, इसके आगे **दूसरा** राजू प्रारंभ होकर बालुकाप्रभा के अधोभाग में समाप्त होता है, **तीसरा** राजू पंकभाग के अधोभाग में समाप्त होता है, फिर वहीं से प्रारंभ होकर **चौथा** राजू धूमप्रभा के अधोभाग में और **पाँचवाँ** राजू तम:प्रभा के अधोभाग में समाप्त होता है। इसीप्रकार **छठवां** राजू महातम प्रभा के अन्त में तथा **सातवां** राजू लोक के तलभाग में समाप्त होता है।[3] इसप्रकार 7 राजू में अधोलोक विभक्त है।

मध्यलोक की ऊँचाई का प्रमाण 1 लाख 40 योजन है तथा इससे ऊपर **ऊर्ध्वलोक** में सौधर्म विमान के ध्वज दण्ड तक ऊँचाई 1 लाख 40 योजन कम **डेढ़** राजू है अर्थात् सुमेरु पर्वत की नींव से सौधर्म विमान के ध्वजदण्ड तक कुल ऊँचाई लगभग डेढ़ राजू है।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 1/108
2. (1) तत्त्वार्थसूत्र, 3/1 (2) तिलोयपण्णत्ती, 1/152
3. तिलोयपण्णत्ती, 1/154-157

इसके ऊपर **डेढ़** राजू सानतस्वर्ग के ऊपरी भाग तक, फिर **अर्द्ध** राजू ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के ऊपरी भाग में पूर्ण होता है। ब्रह्म स्वर्ग के ध्वज दण्ड से ऊपर पुन: **अर्द्ध** राजू कापिष्ठ स्वर्ग के ऊपर भाग में, **अर्द्ध** राजू महाशुक्र के ऊपरी भाग में तथा **अर्द्ध** राजू सहस्रार के ऊपरी भाग में समाप्त होता है, इसके अनन्तर **अर्द्ध** राजू आनत स्वर्ग के ऊपरी भाग में और **अर्द्ध** राजू आरणस्वर्ग के ऊपरी भाग में पूर्ण होता है।

अन्तिम **एक** राजू में नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमान हैं।[1] इसके ऊपर सिद्धशिला एवं सिद्धालय है। इसप्रकार ऊर्ध्वलोक भी सामान्यत: 7 राजू में विभक्त है। सूक्ष्मता से देखने पर इन 7 राजू में मध्यलोक की ऊँचाई जितना क्षेत्र भी शामिल है।

लोक का घनफल – अनंत आकाश के मध्य स्थित इस लोक का घनफल 343 घनराजू बताया गया है। जिसमें अधोलोक का घनफल 196 घनराजू[2] तथा मध्यलोक को शामिल करके ऊर्ध्वलोक का घनफल 147 घन राजू है।[3]

लोक का घनफल निकालने के लिये अनेक पद्धतियाँ शास्त्रों में बताई गईं हैं। यहाँ सम्पूर्ण लोक के घनफल को सरलता से निकालने हेतु औसत पद्धति काम में ली जा रही है। किसी भी वस्तु का घनफल निकालने के लिये उसकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई का गुणा किया जाता है। लोक की ऊँचाई 14 राजू है, लम्बाई सर्वत्र 7 राजू है तथा चौड़ाई सभी स्थानों पर अलग-अलग है। अत: लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई को गुणा करने के लिये हमें पहले चौड़ाई का औसत निकालना होगा।

चौड़ाई का प्रमाण अधोलोक में नीचे 7 राजू, फिर क्रमश: घटते हुये मध्यलोक में 1 राजू, फिर ऊपर ब्रह्म स्वर्ग तक बढ़ते हुये 5 राजू तथा लोक के शिखर पर पुन: 1 राजू है। इसप्रकार चार स्थलों पर भिन्न-भिन्न चौड़ाई का योग 7 + 1 + 5 + 1 = 14 राजू होता है। इसमें 4 का भाग देने पर चौड़ाई का औसत 3.5 राजू आता है। अब हम लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई को गुणा करके लोक का घनफल आसानी से निकाल सकते हैं।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 1/158-162
2. वहीं, 1/191
3. वहीं, 1/215

लोक की लम्बाई × चौड़ाई × ऊँचाई = लोक का घनफल

7 राजू × 3.5 राजू × 14 राजू = 343 घन राजू

इसप्रकार सम्पूर्ण लोक का क्षेत्र 343 घन राजू है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटीन ने ब्रह्माण्ड का आयतन 1037×10^{63} घन मील बतलाया है। इसको 343 घन राजू के साथ समीकरण करने पर एक राजू 15 हजार शंख मील के बराबर बैठता है।[1] जैन शास्त्रों में एक राजू को असंख्यात योजन का बताया है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जैन दर्शन सम्मत यह लोक कितना विशाल है।

इस 343 घन राजू प्रमाण क्षेत्र में एक प्रदेश भी ऐसा नहीं है, जहाँ इस जीव ने (हमने) अनंत बार जन्म-मरण न किया हो। जब प्रत्येक क्षेत्र में अनंत-अनंत बार जन्म-मरण किया है, तो अब दुनिया का कौनसा क्षेत्र देखना और दुनिया में कहाँ घूमना बाकी रह गया। नरक, स्वर्ग, भोगभूमियाँ, विदेह क्षेत्र - कोई स्थान शेष नहीं रहा - अब कहाँ जाने का विकल्प करें? यदि यह जीव क्षण मात्र के लिये भी इस वस्तुस्वरूप का विचार/चिन्तन करे तो दृष्टि तीन लोक से हटकर स्वभाव सन्मुख हुये बिना न रहे।

अनादि काल से यह जीव आत्मज्ञान एवं समताभाव के बिना जगत् में परिभ्रमण करता रहा है। जैसा कि कहा गया है -

चौदह राजू उतंग नभ, लोक पुरुष संठान।
तामें जीव अनादि तैं, भरमत है बिन ज्ञान।।[2]

तथा

किन्हूँ न कर्‌यो न धरै को, षट्द्रव्यमयी न हरै को।
सो लोकमाँहि बिन समता, दु:ख सहै जीव नितभ्रमता।।

उक्त दोनों ही छन्दों में यही बताया गया है कि यह जीव अनादि काल से लोक में भ्रमता हुआ दु:ख भोग रहा है। अन्तर मात्र इतना है कि एक में दुख का कारण सम्यग्ज्ञान का अभाव बताया है और दूसरे में समता का अभाव।

---

1. विश्व विज्ञान रहस्य, प्रारंभिक पृष्ठ-xviii
2. पं. भूधरदासजी कृत बारह भावना एवं छहढाला, पंचम ढाल, छन्द-12

आज तक इस जीव ने सारे जगत् को जानने का प्रयास किया; किन्तु अपने आत्मा को जानने का प्रयास नहीं किया। अपने को पहिचानने से ही भव भ्रमण मिटता है, इसमें ही सार है, शेष सब असार है।

लोक का आधार वातवलय –

अलोकाकाश के बहुमध्य भाग में स्थित यह तीन लोक किसके आधार से टिका हुआ है? इसका उत्तर देते हुये यतिवृषभ आचार्य कहते हैं –

पढमो लोयाधारो, घणोवही इह घणाणिलो तत्तो।
तप्परदो तणुवादो, अंतम्मि णहं णिआधारं।।[1]

लोक के अन्त में, चारों ओर घेरे हुये सर्वप्रथम घनोदधि वातवलय का आधार है। इसके चारों ओर घन वातवलय तथा उसके पश्चात् तनु वातवलय का आधार है; फिर अन्त में निजाधार आकाश है।

343 घनराजू प्रमाण लोक की सीमा पर चारों ओर से घेरे हुये तीन वातवलय हैं –

(1) घनोदधि वातवलय (2) घन वातवलय (3) तनु वातवलय।

यह लोक सर्वप्रथम भीतर की ओर से घनोदधि वातवलय के आधार से टिका हुआ है। घन + उदधि + वात + वलय = घनोदधि वातवलय अर्थात् जल मिश्रित घनी हवा का घेरा। घनोदधि वातवलय को चारों ओर से वेष्टित करके घन वातवलय है, जो कि घनी हवा के घेरे के समान है। इसे भी चारों ओर से वेष्टित करके तनु वातवलय है, जो कि पतली हवा के समान है। यह तनु वातवलय ही लोक का अन्त है, इसके पश्चात् निजाधार आकाश है, वह सबसे बड़ा है, उसे किसी दूसरे आधार की आवश्यकता नहीं है। वह अनंत आकाश स्वयं के आधार से है।

तीन वातवलयों से घिरा हुआ यह लोक ऐसा जान पड़ता है कि मानो महालोक जीतने की इच्छा से कवचों से ही आवेष्टित हुआ हो।[2] **ज्ञातव्य** है कि ये वातवलय लोक की सीमा में ही हैं अर्थात् 343 घन राजू प्रमाण लोक वातवलय क्षेत्र को अपने में शामिल करके है।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 1/272
2. हरिवंश पुराण, 4/42

इतने विशाल लोक को हवा के आधार से टिके होने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है; क्योंकि हवा यदि सघन हो और उसे निकलने की जगह न हो तो वह अपने ऊपर भारी से भारी वस्तु को भी टिकाये रख सकती है। हवा के प्रेशर एवं ताकत को दैनिक जीवन में अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है। हाईवे पर चलने वाले ट्रक के टायर में 35-40 पौंड हवा भरी हुई होती है और वे टायर अपने ऊपर 20-25 हजार किलो वजन लेकर आसानी से चलते हैं। वे सब हवा के आधार पर ही चलते हैं, यदि टायर में हवा न हो तो किंचित् भी न चल सकें।

अत: यह स्वीकार्य है कि जैन दृष्टि से प्ररूपित लोक वातवलयों के आधार से टिका है। यद्यपि वायु अस्थिर स्वभाव वाली होती है; फिर भी ये तीनों वातवलय स्थिर स्वभाव वाले वायुमण्डल हैं[1] अर्थात् यह हवा चलती नहीं है, बहती नहीं है।

जैन आगमों में वातवलयों के रंग, मोटाई आदि के संदर्भ में भी सूक्ष्म विवेचन किया है।

वातवलयों का रंग – सम्पूर्ण लोक को चारों ओर से घेरे हुये इन वातवलयों के रंग की चर्चा भी शास्त्रों में की गई है अर्थात् उस हवा का भी रंग बताया गया है। घनोदधि वातवलय का वर्ण **गोमूत्र** के समान, घन वातवलय को **मूंग** वर्ण के समान तथा तनु वातवलय **अनेक/विविध** वर्ण वाला बताया गया है।[2]

वातवलयों की मोटाई – लोक के तल भाग में 1 राजू की ऊँचाई तक इन वातवलयों में से प्रत्येक की मोटाई 20,000 योजन प्रमाण है। सातवीं नरक पृथ्वी के दोनों ओर इन वातवलयों की मोटाई भीतर से बाहर की ओर क्रमश: 7, 5 व 4 योजन है। मध्यलोक के पूर्व-पश्चिम भाग में इनकी मोटाई क्रमश: 5, 4 व 3 योजन, इससे ऊपर ब्रह्मस्वर्ग के पार्श्वभाग में क्रमश: 7, 5 व 4 योजन तथा लोक के अन्त (पार्श्वभाग) में इनकी मोटाई क्रमश: 5, 4 व 3 योजन प्रमाण है। लोक के शिखर पर तीनों वातवलयों की मोटाई मात्र 2 कोस, 1 कोस तथा 1575 धनुष है।[3]

---

1. त्रिलोक भास्कर, पृष्ठ-5
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 1/271
   (2) त्रिलोकसार, गाथा-123
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 1/273-276,
   (2) त्रिलोकसार, गाथा-124-126

त्रस व स्थावर लोक –

द्वीन्द्रियादयस्त्रसा:[1] अर्थात् दो इन्द्रिय आदि जीवों को त्रस जीव कहते हैं। जहाँ त्रस जीव पाये जाते हैं अथवा रहते हैं, उस स्थान को त्रस नाली कहा जाता है। त्रस नाली को ही त्रस लोक तथा इसके बाहर जहाँ सिर्फ स्थावर जीव[2] रहते हैं, उसे स्थावर लोक संज्ञा से संबोधित किया गया है। त्रस नाली की ऊँचाई त्रिलोकसार ग्रंथ में 14 राजू बताई गई है, इसे सामान्य स्थूल कथन जानना चाहिये। सूक्ष्म कथन करते हुये यतिवृषभाचार्य लिखते हैं –

लोय बहु मज्झ देसे, तरुम्मि सारं व रज्जु पदर जुदा।
तेरस रज्जुच्छेहा, किंचूणा होदि तस णाली।।
ऊण पमाणं दंडा, कोडि तियं एक्कबीस लक्खाणं।
बासट्ठिं च सहस्सा, दुसया इगिदाल दुतिभाया।।[3]

सम्पूर्ण लोक के बहुमध्य भाग में एक राजू लम्बी, एक राजू चौड़ी तथा कुछ कम 13 राजू प्रमाण वाली त्रस नाली है। कुछ कम का प्रमाण 3 करोड़, 21 लाख, 62 हजार, 241 धनुष सहित 2/3 धनुष है।

कुछ कम के प्रमाण का स्पष्टीकरण – लोक की ऊँचाई 14 राजू है। इसमें सातवें नरक के नीचे एक राजू प्रमाण कलकल नामक स्थावर लोक है, जहाँ त्रस जीव नहीं रहते, अत: उसे घटाकर 13 राजू कहा है।

इसमें भी सप्तम नरक के मध्य भाग में ही नारकी (त्रस) हैं, नीचे के 3999 सहित 1/3 योजन (3,19,94,666 सहित 2/3 धनुष) में नहीं है। इसीप्रकार ऊर्ध्वलोक में सर्वार्थसिद्धि से ईषत्प्राग्भार नामक आठवीं पृथ्वी के मध्य 12 योजन (96,000 धनुष) का अन्तराल है, आठवीं पृथ्वी की मोटाई 8 योजन (64,000 धनुष) है और इसके ऊपर तीन वातवलय क्रमश: दो कोस (4000 धनुष), एक कोस (2000 धनुष) एवं 1575 धनुष की मोटाई वाले हैं। इस सम्पूर्ण क्षेत्र में भी त्रस जीव नहीं है, अत: मूल गाथा में 13 राजू ऊँची त्रस नाली में से 3,21,62,241 धनुष सहित 2/3 धनुष (3,19,94,666 सहित 2/3 + 96000 + 64000 + 4000 + 2000 + 1575 धनुष) कम करने को कहा है।[4]

---

1. तत्त्वार्थसूत्र, 2/14
2. 'पृथिव्यपतेजोवायुवनस्पतय: स्थावरा:' – तत्त्वार्थसूत्र, 2/13
3. तिलोयपण्णत्ती, 2/6-7
4. तिलोयपण्णत्ती, 2/6-7, विशेषार्थ, पृ.140

343 घनराजू प्रमाण वाले लोकाकाश में से त्रसनाली को घटाने पर शेष भाग में सिर्फ स्थावर जीव ही रहते हैं, अत: लोक के शेष हिस्से को **स्थावर लोक** कहा जाता है। त्रस जीव त्रसनाली में ही पाये जाते हैं, इसके बाहर नहीं।[1] यहाँ यह बात विशेष ध्यान रखने योग्य है कि स्थावर जीवों का सद्भाव मात्र स्थावर लोक में ही नहीं है; अपितु सम्पूर्ण लोक में है।

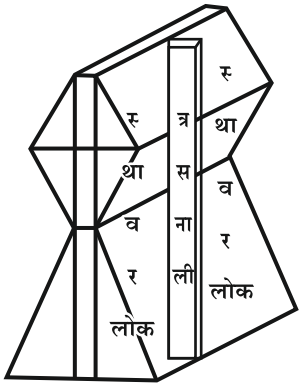

त्रसनाली के बाहर त्रसपना – कोई भी त्रस जीव त्रस नाली के बाहर स्थावर लोक में त्रस नामकर्म के उदय सहित जन्म लेकर नहीं रह सकता और जा भी नहीं सकता। इसप्रकार यद्यपि त्रसनाली के बाहर त्रस जीवों का सद्भाव नहीं होता, तथापि करणानुयोग बहुत सूक्ष्म कथन करता है। अत्यन्त सूक्ष्मता से देखने पर कुछ परिस्थितियों में त्रसपने का सद्भाव स्थावर लोक में भी संभव है। **आचार्य नेमिचन्द्र**[2] उपपाद एवं मारणांतिक समुद्घात की अपेक्षा त्रस नाली के बाहर भी त्रसपने का सद्भाव बताते हैं। **आचार्य यतिवृषभ** ने इन दोनों हेतुओं के साथ-साथ लोकपूरण समुद्घात को प्राप्त केवली का आश्रय करके सम्पूर्ण लोक को ही त्रसनाली[3] कह दिया है।

इसप्रकार त्रस नामकर्म के उदय वाले जीव का सद्भाव स्थावर लोक में होने संबंधी तीन परिस्थितियाँ हो सकती हैं –

1. उपपाद – जीवन पूरा होने के पश्चात् नवीन पर्याय की आयु के प्रथम समय को उपपाद कहते हैं। जिन एकेन्द्रिय जीवों ने स्थावर लोक में त्रस नामकर्म बांधकर मरण किया वहाँ स्थावर लोक में ही त्रसनामकर्म का उदय आने से उपपाद की अपेक्षा त्रसपने का सद्भाव स्थावर लोक में समझना चाहिये।

2. मारणांतिक समुद्घात – आयु पूरी होने के अंतर्मुहूर्त पहले शरीर से आत्मप्रदेशों का बाहर निकलकर बद्धायु के अनुसार जहाँ उत्पन्न होना है, वहाँ छूकर लौट आना मारणांतिक समुद्घात कहलाता है।[4] इस अपेक्षा भी किसी त्रस के आत्मप्रदेशों का गमन स्थावर क्षेत्र में संभव है।

---

1. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-122 (उत्तरार्द्ध)
2. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा-199
3. 'केवलिणो अवलंबिय, सव्व जगो होदि तसणाली' - तिलोयपण्णत्ती, 2/8
4. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-10 टीका

3. लोकपूरण समुद्घात – तेरहवें गुणस्थान के अंत में आयु कर्म को छोड़कर शेष तीन कर्मों की स्थिति क्षय करने के लिये केवली भगवान के दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण आकार से आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना केवली समुद्घात कहलाता है।[1] इस समुद्घात की परिस्थिति में केवली के आत्मप्रदेश सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाते हैं। फलत: सम्पूर्ण लोक में त्रसपना व्याप्त होने का प्रसंग बनता है।

उक्त तीन विवक्षाओं से त्रसपने का सद्भाव स्थावर लोक में भी कहा है। करणानुयोग में बहुत अल्पसमय की गणना करके यह बात कही है। सामान्य रूप से त्रस जीव त्रसनाली के न बाहर होते हैं, न जाते हैं और न जन्मते हैं।

समस्त रचनायें त्रसनाली में – अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक की विचित्र रचनायें, यथा – ऊर्ध्वलोक के 16 स्वर्ग, 9 ग्रैवेयक, 9 अनुदिश, 5 अनुत्तर आदि विमान, मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र तथा अधोलोक में नारकियों के 84 लाख बिल, भवनवासी एवं व्यंतरों के आवास-स्थान आदि सभी इस त्रसनाली में ही हैं, इसके बाहर सिर्फ स्थावर जीव रहते हैं। इन समस्त रचनाओं की चर्चा आगामी अध्यायों में विस्तार से की जायेगी।

त्रस पर्याय प्राप्ति की दुर्लभता –

यद्यपि त्रसनाली का विस्तार भी बहुत है; तथापि यदि स्थावर लोक से तुलना करें तो त्रसनाली का क्षेत्र नगण्य है। सम्पूर्ण लोक अर्थात् 343 घन राजू प्रमाण क्षेत्र में सूई के अग्र भाग जितना हिस्सा भी ऐसा नहीं है, जहाँ स्थावर (एकेन्द्रिय) जीव न हों। एकेन्द्रिय जीवों की तुलना में त्रस जीव अनंतवें भाग हैं अर्थात् त्रस जीवों से स्थावर जीव अनंत गुणे ज्यादा हैं। इतना ही नहीं एकेन्द्रिय से त्रस पर्याय की प्राप्ति होना भी अत्यन्त दुर्लभ है। अनंत एकेन्द्रिय जीवों में से किसी एक जीव को त्रस पर्याय में आने का अवसर मिलता है इसीलिये छहढाला में दौलतरामजी ने लिखा –

दुर्लभ लहि ज्यों चिंतामणी, त्यों पर्याय लहि त्रसतणी।

उन्होंने दो इन्द्रिय जैसी त्रस पर्याय की प्राप्ति की दुर्लभता के संबंध में चिन्तामणी रत्न का उदाहरण दिया है। यह कोरी कल्पना नहीं है, वस्तुस्थिति है। लट जैसी पर्याय प्राप्त करना इतना दुर्लभ है, तो इससे आगे बढ़कर तीन इन्द्रिय चींटी आदि, चार इन्द्रिय मच्छर आदि तथा पंचेन्द्रिय तिर्यंच आदि से भी ऊपर आकर मनुष्य जीवन प्राप्त करना कितना दुर्लभ होगा?

---

1. (1) सर्वार्थसिद्धि, 9/44/906/361 (2) बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-10 टीका

भगवती आराधना में मनुष्य भव प्राप्ति की दुर्लभता बताते हुये लिखा है कि अनन्त संसार सागर में मनुष्य पर्याय पाना दुर्लभ है; क्योंकि मनुष्य क्षेत्र अल्प है। तिर्यञ्च तो सब जगत् में उत्पन्न होते हैं तथा मनुष्य पर्याय में जन्म लेने के कारणभूत जो परिणाम हैं वे दुर्लभ हैं।

अत: अत्यंत-अत्यंत दुर्लभता से प्राप्त मनुष्य देह, उसमें भी जैन कुल, जिनवाणी पढ़ने-सुनने का अवसर पाकर अब हमें अपूर्व पुरुषार्थपूर्वक अपने चैतन्य स्वरूप भाव लोक में विचरण करने का पुरुषार्थ करना चाहिये। यह अवसर खोने योग्य नहीं है।

निश्चय लोक (आध्यात्मिक लोक) –

जैनाचार्यों ने अपनी अनेकान्तिक दृष्टि से लोक शब्द का प्रयोग कभी बाह्य जगत् के लिये तो कभी अंतरंग जगत् के लिये किया है। जैन शास्त्रों में षट् द्रव्यात्मक लोक के अतिरिक्त निज चैतन्य आत्मा के लिये भी लोक शब्द का प्रयोग किया गया है। ऊर्ध्व, मध्य एवं अधोलोक की चर्चायें बहिर्मुखी होने से व्यवहार से लोक कही जाती हैं। निश्चय से तो अपना आत्मा ही लोक है। भगवती आराधना में आत्मा को ही लोक बताते हुये लिखा है –

यद्यप्यनेकप्रकारो लोकस्तथापीह लोकशब्देन जीवद्रव्यं लोक एवोच्यते। कथं ? सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात्।[1]

यद्यपि लोक अनेक प्रकार का है अर्थात् लोक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं; तथापि यहाँ लोक शब्द से जीव द्रव्य (आत्मा) को ही लोक कहा जा रहा है; क्योंकि यहाँ जीव की धर्मप्रवृत्ति का प्रकरण चल रहा है।

लोक का स्वरूप स्पष्ट करते हुये इसी पुस्तक के प्रारंभ में अनेक ग्रन्थों के प्रमाणपूर्वक बताया गया है कि **जहाँ छह द्रव्य पाये जाते हैं, वह लोक है। ज्ञान में भी छहों द्रव्य ज्ञात होते हैं, झलकते हैं अर्थात् एक प्रकार से ज्ञान में भी छहों द्रव्य रहते हैं। इस अपेक्षा से ज्ञान (आत्मा) को भी लोक कहा जा सकता है।** इसप्रकार का भाव बृहद् द्रव्यसंग्रह के निम्न कथन में व्यक्त हुआ है –

जिसप्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब झलकते हैं; उसीप्रकार आदि, मध्य और अन्त रहित, शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव वाले परमात्मा के सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान में शुद्धात्मा आदि सभी पदार्थ आलोकित होते हैं, दिखाई देते हैं, ज्ञात होते हैं- इसकारण वह आत्मा ही निश्चय लोक है अथवा उस निश्चय लोक रूप निज शुद्धात्मा में अवलोकन ही निश्चय लोक है।[2]

---

1. भगवती आराधना, गाथा-1792 की उत्थानिका
2. 'स्वकीयशुद्धपरमात्मनि अवलोकनं वा स निश्चयलोक:' – बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35 टीका, पृ.162

इसीतरह का भाव डॉ. भारिल्ल की बारह भावना की निम्न पंक्ति में भी स्पष्ट दिखाई देता है- **जिसमें झलकते लोक सब, वह आतमा ही लोक है।**[1]

उक्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि लोक का निरूपण जब आत्मा की मुख्यता से होता है, तब जैन मनीषी उसे निश्चय लोक कह कर पुकारते हैं, वही ज्ञान लोक है, चैतन्य लोक है, आध्यात्मिक लोक है।

इसप्रकार जैन आगमों में षट् द्रव्यात्मक/रचनात्मक क्षेत्र लोक के साथ-साथ भावात्मक चैतन्य लोक की भी सूक्ष्म विवेचना की गई है। ऐसी चर्चा जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं मिलती। यद्यपि जैन आगमों के समान ही हिन्दू पुराणों एवं बौद्ध ग्रन्थों में भी लोक के सन्दर्भ में स्वर्ग/नरक आदि की थोड़ी-बहुत चर्चा मिलती है; तथापि जैसा अनेकान्तिक सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन जिनागम में किया गया है, वैसा अन्य कहीं भी दिखाई देना अत्यन्त दुर्लभ ही नहीं; अपितु असंभव है।

आगमों में जहाँ **एक ओर** तीन लोकों का विस्तृत विवेचन किया है, वहीं **दूसरी ओर** उस लोक से दृष्टि हटाकर अपने चैतन्य लोक को जानने, पहिचानने एवं उसी में समा जाने की प्रेरणा भी स्थान-स्थान पर दी गई है। **आचार्य यतिवृषभ** तिलोयपण्णत्ती नामक ग्रन्थ में पाँच हजार सात सौ छियत्तर (5776) गाथाओं में तीन लोक के स्वरूप की विस्तृत चर्चा करने के उपरान्त अन्त में लिखते हैं कि - ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक में मेरा कुछ नहीं है, ऐसी भावना रखने वाला जीव ही अक्षय सुख को प्राप्त करता है।[2]

इसप्रकार परम सुख को प्राप्त करने का उपाय तीन लोक के सर्व परपदार्थों में परबुद्धि तथा अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व में अपनापन करना ही है। यही द्वादशांगमयी जिनवाणी का सार है। जिनागम में इसे ही सारभूत कहा है, इसे ही काम-क्रोधादि समस्त विकारों को जीतने का मार्ग बताया है।

यहाँ कोई कहे कि जब तीन लोक से दृष्टि हटानी ही है तो फिर इसकी इतनी विस्तृत चर्चा से क्या लाभ है?

इस चर्चा से दृष्टि हटाकर जिस ज्ञायक आत्मा पर दृष्टि केन्द्रित करनी है, उसकी महिमा लाने में भी इस प्रकरण से बहुत बल मिलता है। लोक की विस्तृत चर्चा को पढ़-सुनकर हमें निश्चित रूप से उस दिव्य केवलज्ञान की ही महिमा आती है, जिसमें यह लोकालोक

---

1. बारह भावना : एक अनुशीलन, लोक भावना
2. तिलोयपण्णत्ती, 9/39

हाथ पर रखे आँवले की तरह स्पष्ट झलकता है। केवलज्ञान की एक समय की पर्याय की इतनी सामर्थ्य है कि उसमें लोकालोक के समस्त पदार्थ अपने गुण-पर्यायों के साथ में स्पष्ट झलकते हैं।

ऐसी एक पर्याय नहीं, अब आगे अनंत काल तक ज्ञान गुण में से प्रतिसमय केवलज्ञान, केवलज्ञान, केवलज्ञान..... पर्याय ही निकलती रहेगी। जिस ज्ञानगुण की एक समय की पर्याय की इतनी सामर्थ्य है, तो उस ज्ञान गुण की कितनी सामर्थ्य होगी।

ज्ञान तो आत्मा का एक गुण है। ज्ञान जैसे अनंत गुण, अनंत धर्म, अनंत शक्तियाँ इस जगत् के प्रत्येक आत्मा में मौजूद हैं। हमें अपनी आत्मा की इस शक्ति/सामर्थ्य का भान नहीं है। ऐसे देहरूपी देवालय में विराजमान स्वयं भगवान स्वरूप अपने शक्तिसम्पन्न आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है और सम्यक् चारित्र है। यही मोक्षमार्ग है और यही संसार के अनंत दु:खों का अन्त करने का मार्ग है।

इसप्रकार परम्परा से उक्त विषयों की चर्चा भी अपनी महिमा के लिये ही है।

इसप्रकार नि:सन्देह यह कहा जा सकता है कि अपने अनेकान्तमयी चिन्तनपूर्वक **जैनाचार्यों ने लोक के संदर्भ में भी अलौकिक चिन्तन प्रस्तुत किया है।**

हम आगामी अध्यायों में अधो, मध्य एवं ऊर्ध्व लोक के रूप में क्षेत्रात्मक जगत् की विस्तृत मीमांसा करेंगे। साथ ही उनमें रहने वाले जीवों के सुख-दु:खादि एवं बाह्य परिस्थितियों की चर्चा भी करेंगे।

●

"अंतर्दृष्टि ही सर्वत्र उपयोगी है,
स्वयं को अंतरंग से देखोगे
तो 'ज्ञान' होगा,
शरीर को अंतरंग से देखोगे
तो 'वैराग्य' होगा।"

"जो चाहता है वह होता नहीं
जो होता है वो भाता नहीं
और जो भाता है वो रहता नहीं
इसलिए कुछ साता नहीं।"

- डॉ. संजीवकुमार गोधा

2

अधोलोक का स्वरूप

लगभग सभी भारतीय दर्शनों में पुनर्जन्म को स्वीकार किया गया है। यह जीव पहले कहीं न कहीं था और जीवन पूरा हो जाने के बाद भी इसका अन्त नहीं है क्योंकि इसे कहीं न कहीं दूसरी जगह जाना ही है। जगत् में दिखने वाली विविधतायें इस बात की प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। हर व्यक्ति की परिस्थितियाँ अलग-अलग हैं, आखिर क्यों? सभी मानव हैं, किन्तु फिर भी किसी भी मानव की अक्ल और शक्ल किसी दूसरे मानव से नहीं मिलती है। दार्शनिक विचारधारायें इस संदर्भ में पूर्व जन्मों में संचित पुण्य-पाप को कारण मानती हैं। यह जीव कहाँ से आता है और कहाँ चला जाता है? क्या इसके पुण्य एवं पाप को भोगने का कोई स्थान है? वर्तमान में किये गये जिन खोटे कार्यों की सजा अथवा जिन अच्छे कार्यों का प्रतिफल हमें नहीं मिला है, क्या भविष्य में उनका फल मिलेगा? क्या आगे कहीं जाकर जवाब देना पड़ता है? यदि सब कुछ यहीं समाप्त मान लेंगे तो फिर इस जीव के पाप की स्वच्छन्दता चरम पर होगी।

यहाँ इस सन्दर्भ में हम सर्वप्रथम पाप के फल को भोगने के मुख्य स्थान- नरक की चर्चा कर रहे हैं। प्रस्तुत अध्याय में- ये नरक कहाँ है? कितने हैं? उनकी रचना किस प्रकार की है? वहाँ का वातावरण कैसा है? इत्यादि भौगोलिक संरचना की चर्चा करते हुये वहाँ रहनेवाले जीवों के दु:ख, उनके परिणाम एवं परिस्थितियाँ, उनकी आयु, शरीर की ऊँचाई, अवधिज्ञान एवं वहाँ जाने के मुख्य कारणों की चर्चा की जायेगी। साथ ही जगत्जनों को उनसे बचने की प्रेरणा दी जायेगी। ये सभी नरक हमारी पृथ्वी के नीचे हैं इसलिए इन सबकी चर्चा अधोलोक के रूप में की जाती है।

अधोलोक की नरक पृथ्वियाँ –

अधो अर्थात् नीचे। जो लोक इस धरातल के नीचे है, वह अधोलोक है, इसे पाताल लोक भी कहते हैं। अधोलोक का प्रारंभ सुदर्शन मेरु पर्वत के नीचे से होता है। **आचार्य उमास्वामी** इसका वर्णन प्रारंभ करते हुये लिखते हैं –

'रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोमहातम:प्रभा–भूमयो–घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा: सप्ताधोऽध:।'[1]

अधोलोक में एक के नीचे एक 7 पृथ्वियाँ हैं, जिनके **गुणनाम** रत्न प्रभा, शर्करा प्रभा, बालुका प्रभा, पंक प्रभा, धूम प्रभा, तम: प्रभा और महातम: प्रभा हैं तथा **गोत्रनाम** धम्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी हैं।[2] गोत्रनाम के लिये रूढ़ीनाम शब्द का भी प्रयोग मिलता है। गुणनाम अपने अर्थ की सार्थकता लिये हुये हैं, यथा – सात भूमियों में जिसकी प्रभा अनेक रत्नों के समान है, वह रत्नप्रभा भूमि है।[3] वह भूमि अनेक प्रकार के रत्नों से भरी हुई शोभायमान होती है, इसलिये उसका नाम रत्नप्रभा सार्थक है।[4] शेष छह पृथ्वियाँ क्रमश: शक्कर, बालू, कीचड़, धूम, अंधकार और महा–अंधकार की प्रभा से युक्त हैं।[5] उनके नाम से ही वहाँ की प्रभा (रोशनी, प्रकाश) का भान हो जाता है। इसीलिये इनको गुणनाम कहा गया है।

सात पृथ्वियों की मोटाई –

अधोलोक की प्रथम पृथ्वी रत्न प्रभा की मोटाई 1 लाख 80 हजार योजन है। शर्करा प्रभा पृथ्वी की मोटाई 32,000 योजन, बालुका प्रभा की 28,000 योजन, पंक प्रभा की 24,000 योजन, धूम प्रभा की 20,000 योजन, तम: प्रभा की 16,000 योजन और महातम: प्रभा की मोटाई 8,000 योजन है।[6] इन सभी पृथ्वियों के बीच में असंख्यात योजनों का अन्तराल है। **तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ** में ही इन पृथ्वियों की मोटाई को प्रकारान्तर अथवा पाठान्तर कहकर दूसरे प्रकार से भी बताया है। वहाँ कहते हैं कि ''छियासठ, चौंसठ, साठ, उनसठ, अट्ठावन और चौवन– इनके दुगुने हजार योजन प्रमाण उन अधस्तन छह पृथ्वियों

---

1. तत्त्वार्थसूत्र, 3/1
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 1/152–153 (2) त्रिलोकसार, गाथा–145
3. सर्वार्थसिद्धि, 3/1
4. (1) **एवं बहुविह रयणप्पयार भरिदो विराजदे जम्हा।**
   रयणप्पहो त्ति तम्हा भणिदा णिउणेहि गुणणामा।। – ति. प., 2/20
   (2) .... **तलउवरिमम्मि भागे जेण दु रयणप्पभा णाम।** – जम्बूदीवपण्णत्ती संगहो, 11/120
   (3) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/1/ पृ.159/पं.17
5. तिलोयपण्णत्ती, 2/21
6. (1) **बत्तीसट्ठावीसं चउवीसं वीस सोलसट्ठं च।**
   हेट्ठिम छप्पुढवीणं बहलत्तं जोयण सहस्सा ।। – तिलोयपण्णत्ती, 2/22
   (2) हरिवंश पुराण, 4/57–58 (3) त्रिलोकसार, गाथा–149

की मोटाई है।''[1] अर्थात् दूसरी आदि पृथ्वियाँ क्रमश: 132000, 128000, 120000, 118000, 116000 तथा 108000 योजन मोटाई वाली हैं।

ये सातों पृथ्वियाँ ऊर्ध्व दिशा को छोड़कर 9 दिशाओं में घनोदधि वातवलय से लगी हुई हैं।[2] इन सभी का आधार घनी हवा एवं आकाश है।[3] ये सातों अनादि-निधन पृथ्वियाँ पूर्व-पश्चिम में वेत्रासन के सदृश आकार वाली तथा उत्तर-दक्षिण में समान रूप से दीर्घ एवं अनादि-निधन हैं।[4]

रत्न प्रभा पृथ्वी के विभाग –

अधोलोक में स्थित प्रथम पृथ्वी रत्न प्रभा है, जिसके तीन मुख्य विभाग हैं –

(1) खर भाग (2) पंक भाग (3) अब्बहुल भाग।

इन तीनों भागों में खर भाग 16,000 योजन मोटाई वाला, पंक भाग 84,000 योजन तथा अब्बहुल भाग 80,000 योजन मोटाई वाला है।[5] इस प्रकार रत्न प्रभा की मोटाई एक लाख अस्सी हजार (1,80,000) योजन है।

खर भाग में एक-एक हजार योजन मोटाई तथा लोक के अन्त तक फैली हुई 16 पृथ्वियाँ हैं, जिनके नाम **त्रिलोकसार** के अनुसार निम्न हैं –

(1) चित्रा (2) वज्रा (3) वैडूर्या (4) लोहिता (5) मसारकल्पा (6) गोमेदा (7) प्रवाला (8) ज्योतिरसा (9) अंजना (10) अंजनमूलिका (11) अंका (12) स्फटिका (13) चन्दना (14) सर्वार्थका (15) बकुला और (16) शैला[6]।

तिलोयपण्णत्ती में बताये गये इनके नामों में किञ्चित् भिन्नता है, वहाँ **वज्रा** नामक पृथ्वी का उल्लेख ही नहीं है तथा शैला के पश्चात् अंतिम पृथ्वी के रूप में **पाषाण** का उल्लेख किया गया है।[7] **हरिवंश पुराण**[8] में भी इन नामों में थोड़ी-बहुत भिन्नता मिलती है। तीनों ग्रन्थों में दिये गये नामों की भिन्नता को आगे प्रदर्शित तालिकानुसार देखा जा सकता है –

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 2/23
2. **सत्त-च्चिय भूमीओ, णव दिस भाएण घणोवहि विलग्गा।....** - तिलोयपण्णत्ती, 2/24
3. **'....घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः'** - तत्त्वार्थसूत्र, 3/1
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 2/25 (2) अधोलोक की 7 पृथ्वियों, पटलों आदि के लिये **चित्र परिशिष्ट में** देखें।
5. (1) **खर पंकप्पब्बहुला भागा रयणप्पहाए पुढवीए।**
   बहलत्तणं सहस्सा सोलस चउसीदि सीदी य।। - तिलोयपण्णत्ती, 2/9 (2) त्रिलोकसार, गाथा-146
6. त्रिलोकसार, गाथा-147-148 7. तिलोयपण्णत्ती, 2/16-18
8. हरिवंश पुराण, 4/52-54

	त्रिलोकसार	तिलोयपण्णत्ती	हरिवंश पुराण
1.	चित्रा	चित्रा	चित्रा
2.	वज्रा	वैडूर्य	वज्रा
3.	वैडूर्या	लोहितांक	वैडूर्य
4.	लोहिता	असारगल्ल	लोहितांक
5.	मसारकल्पा	गोमेदक	मसारगल्ब
6.	गोमेदा	प्रवाल	गोमेद
7.	प्रवाला	ज्योतिरस	प्रवाल
8.	ज्योतिरसा	अंजन	ज्योति
9.	अंजना	अंजनमूल	रस
10.	अंजनमूलिका	अंक	अंजन
11.	अंका	स्फटिक	अंजनमूल
12.	स्फटिका	चन्दन	अंग
13.	चन्दना	वर्चगत	स्फटिक
14.	सर्वार्थका	बकुल	चन्द्राभ
15.	बकुला	शैला	वर्चस्क
16.	शैला	पाषाण	बहुशिलामय

चित्रा पृथ्वी में अनेक प्रकार के वर्णों से युक्त मिट्टी, शिलातल, उपल, बालु, शक्कर, शीशा, चांदी, स्वर्ण, वज्र, अयस् (लोहा), तांबा, त्रपु (रांगा), सस्यक (सीसा), मणिशिला, हिंगुल (सिंगरफ), हरिताल, अंजन, प्रवाल (मूंगा), गोमेदक, रुचक (राजावर्तमणि), कदंब, प्रतर, अभ्रबालुका, स्फटिकमणि, जलकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, चन्द्रप्रभ, वैडूर्यमणि, गेरु, चन्द्राश्म, लोहितांक (पद्मरागमणि), बंबय (मरकतमणि), वय (पुष्परागमणि), मोय (कदलीपत्र के वर्ण की नीलमणि) और सारंग इत्यादि विविध वर्णवाली धातुयें हैं; इसीलिये इस पृथ्वी का **चित्रा** नाम से वर्णन किया गया है।[1]

1. तिलोयपण्णत्ती, 2/11-14

भवनवासी एवं व्यंतर लोक –

अधोलोक में सिर्फ नारकी ही नहीं रहते, वहाँ देवों के रहने के स्थान भी हैं। चित्रा पृथ्वी के नीचे खर और पंक भाग में भवनवासी और व्यंतर देवों के भवन हैं। चार निकाय के देवों[1] में प्रथम निकाय के देव भवनवासी हैं। जिनका स्वभाव भवनों में निवास करना है, वे भवनवासी कहे जाते हैं।[2] भवनवासी देव दस प्रकार के हैं- असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार।[3]

जिनका नाना प्रकार के देशों में निवास है, वे व्यंतर देव कहलाते हैं।[4] व्यंतर देवों के आठ प्रकार हैं- किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।[5]

रत्नप्रभा पृथ्वी के **पंक भाग** में असुरकुमार और राक्षस जाति के देवों के भवन हैं तथा **खर पृथ्वी** में ऊपर-नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर शेष में नौ प्रकार के भवनवासी तथा सात प्रकार के व्यंतरों के निवास हैं।[6] **अब्बहुल भाग** में नारकी जीव रहते हैं।[7] इसप्रकार पहली पृथ्वी के दो भाग में तो देवगति के जीव रहते हैं।

भवनवासी और व्यंतर देवों के निवास-स्थान भवन, भवनपुर और आवास के भेद से तीन प्रकार के हैं। इनमें से अधोलोक में रत्नप्रभा पृथ्वी पर भवन, मध्यलोक में द्वीप-समुद्रों के ऊपर भवनपुर एवं रमणीय तालाब, पर्वत तथा वृक्षादि के ऊपर आवास होते हैं। असुरकुमारों के केवल एक भवनरूप ही निवास-स्थान होते हैं, शेष नागकुमारादि में से किन्हीं के भवन, भवनपुर एवं आवास तीनों निवास हैं।

---

1. 'देवाश्चतुर्णिकाया:' - तत्त्वार्थसूत्र, 4/1
2. (1) सर्वार्थसिद्धि, 4/10/461/पृ.182 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 4/10/1/पृ.216
3. (1) तत्त्वार्थसूत्र, 4/10 (2) तिलोयपण्णत्ती, 3/9
4. (1) सर्वार्थसिद्धि, 4/11/463/पृ.183 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 4/11/1/पृ.217
5. तत्त्वार्थसूत्र, 4/11
6. (1) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-145 (2) सर्वार्थसिद्धि, 4/10-11/461/पृ.182
   (3) हरिवंश पुराण, 4/50-51
7. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35 टीका, पृ.134

भवनवासी देवों के असुरकुमार आदि के भवनों की संख्या क्रमश: 64 लाख, 84 लाख, 72 लाख, 76 लाख, 76 लाख, 76 लाख, 76 लाख, 76 लाख, 76 लाख और 96 लाख है - इसप्रकार इन दस कुलों के सर्व भवनों का सम्मिलित योग 7,72,00,000 (सात करोड़ बहत्तर लाख) है।[1] ये सब भवन श्रेणी रूप से स्थित हैं तथा प्रत्येक में एक-एक **अकृत्रिम जिन चैत्यालय** हैं।[2]

आचार्य उमास्वामी ने भवनवासियों में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक - ये दस भेद बताये हैं।[3] तथा **'त्रायस्त्रिंश लोकपालवर्ज्या: व्यन्तरा:'** कहकर व्यंतरों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल के बिना आठ भेद बताये हैं।[4] इनमें इन्द्रों की बात बताते हुये उन्होंने अत्यन्त संक्षेप में लिखा है **'पूर्वयोर्द्वीन्द्रा:'**[5] अर्थात् भवनवासियों के 10 प्रकार में तथा व्यंतरों के 8 प्रकार में प्रत्येक के दो-दो इन्द्र होते हैं।

'देवों के साथ असुरों का युद्ध होता है' - इसप्रकार की कल्पनायें देवों का अवर्णवाद करना है। सौधर्मादि स्वर्गों के देव महाप्रभावशाली होते हैं, वे सदा जिनपूजा आदि शुभकार्यों में लगे रहते हैं, उनमें स्त्रीहरण आदि निमित्तों से बैर की संभावना ही नहीं है, अत: अल्पप्रभाव वाले असुरों से युद्ध कल्पना ही व्यर्थ है।[6]

इसीतरह व्यंतरों को भी 'खोटे मनुष्यों को चाहने के कारण **किन्नर**, कुत्सित पुरुषों की कामना करने के कारण **किम्पुरुष**, मांस खाने से **पिशाच**' आदि मानना उनका **अवर्णवाद** करना है। ये सभी देव पवित्र वैक्रियक शरीर के धारक होते हैं। वे कभी भी अशुचि औदारिक शरीर वाले मनुष्य आदि की कामना नहीं करते हैं और न ही वे मांस-मदिरादि के खान-पान में प्रवृत्त होते हैं। लोक में जो व्यंतरों की मांसादि ग्रहण की प्रवृत्ति सुनी जाती है, वह उनकी क्रीड़ा-कौतूहल मात्र है। वे तो मानस आहार (मन में विचार मात्र से होने वाला आहार) ही ग्रहण करते हैं।[7]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 3/11-12
2. (1) हरिवंश पुराण, 4/59-61
3. इसप्रकार के भेदों के स्वरूप का विशेष वर्णन आगे अध्याय-7 में किया है।
4. तत्त्वार्थसूत्र, 4/4-5
5. (1) तत्त्वार्थसूत्र, 4/6 (2) तिलोयपण्णत्ती, 3/13
6. तत्त्वार्थ राजवार्तिक 4/10/4-6/पृ.216
7. वहीं, 4/11/4, पृ.217

भवनवासियों में सभी देव जिनेन्द्र भगवान को ही पूजते हैं। सम्यग्दर्शन के धारी देव तो अत्यन्त भक्ति से नित्य जिनप्रतिमाओं को पूजते ही हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि देव भी कुल देवता मानकर जिनेन्द्र प्रतिमाओं की नित्य ही नाना प्रकार से पूजा करते हैं।[1] तथा उनमें से कोई मिथ्यादृष्टि देव जिनमहिमा (पंचकल्याणकादि) के दर्शन से, कोई देवों की ऋद्धि के देखने से, कोई जातिस्मरण से और कितने ही देव उत्तम धर्मोपदेश की प्राप्ति से दुरन्त संसार को नष्ट करने वाले सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर लेते हैं।[2]

पृथ्वियों पर नरकों की संख्या –

अधोलोक की 7 पृथ्वियों में 84 लाख नरक/बिल हैं। जैन आगम ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर सात नरक होने का उल्लेख मिलता है। यह बात पृथ्वियों की अपेक्षा से समझनी चाहिये। उन पृथ्वियों में नारकियों के रहने के लिये अंधेरे कुएँ के समान स्थान बने हुये हैं, जिनके लिये **बिल** शब्द का प्रयोग किया गया है, इनकी संख्या 84 लाख है। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वामी आचार्य इनके लिये स्पष्टरूप से **नरक** शब्द का ही प्रयोग करते हैं। इनकी पृथक्-पृथक् संख्या बताते हुये वे लिखते हैं –

तासु त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपञ्चोनैकनरक शत-सहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम्।[3]

अर्थात् रत्न प्रभा आदि 7 पृथ्वियों में क्रमश: 30 लाख, 25 लाख, 15 लाख, 10 लाख, 3 लाख, पाँच कम 1 लाख तथा मात्र 5 नरक – इस प्रकार कुल 84 लाख **नरक** हैं।[4] इन 84 लाख नरकों के लिये शास्त्रों में बाहुल्यता से **बिल** शब्द का प्रयोग किया गया है। **तिलोयपण्णत्ती** में शीत एवं उष्ण के रूप में इनका बँटवारा करते हुये लिखा है कि –

---

1. **सम्मत्त रयण जुत्ता णिब्भर-भत्तीए णिच्चमच्चंति।**
   कम्मक्खवण णिमित्तं देवा जिणणाह पडिमाओ।।
   कुलदेवा इदि मण्णिय अण्णेहिं बोहिया बहुपयारं।
   मिच्छाइट्ठी णिच्चं पूजंति जिणिंद-पडिमाओ।। – ति. प., 3/53-54
2. वहीं, 3/251-252
3. तत्त्वार्थसूत्र, 3/2
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 2/27 (2) हरिवंश पुराण, 4/73-74
   (3) **तीसं पणुवीसं पण्णरसं दस तिण्णि पंचहीणेक्कं।**
   लक्खं सुद्धं पंच य पुढवीसु कमेण णिरयाणि।। – त्रिलोकसार, गाथा-151

''वासीदीलक्खाणं उण्ह बिला पंचवीसदि सहस्सा।
पणहत्तरिं सहस्सा अदि सीद बिलाणि इगिलक्खं।।''[1]

अर्थात् 84 लाख बिलों में से 82 लाख 25 हजार बिल उष्ण हैं तथा 1 लाख 75 हजार बिल अत्यन्त शीत हैं। **पृथ्वियों की दृष्टि** से पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी एवं पाँचवीं पृथ्वी के तीन-चौथाई बिल अत्यन्त उष्ण तथा पाँचवीं पृथ्वी का शेष एक-चौथाई भाग, छठी एवं सातवीं पृथ्वी के बिल अत्यन्त शीत हैं।[2]

वहाँ इतनी गर्मी है कि मेरु समान लोहे का शीतल पिण्ड (गोला) यदि किसी उष्ण बिल में ऊपर से डाला जाये तो वह तल प्रदेश तक न पहुँचकर बीच में ही पिघलकर नष्ट हो जाये; इसीप्रकार इतनी सर्दी है कि मेरु समान लोहे का उष्ण पिण्ड यदि शीत बिल में फेंका जाये तो तल तक पहुँचने के पहले ही नमक के टुकड़े समान विलीन हो जाये।[3] सभी नरकों में बकरी, हाथी, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊँट, बिल्ली, सर्प और मनुष्यादि के सड़े हुये शरीरों की दुर्गंध से भी **अनन्त गुणी महादुर्गंध** है।[4]

नरक पृथ्वियों पर पटल – सातों नरक पृथ्वियाँ अनेक मंजिलों वाले महल की भाँति हैं। जैन आगम की पारिभाषिक शब्दावली में नरक पृथ्वियों की इन मंजिलों के लिये **पटल** शब्द का प्रयोग किया गया है।

सर्व पृथ्वियों में ऊपर-नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर मध्य भाग में पटल होते हैं। पृथ्वियों के क्रम से पहली पृथ्वी में 13, दूसरी पृथ्वी में 11, तीसरी पृथ्वी में 9, चौथी पृथ्वी में 7, पाँचवीं पृथ्वी में 5, छठी पृथ्वी में 3 तथा सातवीं पृथ्वी में 1 - इस प्रकार कुल 49 पटल हैं।[5] मनुष्यों के मकानों की मंजिलों की तरह यहाँ सीढ़ियाँ नहीं होतीं तथा एक पटल से दूसरे पटल में जाने की व्यवस्था भी नहीं होती। अत: जिस नारकी का जन्म जिस पटल के जिस बिल में होता है, वह जीवनपर्यंत उसी स्थान पर रहता है।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 2/31
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 2/29-30 (2) त्रिलोकसार, गाथा-152
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 2/32-33
   (2) **'मेरुसमान लोह गलि जाये, ऐसी शीत ऊष्णता थाय।'** - छहढाला, 1/11
4. तिलोयपण्णत्ती, 2/34 व 2/309
5. (1) हरिवंश पुराण, 4/75 (2) त्रिलोकसार, गाथा-153
   (3) बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35 टीका, पृ.134

नरक बिलों के प्रकार – नारकियों के बिल अर्थात् रहने के स्थान तीन प्रकार के हैं, जो कि अत्यन्त भयानक एवं दु:ख उत्पन्न करनेवाले हैं।[1]

(1) इन्द्रक (2) श्रेणीबद्ध (3) प्रकीर्णक

जो अपने पटल के सब बिलों के बीच में हो, वह **इन्द्रक** बिल कहलाता है। इन्द्रक बिल की चार दिशा और चार विदिशाओं में जो बिल पंक्तिरूप से स्थित होते हैं, उन्हें **श्रेणीबद्ध** बिल कहते हैं तथा जो श्रेणीबद्ध बिलों के बीच में बिखरे हुए पुरुषों के समान यत्र-तत्र स्थित हैं, उन्हें **प्रकीर्णक** बिल कहते हैं।[2]

इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिल – रत्न प्रभा आदि पृथ्वियों में प्रत्येक पटल में एक-एक इन्द्रक बिल है। चूँकि नरक पृथ्वियों में पटलों की संख्या उनन्चास है; अत: उनमें इन्द्रक बिल भी उनन्चास ही हैं।[3] प्रथम सीमन्तक नामक इन्द्रक बिल का विस्तार 45 लाख योजन तथा अन्तिम उनन्चासवें अप्रतिष्ठान नामक इन्द्रक बिल का विस्तार 1 लाख योजन है।[4]

सातों ही नरक की सभी पृथ्वियों पर मौजूद इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिलों की स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुये कहा गया है कि – ''प्रथम नरक पृथ्वी के पहले सीमन्तक इन्द्रक की चारों दिशाओं में 49-49 तथा विदिशाओं में 48-48 श्रेणीबद्ध बिल हैं। दूसरे इन्द्रक से आगे प्रत्येक पटल में चारों दिशाओं-विदिशाओं से एक-एक श्रेणीबद्ध बिल कम होता गया है।''[5] अर्थात् दूसरे पटल में दिशाओं में 48-48 एवं विदिशाओं में 47-47 बिल हैं। इसीप्रकार अन्तिम पटल तक सब ओर से एक-एक बिल कम जानना।

प्रथम नरक का प्रथम पटल

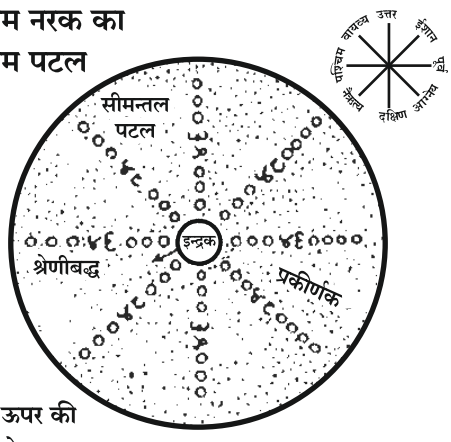

[त्रस नाली में ऊपर की ओर से देखने पर]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 2/36
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 2/36 विशेषार्थ (2) त्रिलोकसार, गाथा-159 विशेषार्थ
3. तिलोयपण्णत्ती, 2/37
4. (1) पणदालं लक्खाणिं पढमो चरिमिंदओ वि इगि लक्खं..। -ति.प, 2/105 (2) हरिवंश पुराण, 4/171, 217
5. (1) **पढमम्हि इंदयम्हि य, दिसासु उणवण्ण सेढिबद्धा य।**
   अडदालं विदिसासु विदियादिसु एक्क-परिहीणा।। - ति. प., 2/38
   (2) हरिवंश पुराण, 4/87 (3) ...**उणवण्णडदालादी एक्केक्केणूणया कमसो।** - त्रिलोकसार, गाथा-153

पहली पृथ्वी पर इन्द्रक व श्रेणीबद्ध बिलों की कुल संख्या चार हजार चार सौ तेतीस (4,433) है। **दूसरी** पृथ्वी पर दो हजार छह सौ पंचानवे (2,695) इन्द्रक व श्रेणीबद्ध बिल हैं। **तीसरी** पृथ्वी पर इन्द्रक व श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या कुल एक हजार चार सौ पिच्यासी (1,485) और **चौथी** पृथ्वी पर सात सौ सात (707) है। **पाँचवीं** पृथ्वी के सभी पटलों में कुल दो सौ पैंसठ (265) और **छठी** में तिरेसठ (63) इन्द्रक व श्रेणीबद्ध बिल हैं तथा अन्तिम **सातवीं** पृथ्वी में सिर्फ पाँच ही बिल हैं।[1]

प्रकीर्णक बिल – इनकी संख्या बताते हुये आचार्य यतिवृषभ एक संक्षिप्त नियम बताते हैं। उनका कहना है कि नरक पृथ्वियों पर तीन प्रकार के बिल हैं। हमें प्रत्येक पृथ्वी के कुल बिलों की संख्या पता है तथा उन पर स्थित इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या भी बताई जा चुकी है, अब बची हुई संख्या प्रकीर्णक बिलों की होगी। उनका मूल कथन इसप्रकार है –

पत्तेयं रयणादी सव्व बिलाणं ठवेज्ज परिसंखं।
णिय-णिय-सेढीबद्ध य इंदय-रहिदा पइण्णया होंति।।[2]

अर्थात् रत्नप्रभा आदि प्रत्येक पृथ्वी के कुल बिलों की संख्या में से इन्द्रक व श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या घटा देने पर शेष उस पृथ्वी के प्रकीर्णक बिलों का प्रमाण आ जाता है। छह पृथ्वियों के प्रकीर्णकों की पृथक्-पृथक् संख्या **तिलोयपण्णत्ती**[3] में सात गाथाओं के माध्यम से दी गई है। सातवीं पृथ्वी के बारे में आचार्य यतिवृषभ कहते हैं- **'सत्तमिए पइण्णया णत्थि णियमेणं'**[4] अर्थात् सातवीं पृथ्वी में नियम से प्रकीर्णक बिल नहीं है। वहाँ कुल पाँच ही बिल हैं।

---

1. (1) हरिवंश पुराण, 4/103, 116, 127, 136, 143, 148, 150
   (2) त्रिलोकसार, गाथा-164 विशेषार्थ, पृ.166
   (3) ति.प. 2/87-93
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, बिदिओ महाधियारो, गाथा-87
   (2) **सेढीणं विच्चाले पुप्फपइण्णय इव ट्ठिया णिरया।**
   होंति पइण्णयणामा सेढिंदयहीणरासिसमा।। - त्रि.सा., गाथा-166
3. तिलोयपण्णत्ती, 2/88-94
4. वहीं, 2/93

नरक बिलों का विस्तार – बिल शब्द सुनते ही हम चींटियों, चूहों अथवा सर्प के बिलों की कल्पना करने लगते हैं। यहाँ नारकियों के रहने के स्थान रूप बिल इतने छोटे नहीं हैं, उनका विस्तार योजनों में कहा गया है। **सामान्य से इन्द्रक बिलों का विस्तार संख्यात योजन,** श्रेणीबद्ध बिलों का विस्तार **असंख्यात योजन** और प्रकीर्णक बिलों का विस्तार उभयमिश्र अर्थात् कुछ का संख्यात और कुछ का असंख्यात योजन है।

प्रत्येक पृथ्वी एवं पटल पर स्थित इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों का पृथक्-पृथक् विस्तार, सात नरक पृथ्वियों के इन्द्रकों के नाम एवं सभी बिलों के परस्पर अन्तराल आदि की विस्तृत चर्चा तिलोयपण्णत्ती[1] में लगभग 100 गाथाओं के माध्यम से की गई है।

ये सभी नरक बिल वज्र के समान सघन दीवारों वाले हैं। इनका आकार गोल, तिकोन, चौकोर आदि अनेक प्रकार का है। ये बिल अनेक प्रकार से दु:ख देने वाली सामग्री से भरे हुये हैं।[2]

नरक पृथ्वियों में आयु, ऊँचाई एवं अवधिज्ञान –

नारकियों की आयु – नरक में जन्म लेनेवाले जीवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु अर्थात् वहाँ रहने के काल की चर्चा पृथ्वियों के हिसाब से की गई है। 'प्रथम पृथ्वी से सातवीं पृथ्वी तक अंतिम इन्द्रक बिलों के नारकियों की उत्कृष्ट आयु क्रमश: 1, 3, 7, 10, 17, 22 और 33 सागरोपम है।[3] प्रथम पृथ्वी की उत्कृष्ट आयु दूसरी पृथ्वी की जघन्य आयु है। इस प्रकार सातवीं पृथ्वी तक जानना चाहिये। प्रथम पृथ्वी पर जघन्य आयु 10,000 वर्ष है।[4]

यही क्रम प्रत्येक पृथ्वी के पटलों पर भी लागू होता है, यथा – प्रथम पृथ्वी के प्रथम पटल पर स्थित सीमन्तक नामक इन्द्रक में जघन्य आयु 10,000 वर्ष और उत्कृष्ट आयु 90,000 वर्ष है; जबकि दूसरे पटल के निरय नामक इन्द्रक बिल में जघन्य आयु 90,000 वर्ष एक समय एवं उत्कृष्ट आयु 90 लाख वर्ष है।[5]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 2/97-195
2. त्रिलोकसार, गाथा-177
3. (1) **तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः।** – तत्त्वार्थसूत्र, 3/6
   (2) **एक्कत्तिण्णि य सत्तं दह सत्तारह दुवीस तेत्तीसा।**
   रयणादी चरिमिंदय जेट्ठाऊ उवहि उवमाणा।। – ति. प., 2/204
4. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35 टीका, पृ.136
5. **दस-णउदि सहस्साणिं आऊ अवरो वरो य सीमंते।**
   वरिसाणि णउदि-लक्खा णिर-इंदय-आउ-उक्कस्सो।। – ति. प., 2/205

जो इन्द्रक बिल के नारकियों की उत्कृष्ट आयु है, वही उस पटल पर स्थित श्रेणीबद्ध एवं प्रकीर्णक बिलों में उत्कृष्ट आयु समझना चाहिये।[1]

यहाँ आयु पूरी होने के पहले किसी भी स्थिति में मरण नहीं होता। वहाँ जन्म लेने के पश्चात् आयु अपवर्तन रहित है। आचार्य उमास्वामी इस संदर्भ में कहते हैं- **'देवनारकाणाम् उपपादः'**[2] अर्थात् देवों और नारकियों का उपपाद जन्म होता है तथा जिनका उपपाद जन्म होता है, उनकी आयु का अपवर्तन/अकाल मरण/आयु की उदीरणा नहीं होती। उन्हीं के शब्दों में -

'औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।'[3]

आचार्य नेमीचन्द्रस्वामी इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुये लिखते हैं-

सम्पूर्ण शरीर को हजारों बार छिन्न-भिन्न कर देने पर भी उन नारकियों का अकाल मरण नहीं होता। पारे के कणों के सदृश नारकी जीवों के शरीर के टुकड़े भी संघात को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् पुनः मिल जाते हैं।[4]

इसप्रकार यह कहा जा सकता है कि जितनी आयु लेकर जीव नरक में जन्म लेता है, उतनी आयु उसे वहाँ पूरी करनी ही पड़ती है।

आयु पूरी होने के पश्चात् उन नारकियों का सम्पूर्ण शरीर पवन से ताड़ित मेघ पटल के समान विलय को प्राप्त हो जाता है।[5] अर्थात् बादलों के समान विघटित हो जाता है।

नारकियों का शरीर - नारकी जीवों के शरीर का आकार मनुष्य गति के जीवों के समान ही होता है, वे सभी नियम से नपुंसक[6] ही होते हैं। मनुष्यों का शरीर औदारिक होता है, जबकि नारकियों का वैक्रियिक होता है। आचार्य उमास्वामी कहते हैं- **'देवनारकाणामुपपादः'**[7] तथा **'औपपादिकं वैक्रियकं'**[8] अर्थात् देवों एवं नारकियों का उपपाद जन्म होता है और जिनका उपपाद जन्म होता है, वे वैक्रियक शरीरवाले होते हैं। उनके शरीर की ऊँचाई मनुष्यों की तुलना में बहुत दीर्घ है। नीचे-नीचे पृथ्वियों एवं पटलों में ऊँचाई उत्तरोत्तर बढ़ती गई है।

---

1. **एवं सत्त खिदीणं पत्तेक्कं इंदयाण जो आऊ।**
   सेढि विसेढि गदाणं सो चेय पइण्णयाणं पि।। - ति.प., 2/216
2. तत्त्वार्थसूत्र, 2/34
3. वहीं, 2/53
4. त्रिलोकसार, गाथा-194
5. त्रिलोकसार, गाथा-196
6. नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकानि। - तत्त्वार्थसूत्र, 2/50
7. तत्त्वार्थसूत्र, 2/34
8. वहीं, 2/46

प्रथम सीमन्तक नामक पटल[1] में सभी नारकियों के शरीर की ऊँचाई 3 हाथ है, जो बढ़ते-बढ़ते प्रथम पृथ्वी के तेरहवें पटल में सात धनुष तीन हाथ और छह अंगुल हो गई। शेष पृथ्वियों के अन्तिम इन्द्रक में क्रमशः उत्तरोत्तर इससे दुगुनी-दुगुनी शरीर की अवगाहना है।[2] अर्थात् प्रथम पृथ्वी के अन्तिम इन्द्रक बिल में शरीर की ऊँचाई से दुगुनी शरीर की ऊँचाई दूसरी पृथ्वी के अंतिम इन्द्रक बिल के नारकियों की है तथा दूसरी पृथ्वी के अंतिम इन्द्रक के नारकियों से दुगुनी ऊँचाई तीसरी पृथ्वी के अंतिम इन्द्रक के नारकियों की है, इसीप्रकार सातवीं पृथ्वी तक दुगुनी-दुगुनी होती गई है। सातवीं पृथ्वी पर सभी नारकियों के शरीर की ऊँचाई उत्कृष्ट ही है, उसका प्रमाण 500 धनुष है।[3] इन्द्रक बिलों में रहनेवाले नारकियों के शरीर की उत्कृष्ट ऊँचाई जितनी है, उतनी ही उस पटल पर स्थित श्रेणीबद्ध एवं प्रकीर्णक बिलों में भी है।

यहाँ नारकियों के शरीर की ऊँचाई का प्रमाण धनुष में व्यक्त किया गया है। एक धनुष चार हाथ का होता है और एक हाथ लगभग सवा फीट का - इसप्रकार एक धनुष का अर्थ लगभग 5 फीट समझना चाहिये।

सभी पृथ्वियों के पृथक्-पृथक् पटलों में नारकियों के शरीर की ऊँचाई **हरिवंश पुराण**[4] में 45 श्लोकों में तथा **तिलोयपण्णत्ती**[5] में 55 गाथाओं में बहुत विस्तार से बताई गई है।

नारकियों का अवधिज्ञान - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुये रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानना अवधिज्ञान का विषय है।[6] यह दो प्रकार का है- भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। इसमें गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तो क्षयोपशम के निमित्त से होता है तथा भवप्रत्यय अवधिज्ञान का कारण भव है। देवों और नारकियों को नियम से भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है।[7] अर्थात् नरक में

---

1. तिलोयपण्णत्ती की मूल गाथा में **'सीमंतणाम पडलम्मि'** शब्द का प्रयोग किया गया है, जबकि सीमन्तक प्रथम पटल का नहीं, प्रथम इन्द्रक का नाम है। - तिलोयपण्णत्ती, 2/218
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 2/217-218 (2) बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35 टीका, पृ.135
   (3) त्रिलोकसार, गाथा-201
3. तिलोयपण्णत्ती, 2/270
4. हरिवंश पुराण, 4/295-339
5. तिलोयपण्णत्ती, 2/217-271
6. 'रूपिष्ववधेः' - तत्त्वार्थसूत्र, 1/27
7. 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' - वही, 1/21

जन्म लेने वाले सभी नारकी नियम से अवधिज्ञानी होते हैं। वहाँ रहनेवाले सभी मिथ्यादृष्टि नारकियों को कुअवधि ज्ञान होता है, जो कि उनके लड़ाई-झगड़े में ही निमित्त बनता है। आचार्य नेमीचन्द्र लिखते हैं- विभंगज्ञान (कुअवधिज्ञान) से पूर्वापर के वैर का संबंध जानकर वे नवीन नारकी भी अशुभ और उन अपृथक् विक्रिया द्वारा उन्हें मारते हैं और उनके द्वारा स्वयं मारे जाते हैं।[1] इनके अवधिज्ञान का क्षेत्र बताते हुये आचार्यों ने कहा है-

रत्नप्रभा पृथ्वी के पटलों में रहने वाले नारकियों के अवधिज्ञान का क्षेत्र एक योजन (4 कोस) मात्र है। इसके आगे प्रत्येक पृथ्वी में उक्त अवधि क्षेत्र में से अर्द्ध-अर्द्ध कोस की कमी होती गई है[2] अर्थात् दूसरी पृथ्वी में साढ़े तीन कोस, तीसरी पृथ्वी में तीन कोस, चौथी पृथ्वी में ढाई कोस, पाँचवीं पृथ्वी में दो कोस, छठी पृथ्वी में डेढ़ कोस और सातवीं पृथ्वी में एक कोस अवधि ज्ञान का क्षेत्र है। यह उनकी मर्यादा है। वे इससे आगे के क्षेत्र की बात को नहीं जान सकते।

नारकियों की जन्मभूमियाँ -

नरक पृथ्वियों पर नारकियों के जन्म लेने के लिये अलग स्थान होते हैं, इनके लिये जन्मभूमियाँ शब्द का प्रयोग किया गया है। इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों के ऊपर अनेक प्रकार की तलवारों से युक्त, अर्द्धवृत्त और अधोमुख वाली नारकियों की जन्मभूमियाँ (उपपाद स्थान) हैं।[3] इनका आकार ऊँट आदि के मुख सदृश होता है। ये जन्मस्थान ऊपर होते हैं।[4] ये जन्मभूमियाँ सभी पृथ्वियों में अलग-अलग आकार वाली और महाभयानक हैं। **प्रथम तीन** पृथ्वियों पर ये जन्मस्थान उष्ट्रिका, कोथली, कुम्भी, मुद्गलिका, मुद्गर, मृदंग और नाली के आकार की हैं। **चौथी-पाँचवीं** पृथ्वी में इनका आकार गाय, हाथी, घोड़ा, भस्त्रा, अब्जपुट, अम्बरीष (भड़भूंजा के भाड़) और द्रोणी (नाव) जैसा है। **छठी-सातवीं** पृथ्वी में इनका आकार झालर, मल्लक (पात्र विशेष), बाँस का बना पात्र, केयूर, मसूर, शाणक, किलिंज (तृण की बनी टोकरी), ध्वज, द्वीपी, चक्रवाल, शृगाल, अज, खर, करभ, संदोलक (झूला) और रीछ के सदृश है। ये सभी भूमियाँ अन्त में करोंत के सदृश, चारों ओर से गोल, वज्रमय, कठोर और भयंकर हैं।[5]

---

1. त्रिलोकसार, गाथा-184
2. (1) **रयणप्पहावणीए कोसा चत्तारि ओहिणाण खिदी।**
   तप्परदो पत्तेक्कं परिहाणी गाउदद्धेण।। - ति. प., 2/272
   (2) त्रिलोकसार, गाथा-202
3. तिलोयपण्णत्ती, 2/303
4. त्रिलोकसार, गाथा-179
5. तिलोयपण्णत्ती, 2/304-308

नारकी जीव पाप के उदय से नरक बिल में उत्पन्न होकर एक अन्तर्मुहूर्त मात्र काल में ही छह पर्याप्तियों को पूर्ण कर आकस्मिक भय से युक्त होता है, पश्चात् भय से कांपता हुआ बड़े कष्ट से चलने के लिये प्रस्तुत होकर 36 आयुधों के मध्य गिरकर, वहाँ से गेंद के समान उछलता है। प्रथम पृथ्वी में जीव सात उत्सेध योजन और छह हजार पाँच सौ धनुष प्रमाण ऊपर उछलता है। इसके आगे शेष पृथ्वियों में उछलने का प्रमाण क्रम से उत्तरोत्तर दुगुना-दुगुना है।[1] अन्तिम **सातवीं पृथ्वी** में भूमि को स्पर्श करने मात्र से जीव 500 योजन उछलता है। उछलने का कारण भी वहाँ की भूमि के स्पर्श मात्र से होने वाली अत्यन्त वेदना है।

नारकियों के दु:ख –

'न रत: इति नारक:' – इसप्रकार नरक शब्द की व्युत्पत्ति है। अर्थात् जहाँ जीव को न रुचे, जहाँ जीव रहना पसंद न करे, वह नरक है। वहाँ के अति-भयानक दु:खों का वर्णन करते हुये **आचार्य यतिवृषभ तिलोयपण्णत्ती**[2] में विस्तार से लिखते हैं कि जिसप्रकार दुष्ट व्याघ्र मृग के बच्चे को देखकर उसके ऊपर टूट पड़ता है, उसीप्रकार क्रूर पुराने नारकी नवीन नारकी को देखकर धमकाते हुये उसकी ओर दौड़ते हैं। जिसप्रकार कुत्तों के झुण्ड एक-दूसरे को दारुण दु:ख देते हैं, उसीप्रकार नारकी नित्य ही परस्पर दुस्सह पीड़ा दिया करते हैं। वे नारकी जीव सदैव आपस में एक-दूसरे के लिये चक्र, बाण, शूली, तोमर, मुद्गर, करोंत, भाला, सुई, मूसल और तलवार आदि शस्त्र, अस्त्र, वन एवं पर्वत की आग तथा भेड़िया, व्याघ्र, तरक्ष, शृगाल, कुत्ता, बिलाव और सिंह आदि पशुओं एवं पक्षियों के समान अपने-अपने **शरीर की विक्रिया** किया करते हैं। ये नारकी गहरे बिल, धुआँ, वायु, खप्पर, यन्त्र, चूल्हा, चक्की, बर्छी आदि के आकार रूप तथा दूसरों को दु:ख देने के लिये दावानल, अग्नि, सड़े रक्त और कीड़ों से युक्त नदी, सरोवर, कूप और वापी आदि रूप से भी अपने-अपने शरीर की ही विक्रिया करते हैं। **इन नारकियों के पृथक् विक्रिया नहीं होती है, अपृथक् विक्रिया ही होती है।**

कोई नारकी व्याघ्र, सिंहादिक बनकर अन्य नारकी को खाने लगते हैं। कोई नारकी किसी नारकी द्वारा हजारों यन्त्रों में पेले जाते हैं। कोई किसी को खम्भों में बांधकर लोहे के संबल से मारते हैं, कोई जाज्वल्यमान दुष्प्रेक्ष्य अग्नि में फेंके जाते हैं, कोई नारकी आरों से

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, गाथा-314-316 (2) त्रिलोकसार, गाथा-181-182
2. तिलोयपण्णत्ती, 2/317-344

चीरे जाते हैं, कोई भयंकर भालों से बेधे जाते हैं। कितने ही नारकी जीव लोहे की कड़ाइयों के तपे हुये तेल में डाले जाते हैं, और कितने ही अग्नि में तपाये जाते हैं। कभी-कभी कोयले और उपलों की आग में झुलसे हुये ये नारकी जीव शीतल जल समझकर वैतरणी नदी में प्रवेश करते हैं। उसमें उनका शरीर अनेक रोगों से पूर्ण हो जाता है; क्योंकि वह वैतरणी सड़े हुए खून-पीव से भरी और असंख्य जीवों से व्याप्त रहती है। वहाँ के नारकी ही इन विक्रियाओं को करते हैं; क्योंकि वहाँ पर विकलत्रय जीव पैदा नहीं होते हैं। उस वैतरणी में कैंची के समान तीक्ष्ण जल के आकार से परिणत हुए नारकी अन्य नारकियों के शरीरों को दुस्सह अनेक प्रकार की पीड़ा पहुँचाते हैं। वैतरणी नदी के जल में नारकी कछुआ, मेंढक और मगर प्रभृति जल जीवों के विविध रूपों को धारण कर एक-दूसरे का भक्षण करते हैं।

पश्चात् वे नारकी विस्तीर्ण शिलाओं के बीच में बिलों को देखकर झटपट उनमें प्रवेश करते हैं, परन्तु वहाँ पर सहसा विशाल ज्वालाओं वाली महान अग्नि उठती है, जिससे उन नारकियों के सम्पूर्ण अंग जल जाते हैं। पुन: वे ही नारकी शीतल छाया की आशा से असिपत्र वन में प्रवेश करते हैं। वहाँ पर भी वज्रदण्ड और तलवार की धार के समान पैने उन वृक्षों के पत्ते नारकियों के शरीर को विदीर्ण करके खण्ड-खण्ड कर देते हैं। उसीप्रकार से वहाँ चक्र, बाण, तोमर, मुद्गर, तलवार, भाला, मूसल तथा और भी अस्त्र-शस्त्र उनके सिर पर गिरते हैं, अनन्तर जिनके शिर छिद गये हैं, हाथ, पैर आदि अंग खण्डित हो गये हैं, जिनके नेत्र और आंतों के समूह बाहर निकल पड़े हैं - ऐसे वे नारकी अशरण होकर उस वन को छोड़कर भागते हैं। तब गृद्ध, गरुड़, काक आदि वज्रमय मुख वाले व तीक्ष्ण दांतोंवाले पक्षी बन करके नारकी उन नारकियों के शरीर का भक्षण करने लगते हैं। कोई-कोई नारकी उन नारकियों के अंग और उपांगों को प्रचण्डघातों से चूर्णकर घावों पर क्षार पदार्थ-तेजाब आदि डाल देते हैं। घावों में क्षार पदार्थों के डालने से वे नारकी करुणापूर्ण विलाप करते हैं और दु:ख देनेवाले नारकी के चरणों में पड़ते हैं, फिर भी वे निर्दयी नारकी उन्हें खण्ड-खण्ड करके चूल्हे में डाल देते हैं।

कोई नारकी परस्त्री में आसक्त होने वालों के शरीरों से तप्तायमान लोहपुतली को चिपका देते हैं। पूर्व भव में मांस भक्षण करनेवाले के शरीर के मांस को काट-काटकर कोई दूसरे नारकी उन्हीं के मुख में जबरन डालते हैं। मधु और मद्य के सेवन करनेवाले प्राणियों को अन्य नारकी अत्यन्त तपे हुये द्रवित लोहे को जबरदस्ती पिला देते हैं, जिससे उनके

संतप्त अवयव समूह भी पिघल जाते हैं। जिसप्रकार तलवार के प्रहार से भिन्न हुआ कुएँ का जल फिर वापस मिल जाता है, उसीप्रकार अनेकानेक शस्त्रों से छिन्न-भिन्न किया गया नारकियों का शरीर भी फिर से मिल जाता है। तात्पर्य यह है कि आयु पूरी हुये बिना मरण नहीं होता।

हजारों बिच्छुओं के एक साथ काटने पर जो वेदना होती है, उससे भी अधिक वेदना नरक की भूमि को स्पर्श करने मात्र से होती है।[1] उन नारकियों को उदर, नेत्र एवं मस्तक आदि के रोगों से उत्पन्न तीव्र वेदना तथा भूख, प्यास, भय आदि की तीव्र बाधाएँ होती है।[2] उन्हें इतनी तीव्र भूख-प्यास लगती है कि तीन लोक का सारा अनाज एक साथ खा जायें तो भी क्षुधा शान्त न हो तथा समुद्रभर पानी पीने से भी तृषा शान्त न हो; तथापि खाने को अन्न का दाना तथा पीने को एक बूंद पानी भी नहीं मिलता।[3]

यदि नारकियों को भोजन, पानी नहीं मिलता तो वे क्या खाते हैं?

इसका उत्तर देते हुये **आचार्य नेमीचन्द्रस्वामी**[4] कहते हैं- प्रथम धम्मा पृथ्वी में उत्पन्न हुए नारकी जीव श्वानादि निकृष्ट प्राणियों के सड़े हुए कलेवरों की दुर्गंध से भी अधिक दुर्गंधवाली मिट्टी खाते हैं। वह दुर्गंधित मिट्टी भी उन्हें अपनी भूख प्रमाण नहीं मिलती अर्थात् अल्प मात्रा में ही मिलती है, जिससे क्षुधा शांत नहीं होती। वंशादि पृथ्वियों (दूसरे नरक) के नारकी इससे भी असंख्यातगुणी अशुभ मिट्टी का भक्षण करते हैं।

मिट्टी की दुर्गंध का वर्णन करते हुये **आचार्य यतिवृषभ** कहते हैं कि धम्मा पृथ्वी की मिट्टी की गंध से यहाँ मध्यलोक में एक कोस के भीतर स्थित जीव मर सकते हैं, इसके आगे शेष दूसरी आदि **पृथ्वियों** में इसकी घातक शक्ति आधा-आधा कोस और भी बढ़ती गयी है।[5]

आचार्य नेमीचन्द्रस्वामी तो इस घातक शक्ति को पृथ्वियों में बढ़ता न कहकर **'पत्थरक्कमदो'** अर्थात् प्रत्येक प्रस्तर/पटल में बढ़ता हुआ कहते हैं- यदि पहले नरक के पहले पटल की थोड़ी-बहुत मिट्टी भी मनुष्य क्षेत्र में डाल दी जाये तो वह अपनी दुर्गंध से आधे

---

1. छहढाला, 1/9
2. त्रिलोकसार, गाथा-191
3. छहढाला, 1/11-12
4. त्रिलोकसार, गाथा-192
5. तिलोयपण्णत्ती, 2/349

कोस के जीवों को मार डालेगी। इसीप्रकार **प्रत्येक पटल** में नारकियों के आहार की मिट्टी क्रम से आधा-आधा कोस अधिक मनुष्य क्षेत्र के जीवों को मारने में समर्थ है।[1]

नरकों में कुल 49 पटल हैं। अत: कह सकते हैं कि सातवें नरक की मिट्टी की दुर्गंध साढ़े चौबीस कोस तक के जीवों को मारने की क्षमता रखती है।

नारकी जीव हमेशा ही अत्यन्त अशुभ लेश्या, अशुभ परिणाम, अशुभ शरीर, वेदना और अशुभ विक्रिया के धारक होते हैं। वे कुत्तों की तरह लड़ते हैं और परस्पर में दु:ख देते हैं।[2] साथ ही वहाँ पंक भाग में रहनेवाले संक्लेश परिणामवाले असुरकुमार जाति के देव तीसरे नरक तक जाकर वहाँ के नारकियों को पूर्व भव का वैर स्मरण दिलाकर लड़ाते हैं।[3] जिसप्रकार मनुष्य क्षेत्र में लोग कुश्ती (डब्ल्यू डब्ल्यू एफ), मैंढे और भैंसे आदि के युद्ध को प्रसन्नचित्त होकर देखते हैं, उसीप्रकार नरक में असुरकुमार जाति के देव नारकियों को लड़ाकर या उन्हें दु:खी होता देखकर मन में सन्तुष्ट होते हैं।[4]

नरकों में मुख्य रूप से पाँच प्रकार के दु:ख हैं- **क्षेत्रसम्बन्धी, मानसिक, शारीरिक, परस्परोदीरित और असुरकृत।**[5] बाहरी सर्दी, गर्मी, दुर्गंध आदि से उत्पन्न दु:ख **क्षेत्र** संबंधी हैं। संक्लेश परिणामों से उत्पन्न होनेवाला आर्त-रौद्रादि ध्यान **मानसिक** दु:ख है। शरीर में नाना प्रकार के रोगादि से उत्पन्न वेदना **शारीरिक** दु:ख है तथा तीसरे नरक पर्यंत असुरकुमार जाति के भवनवासी देवों द्वारा उत्पन्न दु:ख **असुरकृत** है। आपस में एक-दूसरे को पीड़ित करना **परस्परोदीरित** है।

इसप्रकार सभी नारकी जीव भवस्थिति (आयु) के चरम समय पर्यंत यथावसर क्षेत्रजनित, मानसिक, शारीरिक और असुरकृत असाता/ दु:ख भोगते हैं।[6] दु:खों में रचे-पचे नारकियों को क्षणमात्र के लिये भी सुख नहीं है; उनके दु:ख दारुण बढ़ते ही रहते हैं।[7] नारकी जीवों को नेत्रों की पलक झपकने जितनी देर के लिये भी सुख नहीं है, वे सर्वदा दु:ख से ही अनुबद्ध हैं। रात-दिन दु:ख रूपी अग्नि में ही जलते रहते हैं।[8]

---

1. त्रिलोकसार, गाथा-193
2. 'नारका नित्याऽशुभतर-लेश्या-परिणामदेह-वेदना-विक्रिया:'
   'परस्परोदीरितदु:खा:' - तत्त्वार्थसूत्र, 3/3-4
3. 'संक्लिष्टासुरोदीरित-दु:खाश्च प्राक्चतुर्थ्या:' - वही, 3/5
4. तिलोयपण्णत्ती, 2/353
5. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, संसार अनुप्रेक्षा, गाथा-35
6. त्रिलोकसार, गाथा-197
7. तिलोयपण्णत्ती, 2/355
8. त्रिलोकसार, गाथा-207

इसप्रकार पूर्व में किये गये दोषों से जीव नाना प्रकार के दु:ख प्राप्त करते हैं, उनके दु:खों का वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं है। उन दु:खों को वे ही भोगते हैं तथा केवली ही जानते हैं।

नरक जाने के मुख्य कारण –

इस जीव के पाप कर्मों का फल भोगने का स्थान है– नरक। विविध प्रकार के पापों का फल यह जीव नरक में जाकर भोगता है। नरक आयु के बंध के कारणों की चर्चा करते हुये आचार्य उमास्वामी लिखते हैं–

'बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुष:'[1]

अर्थात् बहुत आरंभ एवं बहुत परिग्रह का भाव नरक आयु के आस्रव का मुख्य कारण है। इसीप्रकार की बात आचार्य नेमीचन्द्र भी कहते हैं– अधिक आरम्भ और परिग्रह के कारण नरकायु का बन्ध करनेवाले जीव ही नरक बिलों में जन्म लेते हैं।[2]

इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि बाह्य वैभव की अधिकता नरक का कारण है, अन्यथा सभी सम्पन्न व्यक्ति नरक में जायेंगे। **आचार्य जिनसेन**[3] तीव्र मिथ्यात्व से संबद्ध आरंभ–परिग्रह को नरक का कारण बताते हैं। परिग्रह की व्याख्या करते हुये **आचार्य उमास्वामी** मूर्च्छा[4] परिणाम को परिग्रह बताते हैं और मूर्च्छा की व्याख्या करते हुये **आचार्य अमृतचन्द्र** कहते हैं कि– **'मूर्च्छा तु ममत्व परिणाम:'**[5] अर्थात् पराई वस्तुओं के प्रति होनेवाला मोह/ममत्व भाव ही मूर्च्छा है और वही परिग्रह है। इसे ही नरक आयु के आस्रव का मुख्य कारण कहा गया है। परिग्रह 24 प्रकार का है, जिसमें मिथ्यात्व, क्रोधादि सभी विकार समाहित हैं। **नरक का मूल कारण भी बाह्य परिग्रह नहीं; अपितु अंतरंग विकार ही है।**

नरक गति में उत्पन्न होने के कारणों की चर्चा करते हुये आचार्य यतिवृषभ कहते हैं– जो मनुष्य मद्य, मांस, जीव घात एवं शिकार में अनुरक्त होकर क्षणमात्र के सुख के लिये पाप उत्पन्न करते हैं, लोभ, क्रोध, भय अथवा मोह के बल से असत्य वचन बोलते हैं, वे निरन्तर

---

1. तत्त्वार्थसूत्र, 6/15
2. त्रिलोकसार, गाथा–179
3. 'तीव्रमिथ्यात्वसंबंद्धा बहुआरम्भपरिग्रहा:...' – हरिवंश पुराण, 4/372
4. 'मूर्च्छा परिग्रह:' – तत्त्वार्थसूत्र, 7/17
5. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक–111

भय उत्पन्न करनेवाले, महाकष्टदायक, अत्यन्त भयानक नरक में पड़ते हैं।[1] सेंध लगाकर, प्रियजन को मारकर पट्टादिक को ग्रहण करनेवाले, धनादि का हरण करनेवाले, अन्य सैकड़ों अन्याय करनेवाले, लज्जा से रहित, काम से उन्मत्त, जवानी में मस्त, परस्त्री में आसक्त और रात-दिन मैथुन का सेवन करने वाले प्राणी नरकों में जाकर घोर दु:ख प्राप्त करते हैं।[2] इसी बात को और आगे बढ़ाते हुये वे लिखते हैं- पुत्र, स्त्री, स्वजन और मित्र के जीवनार्थ जो लोग दूसरों को ठगते हुए अपनी तृष्णा बढ़ाते हैं तथा पर के धन का हरण करते हैं, वे तीव्र दु:ख को उत्पन्न करनेवाले नरक में जाते हैं।[3]

आचार्य पूज्यपाद[4] मरते समय कृष्ण लेश्या और रौद्र ध्यान का होना नरक आयु के आस्रव का कारण बताते हैं। **संक्षेप में कहें तो पाँचों पापों में अतिलिप्तता तथा उनमें आनंद मानना (रौद्रध्यान) नरक में जाने का कारण है।**

दु:ख का मूल कारण एवं नरकों में सम्यक्त्व –

नरक में मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्दृष्टि दोनों प्रकार के जीव होते हैं। विपरीत मान्यता, उल्टी श्रद्धा से युक्त मिथ्यादृष्टि तथा पदार्थ का सत्य श्रद्धानी सम्यग्दृष्टि है। वहाँ दोनों साथ रहते हैं तथापि मिथ्यादृष्टि दु:खी एवं सम्यग्दृष्टि सुखी है।

दु:ख का मूल कारण मिथ्यात्व – दु:ख का मूल कारण बाहरी परिस्थितियाँ नहीं हैं, अपितु इस जीव की स्वयं की विपरीत मान्यता है। यद्यपि नरक क्षेत्र एवं वहाँ का वातावरण बहुत प्रतिकूल है; तथापि वह इस जीव को दु:ख देने में समर्थ नहीं है। पाप कर्म का उदय मात्र इस जीव के दु:ख का कारण नहीं होता।

वहाँ प्रत्येक नरक में असंख्यात जीव सम्यग्दृष्टि हैं। नरक में रहते हुये सम्यग्दृष्टि जीवों की दशा का चित्रण करते हुये **पण्डित दौलतरामजी** अपने प्रसिद्ध भजन में कहते हैं-

चिन्मूरत दृगधारी की मोहे, रीति लगत है अटापटी।
बाहर नारकिकृत दु:ख भोगै, अन्तर सुखरस गटागटी।।[5]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 2/366-367
2. वहीं, 2/368-369
3. वहीं, 2/370
4. सर्वार्थसिद्धि, 6/15/638
5. दौलत भजन सौरभ, भजन-75, पृष्ठ-111

अर्थात् बाहर में नरक परिस्थितियों को भोगता हुआ दिखने पर भी ज्ञानी अपने चैतन्यमूर्ति आत्मा पर ही दृष्टि होने से अन्तर में सदा सुखरस का पान किया करता है।

वहाँ तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति सहित जीवों को नरक आयु में अन्तिम छह माह शेष रहने पर देवगण परकोटा बनाकर उनकी रक्षा करते हैं। इस संदर्भ में **आचार्य नेमीचन्द्रदेव** लिखते हैं–

'तित्थयरसंतकम्मुवसग्गं णिरए णिवारयंति सुरा।
छम्मासाउगसेसेसग्गे अमलाणमालंको।।'[1]

अर्थात् नरक में जिन नारकी जीवों के तीर्थंकर नाम कर्म सत्ता में है, उनकी आयु के छह माह शेष रहने पर देवगण उन नारकियों का उपसर्ग निवारण[2] कर देते हैं। वे तीर्थंकर के जीव वहाँ दु:खी नहीं होते। जो जीव वहाँ रहकर उन परिस्थितियों से तन्मय होते हैं, वे ही दु:खी होते हैं। वास्तव में नरक में भोगे जाने वाले घोर प्रतिकूलताओंजन्य दु:ख का मूलकारण तो मिथ्यात्व ही है।

नरक में सम्यक्त्व प्राप्ति के कारण – नरक के घोर प्रतिकूल वातावरण में भी यह जीव अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ के बल पर सम्यक्त्व की प्राप्ति जैसा उत्कृष्ट कार्य कर सकता है।

धम्मा आदि तीन पृथ्वियों में मिथ्यात्वभाव से संयुक्त नारकियों में से कोई जातिस्मरण से, कोई दुर्वार वेदना से और कोई देवों के मुख से धर्मकथा आदि का श्रवणकर अनन्त भवों को चूर्ण करने में निमित्तभूत सम्यग्दर्शन को ग्रहण करते हैं।[3] पंकप्रभा आदि शेष चार पृथ्वियों के नारकी जीव देवकृत उपदेश के बिना जातिस्मरण और वेदना के अनुभव से सम्यग्दर्शन ग्रहण करते हैं।[4]

नरक गति–आगति –

कौनसे जीव कौन–सी नरक पृथ्वी तक जा सकते हैं, तथा यदि वहाँ से निकलकर पुन: वहीं जायें तो अधिकतम कितनी बार जा सकते हैं। कौन–सी नरक पृथ्वी से निकल कर जीव उत्कृष्ट रूप से कौन–सी अवस्था तक पहुँच सकता है। इस सन्दर्भ में भी जैन आगम ग्रन्थों में नियम बताये गये हैं –

---

1. त्रिलोकसार, गाथा–195
2. हरिवंश पुराण, 4/369
3. तिलोयपण्णत्ती, 2/362–363
4. वहीं, 364

कौन–से जीव कौन–से नरक तक – हर प्राणी में इतनी शक्ति नहीं होती कि वह घोर पाप कर सके। नरक पृथ्वियों में जन्म लेने के लिये भी उस जाति की वैसी पात्रता होनी चाहिये।

पहली पृथ्वी के अन्त तक असंज्ञी तथा पहली और दूसरी पृथ्वी में सरीसर्प जाता है। पहली से तीसरी पृथ्वी तक पक्षी एवं चौथी पृथ्वी तक भुजंग (सर्प) आदि उत्पन्न होते हैं। पाँचवीं पृथ्वी तक सिंह, छठी पृथ्वी तक स्त्री और सातवीं भूमि तक मत्स्य एवं मनुष्य (पुरुष) ही जाते हैं।[1]

नरक पृथ्वी पर अधिकतम निरन्तर जन्म – कोई भी जीव नरक पृथ्वियों में उत्कृष्ट रूप से कितनी बार जन्म ले सकते हैं, इसके संदर्भ में भी नियम बताया गया है– असंज्ञी, सरीसर्प, पक्षी, सर्प, सिंह, स्त्री तथा मत्स्य व मनुष्य प्रथमादि पृथ्वियों में अनुक्रम से उत्पन्न हों तो अधिकतम पहली पृथ्वी में आठ बार, दूसरी में सात बार – इसप्रकार अंतिम सातवीं पृथ्वी में दो बार उत्पन्न हो सकते हैं।[2]

उपरोक्त सातों पृथ्वियों में क्रमानुसार असंज्ञी आदि जीव उत्कृष्ट रूप से यदि निरन्तर उत्पन्न हों तो आठ, सात, छह, पाँच, चार, तीन और दो बार ही उत्पन्न हो सकते हैं, इससे अधिक नहीं। निरन्तर उत्पन्न होने का मतलब है जैसे कोई असंज्ञी जीव मरकर प्रथम नरक में गया। वहाँ से निकलकर उसने संज्ञी पर्याय प्राप्त की, फिर मरकर असंज्ञी हुआ तथा वहाँ से मरकर पुन: प्रथम नरक में गया – यह एक बार हुआ। पुन: वहाँ से निकलकर संज्ञी हुआ, फिर मरकर असंज्ञी हुआ, वहाँ से मरकर पुन: नरक में चला गया, यह दूसरी बार हुआ – इसप्रकार अधिक से अधिक आठ बार जन्म हो सकता है, इससे अधिक नहीं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि **नरक से निकला हुआ कोई भी जीव सीधे असंज्ञी नहीं होता,** इसलिये उसे बीच में संज्ञी पर्याय प्राप्त करनी पड़ी। इसीकारण यहाँ बीच में एक पर्याय का अन्तर होते हुये भी निरन्तर कहा है।

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 2/285-286
   (2) हरिवंश पुराण, 4/373-374
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 2/287
   (2) हरिवंश पुराण, 4/375-377
   (3) त्रिलोकसार, गाथा-205

सरीसर्प, पक्षी, सर्प, सिंह और स्त्री के लिये ऐसा नियम नहीं है, वे बीच में किसी अन्य पर्याय का अन्तर डाले बिना ही सीधे नरक में उत्पन्न हो सकते हैं; क्योंकि ये सभी संज्ञी पंचेन्द्रिय ही हैं। मत्स्य सप्तम नरक जाकर वहाँ से निकल कर पहले गर्भज होगा, फिर मत्स्य होकर मरण कर सप्तम नरक जायेगा; क्योंकि **नरक से निकला जीव सम्मूर्च्छन नहीं होता।** इसीप्रकार मनुष्य मरकर सप्तम नरक गया, मरकर गर्भज तिर्यंच हुआ, फिर मनुष्य हो मरकर पुन: सप्तम नरक जायेगा; क्योंकि **सप्तम नरक से निकला जीव सीधे मनुष्य नहीं होता।** इसीकारण इन दोनों (मत्स्य व मनुष्य) जीवों के बीच में एक पर्याय का अन्तर होते हुये भी निरन्तर कहा है।[1]

नरक से निकलकर जन्म कहाँ – नरक से निकले हुये जीव गर्भज, कर्मभूमिज, संज्ञी एवं पर्याप्तक मनुष्यों और तिर्यंचों में ही जन्म लेते हैं किन्तु सातवीं पृथ्वी से निकला हुआ जीव तो नियम से तिर्यंच ही होता है।[2] यह तो सामान्य नियम बताया। अब प्रत्येक पृथ्वी से निकले हुये जीवों के संबंध में पृथक्-पृथक् नियम बताते हैं कि कौनसी नरक पृथ्वी से निकला जीव सीधे उत्कृष्ट रूप से कौनसी अवस्था को प्राप्त कर सकता है-

कोई भी जीव नरक से निकलकर सीधे नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र और चक्रवर्ती कदापि नहीं होते, किन्तु तीसरी नरक पृथ्वी तक से निकले नारकी सीधे तीर्थंकर हो सकते हैं। चौथी पृथ्वी पर्यंत के नारकी वहाँ से निकलकर चरम-शरीरी, पाँचवीं पृथ्वी तक के जीव सकलसंयमी एवं छठी पृथ्वी तक के नारकी जीव देशव्रती हो सकते हैं। सातवीं पृथ्वी से निकले हुये जीवों में से **विरले ही सम्यक्त्व के धारक** होते हैं।[3]

सम्यक्त्व संबंधी दो मत – सातवीं पृथ्वी से निकले जीवों के सम्यक्त्व के संबंध में दो मत हैं-

(1) आचार्य यतिवृषभ कहते हैं कि **''सम्मत्तधरा केइ चरिमंतं''**[4] अर्थात् कदाचित् कोई जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है।

---

1. त्रिलोकसार, गाथा-205 विशेषार्थ
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 2/290 (2) त्रिलोकसार, गाथा-203
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 2/292-293 (2) हरिवंश पुराण, 4/378-382
   (3) चर्चा शतक, कवित्त-88
4. तिलोयपण्णत्ती, 2/293

(2) आचार्य नेमीचन्द्रस्वामी सप्तम नरक से निकले नारकियों के सम्यक्त्व की बात को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं- **''मिस्सतियं णत्थि णियमेण''**[1] अर्थात् मिश्र आदि तीन की नियम से नास्ति है। उनका कहना है कि सप्तम नरक से निकला कोई भी नारकी नियम से मिश्र, सम्यक्त्व एवं देशव्रत गुणस्थान से युक्त नहीं होता।

पण्डितप्रवर टोडरमलजी त्रिलोकसार की **भाषावचनिका** में नेमीचन्द्र आचार्य की बात का स्पष्टीकरण करते हुये लिखते हैं कि ''सातवीं पृथ्वीतैं निकस्या मिश्रत्रय कहिए मिश्र वा असंयत वा देशसंयत नियम करि न होइ। इहां असंयतपणा निषेध्या तातैं सासादन का भी अभाव जानना।''[2] आशय यह है कि सातवें नरक से निकला कोई भी जीव न तो सम्यक्त्व ही प्राप्त कर सकता है, न पंचम गुणस्थान, न तीसरा, न दूसरा गुणस्थान ही। अर्थात् वह जीव नियम से प्रथम गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि ही होता है।

नरक जन्म-मरण अन्तराल -

प्रत्येक नरक में असंख्यात-असंख्यात नारकी रहते हैं। वहाँ निरन्तर नारकियों का जन्म-मरण भी होता रहता है। फिर भी यदि उत्कृष्ट रूप से कभी एक भी नारकी का जन्म भी न हो तथा मरण भी न हो तो उत्कृष्ट अन्तराल कितना हो सकता है? इसे भी नरक पृथ्वियों के आधार से बताया है -

प्रथमादि पृथ्वियों में उत्कृष्ट रूप से जन्म-मरण के अन्तर का प्रमाण क्रमश: चौबीस मुहूर्त, सात दिन, एक पक्ष, एक माह, दो माह, चार माह और छह माह है।[3]

पहली पृथ्वी में यदि एक भी जीव का जन्म-मरण न हो तो उत्कृष्टरूप से 24 मुहूर्त तक, दूसरी पृथ्वी में सात दिन तक जन्म-मरण न होना संभव है, तीसरी पृथ्वी में एक पक्ष, चौथी पृथ्वी में एक माह, पाँचवीं पृथ्वी में दो माह, छठी पृथ्वी में चार माह तथा सातवीं पृथ्वी में छह माह तक किसी भी जीव का जन्म-मरण नहीं हो तो भी संभव है, किन्तु इसके पश्चात् किसी न किसी जीव का जन्म अथवा मरण नियम से होता ही है।

---

1. त्रिलोकसार, गाथा-204
2. त्रिलोकसार, **भाषा वचनिका**, पृष्ठ-97
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 2/288
   (2) हरिवंश पुराण, 4/370-371
   (3) त्रिलोकसार, गाथा-206

प्रस्तुत अध्याय में की गई इन सभी विषयों की इतनी सूक्ष्म विवेचना को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्यों के पास कोई अलौकिक आंतरिक शक्ति रही होगी, जिसके बल पर उस बैलगाड़ी के जमाने में भी उन्होंने अपने दिव्य ज्ञान से इतने गूढ़, गम्भीर विषयों का वैज्ञानिक विश्लेषण सहजता से कर दिया।

सात नरक पृथ्वियाँ, उनके पटल, बिल, योजनों में उनका विस्तार आदि रचनात्मक विषयों के अस्तित्व पर मैं प्रश्नचिह्न खड़ा करना नहीं चाहता; पर इतना अवश्य कहूँगा कि दर्शायी गई परिस्थितियों वाले क्षेत्र इस लोक में कहाँ हैं? यह हम जैसे क्षयोपशम ज्ञानवालों की पहुँच का विषय नहीं है। भले ही नरकों की सत्ता/अस्तित्व आज के वैज्ञानिक स्वीकार न करते हों; किन्तु लगभग सभी दार्शनिक परम्परायें नरकों की चर्चायें न्यूनाधिक रूप में इसीतरह करती देखी जाती हैं।

यथार्थता तो केवलज्ञान गम्य है; किन्तु इस सम्पूर्ण उल्लेख से हमारे तो **इसी प्रयोजन की सिद्धि होती है कि नरक का वातावरण और वहाँ की घोर यातनाओं की चर्चा सुनकर/पढ़कर हम सप्त व्यसनों से बच सकें। अनीति, अन्याय, बेईमानी और धोखाधड़ी से स्वयं बचें एवं दूसरों को इन महापापों से बचाकर एक सुदृढ़ समाज एवं सभ्य सुसंस्कृत देश की परिकल्पना कर सकें।**

जिनवाणी और समुद्र दोनों ही गहरे हैं, पर दोनों की गहराई में एक फर्क है।
समुद्र की गहराई में इंसान 'डूब' जाता है और जिनवाणी की
गहराई में इंसान 'तर' जाता हैं।

तत्त्वज्ञान वह नागदमनी है, जो मिथ्यात्व का ज़हर चढ़ने नहीं देती।

हम इतने भाग्यशाली हैं कि हमें जिनवाणी सुनने को मिल रही है
और यही भाग्य हमें भगवान बना देगा।

– डॉ. संजीवकुमार गोधा

3

मध्यलोक में जम्बू द्वीप

विगत अध्याय में अधोलोक स्थित नारकियों की चर्चा करने के उपरान्त अब मध्यलोक की चर्चा प्रसंग प्राप्त है। ऊर्ध्व एवं अधोलोक के बीच में होने से इस क्षेत्र को मध्यलोक कहते हैं। इस लोक का विस्तार कितना है? इसमें द्वीप एवं समुद्रों की रचना किसप्रकार है? इत्यादि की संक्षिप्त सामान्य चर्चा के पूर्व यहाँ इस अध्याय में सर्वप्रथम जम्बू द्वीप की भौगोलिक रचना बताई जायेगी।

मध्यलोक का सामान्य स्वरूप –

ऊर्ध्वलोक एवं अधोलोक के बीच में होने से यह मध्य संज्ञा को सार्थक करता हुआ मध्यलोक है। यह मध्यलोक तिर्यक् प्रचय अर्थात् तिरछा फैला हुआ है।[1] इसमें जम्बू द्वीप, लवण समुद्र आदि शुभ नाम वाले असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं।[2]

पहले द्वीप का नाम जम्बू द्वीप है। यह असंख्यात द्वीप समुद्रों में सबसे मध्य में है, जो कि थाली के आकार का है। शेष सभी द्वीप-समुद्र चूड़ी के आकार वाले हैं। तात्पर्य यह है कि सबसे मध्य में जम्बू द्वीप है, फिर उसे चारों ओर से वेष्टित किये (घेरे हुये) लवण समुद्र तथा फिर उसे चारों ओर से घेरे हुये दूसरा द्वीप है। इस प्रकार मध्यलोक में एक-दूसरे को घेरे हुये दुगने-दुगने विस्तार वाले[3] असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं।[4] सभी द्वीप और समुद्र गोलाकार हैं, कोई भी तिकोने, चौकोर, पंचकोने आदि नहीं हैं।[5] उनमें से यहाँ इस अध्याय में पहले जम्बू द्वीप की चर्चा की जा रही है।

---

1. 'मध्यप्रमाण: तिर्यग्विस्तीर्णस्तिर्यग्लोक:' – तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10/पृ.181/पं.5
2. 'जम्बूद्वीप लवणोदादय: शुभनामानो द्वीपसमुद्रा:' – तत्त्वार्थसूत्र, 3/7
3. (1) 'द्विर्द्विर्विष्कम्भा: पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतय:' – तत्त्वार्थसूत्र, 3/8 (2) तिलोयपण्णत्ती, 5/32
4. 'सव्वे दीवसमुद्दा संखादीदा हवंति समवट्टा' – तिलोयपण्णत्ती, 5/8
5. 'आकृतिस्संस्थानम् वलयस्येवाकृतिर्येषा ते वलयाकृतय:, एतेन चतुरस्त्रादि संस्थानान्तरनिवृत्ति: कृता भवति।' – तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/8/पृ.170/पं.15

जम्बू द्वीप की रचना –

मध्यलोक के असंख्यात द्वीप-समुद्रों में से सबसे पहला द्वीप, जम्बू द्वीप है, जो कि सभी द्वीप-समुद्रों के मध्य में स्थित है। रचनात्मक दृष्टि से यहाँ इसकी परिधि, क्षेत्रफल, सात क्षेत्र, पर्वत, सरोवर, नदियों आदि का संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है।

परिधि एवं क्षेत्रफल – यह जम्बू द्वीप एक लाख योजन व्यास वाला गोलाकार है; जिसके मध्य में नाभि के समान मेरु पर्वत है।[1] चूँकि जम्बूद्वीप के चारों ओर परकोटा बना हुआ है; अत: इसकी परिधि भी परकोटे के बाहर तथा भीतर दो प्रकार से है। इसकी बाह्य परिधि तीन लाख, सोलह हजार, दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठाईस धनुष एवं कुछ अधिक साढ़े तेरह अंगुल (3,16,227 यो., 3 कोस, 128 धनुष, साधिक साढ़े 13 अंगुल) है।[2] तथा परकोटे के अभ्यंतर भाग की परिधि तीन लाख सोलह हजार एक सौ बावन (3,16,152) योजन से कुछ कम है।[3] इस जम्बू द्वीप का क्षेत्रफल सात सौ नब्बे करोड़, छप्पन लाख, चौरानवे हजार, एक सौ पचास योजन (790,56,94,150 योजन) है।[4]

जम्बू द्वीप की जगती – यह जैन दर्शन का एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ किसी भी चीज का घेरा या बाउन्ड्री होता है। जम्बू द्वीप के चारों ओर 1/2 योजन मोटा, 8 योजन ऊँचा गोलाकार परकोटा बना हुआ है, जिसे जगती के नाम से जाना जाता है। इस जगती का विस्तार नीचे मूल में 12 योजन, मध्य में 8 योजन एवं शिखर पर 4 योजन है। यह जगती वज्रमय जड़ (नींव) एवं बहुत प्रकार के रत्नों से बनी हुई है।[5]

---

1. (1) 'तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजन शतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीप:' - त.सू., 3/9
   (2) 'महामेरुमहानाभिर्लक्ष्य योजनलक्षया।' - हरिवंश पुराण, 5/3
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/51-52 (2) हरिवंश पुराण, 5/4-5
   (3) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/9/पृ.170/पं.24 (4) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र, 7/209/पृ.395
   (5) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 1/21-22
3. तिलोयपण्णत्ती, 4/70
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/59 (2) हरिवंश पुराण, 5/6-7
   (3) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र, 6/158/पृ.-315 (4) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 1/25
5. (1) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/9/पृ.-170/पंक्ति-26 (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 1/27
   (3) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र, 1/4, पृ.-5

जम्बूद्वीप के इस गोलाकार परकोटे में पूर्व-पश्चिम दिशा में दोनों ओर 7-7 गुफायें बनी हुई हैं,[1] जिनमें से होकर जम्बूद्वीप में बहने वाली 14 महानदियाँ लवण समुद्र में जाकर मिलती हैं।

इसी जगती पर चारों ओर जम्बूद्वीप के प्रसिद्ध चार गोपुर द्वार हैं। पूर्व दिशा में विजय द्वार, दक्षिण दिशा में वैजयन्त द्वार, पश्चिम दिशा में जयन्त द्वार और उत्तर दिशा में अपराजित द्वार है।[2] इन द्वारों की ऊँचाई 8 योजन एवं चौड़ाई 4 योजन है। ये चारों द्वार वज्रमय एवं विचित्र प्रकार के रत्नों की मालाओं से सुसज्जित हैं।[3] सभी गोपुर द्वारों पर अष्ट प्रातिहार्यों से युक्त अरिहंत प्रतिमायें हैं।[4] द्वार अत्यन्त विशाल हैं, उनके ऊपरी भाग में द्वार सदृश नामों वाले देवों के नगर बने हुये हैं, उनका भी सूक्ष्मता से वर्णन जैनाचार्यों ने किया है।

जम्बूद्वीप में षट् कुलाचल – एक लाख योजन विस्तार वाले जम्बूद्वीप को 7 भागों में विभाजित करने वाले **पूर्व-पश्चिम** फैले हुये 6 महापर्वत हैं,[5] जिन्हें आगम में कुलाचल शब्द से संबोधित किया गया है। जिनके नाम इस प्रकार हैं –

1. हिमवन	2. महाहिमवन	3. निषध
4. नील	5. रुक्मि	6. शिखरी

ये सभी पर्वत क्रमशः हेम, अर्जुन, तपनीय, वैडूर्य, रजत और हेममय हैं।[6] अर्थात् हिमवन पर्वत हेम (स्वर्ण), महाहिमवन पर्वत अर्जुन (चाँदी), निषध पर्वत तपनीय (तप्त स्वर्ण), नील पर्वत वैडूर्य, रुक्मि पर्वत रजत तथा शिखरी पर्वत हेम वर्ण के हैं। ये छहों पर्वत दोनों ओर से नीचे से ऊपर तक दीवार की तरह समान विस्तार वाले एवं विचित्र प्रकार की मणियों से जड़े हुये हैं।[7]

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/18
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/42-43 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/9/पृ.-170/पंक्ति-29
   (3) हरिवंश पुराण, सर्ग-5, श्लोक-390 (4) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 1/38-39
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/45 (2) हरिवंश पुराण, 5/391
   (3) त्रिलोकसार, गाथा-885 (4) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 1/40
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/50 (2) 'अरूहाण ठिया पडिमा गोउरदारेसु सव्वेसुं।'
   - जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 1/41
5. 'तद्विभाजिनःपूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः' - तत्त्वार्थसूत्र, 3/11
6. 'हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः' - तत्त्वार्थसूत्र, 3/12
7. 'मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः' - तत्त्वार्थसूत्र, 3/13

ये सभी पर्वत विचित्र प्रकार की मणियों से जड़े होने के कारण पाषाण के नहीं हो सकते; क्योंकि पाषाण में मणियाँ जड़ी होना कुछ अटपटी-सी बात लगती है। उमास्वामी आचार्य ने भी मूल सूत्र में 'हेममया:'[1] शब्द का प्रयोग किया है, जो कि पर्वतों के स्वर्णादिमय ही होने की ओर संकेत करता है; न कि उनके वर्ण की ओर।

कुलाचलों की ऊँचाई एवं विस्तार – हिमवन और शिखरी पर्वत की ऊँचाई 100 योजन, गहराई (नींव) 25 योजन एवं विस्तार 1052 सहित 12/19 योजन है।[2] महाहिमवन एवं रुक्मि पर्वत की ऊँचाई 200 योजन, गहराई (नींव) 50 योजन एवं विस्तार 4210 सहित 10/19 योजन है।[3] निषध एवं नील पर्वत की ऊँचाई 400 योजन, गहराई 100 योजन एवं विस्तार 16,842 सहित 2/19 योजन है।[4]

कुलाचलों पर स्थित कूट – पर्वत पर स्थित चोटियों को कूट कहते हैं।[5] सभी पर्वतों के शिखर पर कूट (टोंक) बने हुये हैं। सभी कूटों के पृथक्-पृथक् नाम एवं उनकी ऊँचाई आदि का सूक्ष्म विवेचन जैन आगमों में किया गया है।

(1) हिमवन पर्वत के शिखर पर पूर्व से पश्चिम तक पंक्तिरूप से 11 कूट हैं।[6] इनके नाम क्रमश: सिद्धकूट, हिमवान, भरत, इला, गंगा, श्री, रोहितास्या, सिन्धु, सुरा, हैमवत और वैश्रवण हैं।[7] इन कूटों की ऊँचाई 25 योजन तथा मूल में विस्तार भी 25 योजन, मध्यम विस्तार पौने उन्नीस योजन और ऊपर साढ़े बारह योजन है।[8] पूर्व दिशा स्थित सिद्ध कूट पर अकृत्रिम जिनमंदिर है। शेष कूटों पर कूट नाम वाले व्यंतर आदि देव एवं देवियाँ निवास करते हैं। सभी अनुपम रूप युक्त शरीर के धारक परिवार से संयुक्त हैं।[9]

---

1. तत्त्वार्थसूत्र, 3/12
2. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 3/4
3. वहीं, गाथा-17
4. वहीं, गाथा-25
5. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग-2, कूट शब्द, पृष्ठ-131
6. (1) हरिवंश पुराण, 5/52 (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 3/39
7. (1) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/11,पृ.182/पं.24 (2) हरिवंश पुराण, 5/53-55
   (3) त्रिलोकसार, गाथा-721 (4) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 3/40
8. हरिवंश पुराण, 5/56
9. तिलोयपण्णत्ती, 4/1656

(2) महाहिमवन पर्वत पर आठ कूट सुशोभित हो रहे हैं,[1] जिनके नाम पूर्व दिशा से क्रमश: सिद्ध कूट, महाहिमवान, हैमवत, रोहित, ह्री, हरिकांत, हरिवर्ष और वैडूर्य हैं।[2] इन कूटों की ऊँचाई हिमवन पर्वत के कूटों से दुगनी अर्थात् 50 योजन है, इनका मूल में विस्तार 50 योजन, मध्यम विस्तार साढ़े सैंतीस योजन एवं ऊपरी विस्तार 25 योजन है।[3] सिद्धकूट पर जिनमंदिर तथा अन्य कूटों पर व्यंतर देव एवं देवियाँ रहती हैं।

(3) निषध पर्वत के मस्तक पर नौ कूट हैं, जो विविध रत्नों की किरणों से सुशोभित हैं,[4] जिनके नाम पूर्व दिशा से क्रमश: सिद्धकूट, निषध, हरिवर्ष, धृति, विदेह, हरिविजय, सीतोदा, अपरविदेह और रुचक हैं।[5] इनकी ऊँचाई हिमवन पर्वत के कूटों से चार गुना अर्थात् 100 योजन है, मूल में विस्तार भी 100 योजन, मध्यम विस्तार 75 योजन एवं मस्तक पर 50 योजन है।[6] सिद्धकूट पर जिनमंदिर तथा अन्य कूटों पर कूट नाम के धारक व्यंतर देव निवास करते हैं। सभी एक पल्य प्रमाण आयु वाले और दस धनुष ऊँचे शरीर वाले हैं।[7]

(4) नील पर्वत पर भी नौ कूट हैं, जिनके नाम क्रमश: सिद्धकूट, नील, पूर्व विदेह, सीता, कीर्ति, नारी, अपर विदेह, रम्यक् और अपदर्शन हैं।[8] अन्य पर्वतों के समान इस पर्वत के सिद्धकूट पर भी जिनमंदिर तथा अन्य कूटों पर कूट नाम वाले व्यंतर देव रहते हैं। प्रत्येक कूट की ऊँचाई, मूल, मध्यम और शिखर का विस्तार निषध पर्वत पर स्थित कूटों के समान है।[9]

(5) रुक्मि पर्वत पर आठ कूट हैं, जिनके नाम सिद्धकूट, रुक्मि, रम्यक्, नरकांता, बुद्धि, रुप्यकूला, हैरण्यवत और मणिकांचन हैं।[10] इन सभी कूटों की ऊँचाई, मूल, मध्यम और शिखर विस्तार महाहिमवन पर्वत पर स्थित कूटों के समान है।[11] पूर्व दिशा की ओर स्थित सिद्धकूट पर भव्य जिनमंदिर है तथा अन्य कूटों पर कूट नाम वाले व्यंतर देव निवास करते हैं।

---

1. हरिवंश पुराण, 5/70
2. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 3/41
3. हरिवंश पुराण, 5/73
4. वहीं, 5/87
5. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 3/42
6. हरिवंश पुराण, 5/90
7. तिलोयपण्णत्ती, 4/1783
8. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 3/43
9. हरिवंश पुराण, 5/101
10. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 3/44
11. हरिवंश पुराण, 5/104

(6) शिखरी पर्वत पर ग्यारह कूट हैं, जिनके नाम सिद्धकूट, शिखरी, हैरण्यवत, रसदेवी, रक्ता, लक्ष्मी, कांचन, रक्तवती, गंधवती, ऐरावत और मणिकांचन हैं।[1] इन कूटों की ऊँचाई, मूल, मध्यम और शिखर-विस्तार हिमवन पर्वत पर स्थित कूटों के समान है।[2] इस पर्वत के भी प्रथम कूट पर जिनेन्द्र भवन तथा अन्य कूटों पर व्यंतरवासी देवों के आवास हैं।

इन छहों कुलाचलों के विस्तार, नींव, वर्ण एवं कूटों को एक संक्षिप्त चार्ट के रूप में निम्नानुसार देखा जा सकता है –

नं.	नाम	विस्तार	नींव	वर्ण	कूट
1.	हिमवन	100 योजन	25 योजन	हेम	11
2.	महाहिमवन	200 योजन	50 योजन	अर्जुन	8
3.	निषध	400 योजन	100 योजन	तप्तसुवर्ण (तपनीय)	9
4.	नील	400 योजन	100 योजन	वैडूर्य	9
5.	रुक्मि	200 योजन	50 योजन	रजत	8
6.	शिखरी	100 योजन	25 योजन	हेम	11

जम्बू द्वीप के सात क्षेत्र – हिमवन आदि छह कुलाचलों के कारण जम्बू द्वीप सात भागों में विभक्त हो गया। ये सात भाग ही सात क्षेत्र हैं। क्षेत्र शब्द का अर्थ वर्ष, वंश, देश अथवा जनपद है।[3] इन क्षेत्रों के नाम[4] निम्नानुसार हैं –

1. भरत 2. हैमवत 3. हरि 4. विदेह
5. रम्यक 6. हैरण्यवत 7. ऐरावत।

भरत क्षेत्र – जम्बूद्वीप के दक्षिणी भाग में तीन तरफ लवण समुद्र तथा उत्तर की ओर हिमवन पर्वत के मध्य भरत क्षेत्र है।[5] इसका उत्तर-दक्षिण विस्तार 526 सहित 6/19 योजन है।[6] यह भरत क्षेत्र गंगा-सिन्धु नदियों एवं विजयार्द्ध पर्वत से छह खण्डों में विभक्त है, इसकी विस्तृत चर्चा आगे की जायेगी।

---

1. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 3/45
2. हरिवंश पुराण, 5/108
3. बृहद्द्रव्य संग्रह, गाथा-35 की टीका में पृष्ठ-139
4. 'भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि' - तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-3, सूत्र-10
5. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10/पृ.171/पं. 12
6. (1) तत्त्वार्थसूत्र, 3/24 (2) हरिवंश पुराण, 5/17

हैमवत क्षेत्र – हिमवन पर्वत के उत्तर तथा महाहिमवन पर्वत के दक्षिण में हैमवत क्षेत्र है।[1] इसका उत्तर-दक्षिण विस्तार 2105 सहित 5/19 योजन है।[2] यहाँ सदा जघन्य भोगभूमि रहती है। इसके बहुमध्यभाग में एक गोल शब्दवान नामक **नाभिगिरि** पर्वत है। इस पर्वत का विस्तार भूमि पर 1000 योजन, मध्य में 750 योजन और ऊपरी भाग पर 500 योजन है।[3] **राजवार्तिक**[4] के अनुसार इस नाभिगिरि का मूल, मध्य एवं ऊपरी विस्तार 1000 योजन ही है तथा नींव 250 योजन है। इस पर्वत के ऊपरी भाग पर मध्य में अनेक तोरण व वेदियों से युक्त, सुन्दर प्रतिमाओं सहित दिव्य जिन भवन है। वहाँ स्थित प्रासादों में अपने परिवार से युक्त व्यन्तर देव रहते हैं।

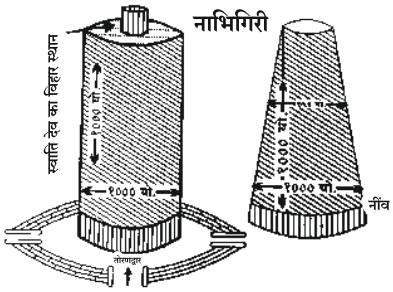

हरि क्षेत्र – महाहिमवन पर्वत की उत्तर दिशा में तथा निषध पर्वत की दक्षिण दिशा में हरि क्षेत्र है।[5] इसका उत्तर-दक्षिण विस्तार 8421 सहित 1/19 योजन है।[6] यहाँ सदा मध्यम भोगभूमि वर्तती है। इस क्षेत्र के बीचों-बीच विजयवान नाम का नाभिगिरि पर्वत है, **राजवार्तिक** में इसका नाम विकृतवान[7] बताया गया है। इसका सम्पूर्ण वर्णन हैमवत क्षेत्र के मध्य में स्थित नाभिगिरि के समान है।

विदेह क्षेत्र – निषध पर्वत की उत्तर दिशा और नील पर्वत की दक्षिण दिशा तथा पूर्व-पश्चिम लवण समुद्र के मध्य विदेह क्षेत्र है।[8] इसका उत्तर-दक्षिण विस्तार 33,684 सहित 4/19 योजन है।[9] विदेह क्षेत्र के मध्य भाग में स्थित सुमेरु पर्वत, उत्तरकुरु-देवकुरु भोग भूमियाँ तथा विदेह की 32 नगरियों की चर्चा आगे पृथक् से की गई है।

रम्यक क्षेत्र – नील पर्वत की उत्तर दिशा और रुक्मि पर्वत की दक्षिण दिशा तथा पूर्व-पश्चिम लवण समुद्र के मध्य यह क्षेत्र है।[10] इसका उत्तर-दक्षिण विस्तार 8421 सहित 1/19 योजन है। यहाँ सदाकाल मध्यम भोगभूमि वर्तती है। इस क्षेत्र के मध्य भाग में गन्धवान नामक वृत्तवैताढ्य (नाभिगिरि) है।[11] इस पर पद्म देव निवास करते हैं, तिलोय पण्णत्ती[12] में इस पर्वत का नाम पद्म नाभिगिरि बताया गया है। इस पर्वत का विस्तार पूर्ववत् है।

---

1. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10/पृ.172/पं.19
2. हरिवंश पुराण, 5/57
3. लोक विभाग, 1/114
4. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10/पृ.172/पं.21
5. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पृ.172/पं.29
6. हरिवंश पुराण, 5/74
7. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ.172/पं.31
8. वहीं, पृष्ठ-173/पंक्ति-4, 5
9. हरिवंश पुराण, 5/91
10. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ.181/पं.15
11. वही पृष्ठ, पंक्ति-17
12. तिलोयपण्णत्ती, 4/2363

हैरण्यवत क्षेत्र – रुक्मि पर्वत के उत्तर और शिखरी पर्वत के दक्षिण भाग तथा पूर्व-पश्चिम समुद्र के मध्य यह क्षेत्र है।[1] इसका उत्तर-दक्षिण विस्तार 2105 सहित 5/19 योजन है। इसमें सदाकाल जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था है। इसके मध्य भाग में माल्यवान[2] नामक वृत्तवैताढ्य पर्वत है। **तिलोयपण्णत्ती** में इसका नाम गन्धवान बताया गया है। इस पर स्थित भवन में प्रभास देव[3] निवास करता है।

ऐरावत क्षेत्र – यह क्षेत्र शिखरी पर्वत के उत्तर दिशा में तथा तीन दिशा से समुद्र के मध्य है।[4] इसका विस्तार 526 सहित 6/19 योजन है। इस क्षेत्र के बीच में पूर्व-पश्चिम फैले हुये विजयार्द्ध पर्वत[5] तथा रक्ता-रक्तोदा नदियों से छह खण्ड हो गये हैं। **इसकी सम्पूर्ण रचना भरत क्षेत्र के समान है।**

जम्बूद्वीप में बताये गये उक्त 7 क्षेत्र और 6 कुलाचल – भरतक्षेत्र से प्रारंभ करके हिमवन पर्वत फिर हैमवत क्षेत्र इस प्रकार विदेह क्षेत्र तक उत्तरोत्तर दुगने-दुगने विस्तार वाले हैं तथा विदेह क्षेत्र से उत्तर दिशा की ओर पर्वत और क्षेत्रों का विस्तार आधा-आधा है।[6]

इसे इसप्रकार कहा जा सकता है कि भरत क्षेत्र से दुगना विस्तार हिमवन पर्वत का है, हिमवन पर्वत से दुगना विस्तार हैमवत क्षेत्र का है, हैमवत क्षेत्र से दुगना विस्तार महाहिमवन पर्वत का है, महाहिमवन पर्वत से दुगना विस्तार हरि क्षेत्र का है, हरि क्षेत्र से दुगना विस्तार निषध पर्वत का है, निषध पर्वत से दुगना विस्तार विदेह क्षेत्र का है। विदेह क्षेत्र से आधा विस्तार नील पर्वत का है, नील पर्वत से आधा विस्तार रम्यक क्षेत्र का है, रम्यक क्षेत्र से आधा विस्तार रुक्मि पर्वत का है, रुक्मि पर्वत से आधा विस्तार हैरण्यवत क्षेत्र का है, हैरण्यवत क्षेत्र से आधा विस्तार शिखरी पर्वत का है, शिखरी पर्वत से आधा विस्तार ऐरावत क्षेत्र का है।

इस प्रकार 7 स्थानों तक दुगना-दुगना तथा आगे के 6 स्थानों तक आधा-आधा करने पर (1 + 2 + 4 + 8 + 16 + 32 + 64 + 32 + 16 + 8 + 4 + 2 + 1) कुल 190 स्थान प्राप्त होते हैं, जिनमें से 1 हिस्सा भरत क्षेत्र का है अर्थात् भरत क्षेत्र एक लाख योजन

---

1. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ.181/पं.21
2. वहीं, पंक्ति-23
3. तिलोयपण्णत्ती, 4/2378
4. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ. 181/पं.28
5. वहीं, पृ.181/पं.30
6. (1) 'तद्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ता:' 'उत्तरा दक्षिणतुल्या:' – तत्त्वार्थसूत्र, 3/25 व 26
   (2) हरिवंश पुराण, 5/19

विस्तार वाले जम्बूद्वीप के 190 वें भाग[1] के बराबर है। इस प्रकार **भरत क्षेत्र का विस्तार** 1 लाख में 190 का भाग देने पर 526 सहित 6/19 योजन प्राप्त होता है।

छह सरोवर – जम्बूद्वीप के हिमवन आदि 6 महापर्वतों पर 6 सरोवर (ह्रद) हैं, जो पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक के नाम से जाने जाते हैं।[2] **तिलोयपण्णत्ती के अनुसार पुण्डरीक पहले एवं महापुण्डरीक बाद में है।**[3]

हिमवन पर्वत पर पद्म सरोवर है, महाहिमवन पर्वत पर स्थित सरोवर का नाम महापद्म है, निषध पर्वत पर तिगिञ्छ सरोवर है, नील पर्वत पर केसरी सरोवर है, रुक्मि पर्वत पर महापुण्डरीक सरोवर है तथा **शिखरी पर्वत पर पुण्डरीक** सरोवर है।

इन छह सरोवरों में स्थित कमलों पर श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी नामक एक पल्योपम आयु वाली देवियाँ सामानिक जाति के देवों सहित निवास करती हैं।[4]

पद्म द्रह का मध्यवर्ती कमल

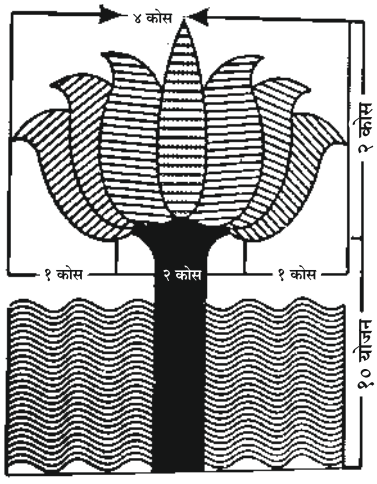

पद्म सरोवर – हिमवन पर्वत पर स्थित यह पद्म सरोवर पूर्व-पश्चिम 1000 योजन लम्बाई एवं उत्तर-दक्षिण 500 योजन चौड़ाई वाला है।[5] इस सरोवर की गहराई 10 योजन है।[6] इसके मध्य में एक मुख्य कमल है, जो एक योजन (4 कोस) ऊँचाई व विस्तार वाला

---

1. (1) 'भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभाग:' - तत्त्वार्थसूत्र, 3/32
   (2) 'भरत: षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तार: षट्चैकोनविंशतिभागा योजनस्य' - तत्त्वार्थसूत्र, 3/24
   (3) तिलोयपण्णत्ती, 4/103
   (4) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 2/6-9
2. 'पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि।' - तत्त्वार्थसूत्र, 3/14
3. छह सरोवर **क्रमश: छह कुलाचलों पर** स्थित हैं, किन्तु ति.प. 4/2395 अनुसार अंतिम कुलाचल शिखरी पर महापुण्डरीक द्रह बताया गया है। इससे इनका क्रम आगे-पीछे निर्णीत होता है।
4. 'तन्निवासिन्यो देव्य: श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्य: पल्योपमस्थितय: ससामानिक-परिषत्का:।' - तत्त्वार्थसूत्र, 3/19
5. (1) 'प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रद:।' - तत्त्वार्थसूत्र, 3/15
   (2) तिलोयपण्णत्ती, 4/1680 एवं 198
6. (1) 'दशयोजनावगाह:' - तत्त्वार्थसूत्र, 3/16
   (2) 'दस जोयणाणि गहिरो' - तिलोयपण्णत्ती, 4/1681 व 199

तथा जल से आधा योजन (2 कोस) ऊँचा है। इस कमल का नाल 42 कोस ऊँचा तथा एक कोस मोटा है।[1] इस कमल के ऊपर स्थित रत्नमय भवन में एक पल्योपम आयु वाली **'श्री'** नामक देवी सामानिक और पारिषद जाति के देवों के साथ निवास करती है।[2] इसके परिवार स्वरूप वहाँ इनसे आधी ऊँचाई वाले एक लाख चालीस हजार एक सौ पन्द्रह (1,40,115) **अन्य** कमल हैं, सभी कमल अकृत्रिम पृथ्वीमय हैं।[3] वहाँ जितने कमल हैं, उन पर उतने ही भवन हैं। इन समस्त भवनों में विविध प्रकार के रत्नों से बने जिनमंदिर हैं, जो कि तोरण द्वारों सहित झारी, कलश, दर्पण, घंटा आदि से संयुक्त हैं। इन जिनमंदिरों में उत्तम अष्ट प्रातिहार्यों से युक्त जिन प्रतिमायें हैं।[4]

इस पद्म सरोवर के ईशान, आग्नेय, नैऋत्य एवं वायव्य कोण में क्रमश: वैश्रवण कूट, श्री निचय कूट, क्षुद्र हिमवान कूट और ऐरावत कूट हैं। उत्तर दिशा में स्थित कूट का नाम श्रीसंचय कूट है। इन पाँच कूटों के कारण हिमवान पर्वत **'पंच शिखरी'** नाम से प्रसिद्ध है।[5]

महापद्म सरोवर – महाहिमवन पर्वत पर स्थित महापद्म सरोवर पूर्व-पश्चिम 2000 योजन लम्बाई, उत्तर-दक्षिण 1000 योजन चौड़ाई तथा 20 योजन गहराई वाला है।[6] इसके मध्य में दो योजन (8 कोस) विस्तार वाला पृथ्वीकायिक कमल है। इस कमल के ऊपर स्थित भवन में अपने परिवार से युक्त **'ह्री देवी'** निवास करती है। **इनके परिवार कमलों की संख्या पद्म सरोवर के समान ही है।[7] तिलोयपण्णत्ती[8] में परिवार कमलों की संख्या पद्म सरोवर में रहने वाली श्री देवी से दुगनी बताई है। जम्बूदीवपण्णत्ती[9] में परिवार कमलों की संख्या दुगनी होने की बात न कहकर सिर्फ विष्कम्भ, उत्सेधादि को ही दुगना बताया है।** सरोवर में जितने प्रासाद हैं, उतने ही रमणीय जिनभवन भी हैं।[10]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/1689
2. 'तन्निवासिन्यो देव्य: श्री....पल्योपमस्थितय: ससामानिकपरिषत्का:' - त.सू., 3/19
3. (1) 'कमला अकिट्टिमा ते पुढविमया सुंदरा य इगिलक्खं।
   चालीससहस्साणिं एक्कसयं सोलसेहिं जुदं।।' - तिलोयपण्णत्ती, 4/1712
   (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/17, पृ.185/पं.16 (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 3/85
4. तिलोयपण्णत्ती, 4/1715-1717
5. तिलोयपण्णत्ती, 4/1682-1684
6. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/18, पृ.186/पं.6,7
7. 'तत्परिवारपद्मसंख्या पूर्वोक्तैव' - तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/18, पृ.186/पं.8-9
8. 'णवरि विसेसो एसो दुगुणा परिवारपउमपरिसंखा.....' - तिलोयपण्णत्ती, 4/1752
9. जम्बूदीवपण्णत्ती, 3/127-128
10. '.....जेत्तिय मेत्ता पउमा जिणभवणा तेत्तिया रम्मा।।' - तिलोयपण्णत्ती, 4/1752

इस सरोवर में भी ईशान, आग्नेय, नैऋत्य एवं वायव्य कोण में क्रमश: वैश्रवण कूट, श्रीनिचय कूट, महाहिमवान कूट और ऐरावत कूट हैं। उत्तर दिशा में स्थित कूट का नाम श्रीसंचय कूट है। इन पाँच कूटों से यह महाहिमवान पर्वत 'पंच शिखरी' कहलाता है।[1]

तिगिञ्छ सरोवर – निषध पर्वत के मध्यभाग में स्थित तिगिञ्छ सरोवर 4000 योजन लम्बाई, 2000 योजन चौड़ाई एवं 40 योजन गहराई वाला है।[2] इस सरोवर में स्थित मुख्य कमल 4 योजन (16 कोस) विस्तार वाला है। इस कमल पर स्थित भवन में बहुत परिवारों से संयुक्त अनुपम लावण्य से परिपूर्ण **'धृति देवी'** निवास करती है।[3] इसके परिवार कमलों की संख्या पूर्व में बताई गई उतनी ही है।[4] **तिलोयपण्णत्ती**[5] में इसे पद्मद्रह से चार गुणा बताया गया है। इन पर जितने पद्मगृह हैं, उतने ही भव्यजनों को आनंदित करने वाले जिनेन्द्रपुर हैं।[6]

तिगिञ्छ तालाब की ईशान दिशा में वैश्रवण नामक मनोहर कूट है, दक्षिण दिशा भाग में श्रीनिचय नामक कूट, नैऋत्य दिशा में निषध नामक सुन्दर कूट, पश्चिमोत्तर कोण में ऐरावत कूट और उत्तर दिशा भाग में श्रीसंचय नामक कूट है। इन कूटों के कारण निषध पर्वत भी 'पंचशिखरी' नाम से प्रसिद्ध है।[7]

केसरी, पुण्डरीक व महापुण्डरीक सरोवर – नील पर्वत पर स्थित केसरी सरोवर का सम्पूर्ण वर्णन ऊपर कहे गये तिगिञ्छ सरोवर के समान ही है। इसके मध्य स्थित कमल-भवन पर **'कीर्ति'** नाम से विख्यात देवी रहती है। इसका परिवार तिगिञ्छ सरोवर स्थित धृति देवी के समान है। यह देवी 10 धनुष ऊँची और अनुपम लावण्य से परिपूर्ण है।[8]

रुक्मि पर्वत पर स्थित **पुण्डरीक सरोवर** का सम्पूर्ण वर्णन महापद्म सरोवर के सदृश जानना चाहिये। इस द्रह संबंधी कमल भवन के मध्य में **'बुद्धि देवी'** निवास करती है। इसका परिवार कीर्ति देवी की अपेक्षा आधा है।[9]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/1753-55
2. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/18, पृ. 186/पं. 9-10
3. तिलोयपण्णत्ती, 4/1785
4. 'तत्परिवारपद्मसंख्या पूर्वोक्तैव' - तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/18, पृ.186/पं.12
5. 'पउमद्दहाउ चउ गुण' - तिलोयपण्णत्ती, 4/1784
6. तिलोयपण्णत्ती, 4/1787
7. वहीं, 4/1788-1790
8. वहीं, 4/2359-2360
9. वहीं, 4/2372 (अन्य ग्रन्थानुसार इस पर्वत पर महापुण्डरीक सरोवर है)

शिखरी पर्वत पर स्थित **महापुण्डरीक सरोवर** का सम्पूर्ण वर्णन पद्म सरोवर के सदृश है। इस तालाब के कमल भवन पर श्री देवी के समान परिवार से युक्त **'लक्ष्मी देवी'** निवास करती है, वह ईशानेन्द्र की देवी है।[1]

इन छह सरोवरों का सामान्य दिग्दर्शन –

नं.	नाम	स्थान	लम्बाई	चौड़ाई	गहराई	प्रमुख देवी
1.	पद्म	हिमवन	1000 यो.	500 यो.	10 यो.	श्री
2.	महापद्म	महाहिमवन	2000 यो.	1000 यो.	20 यो.	ह्री
3.	तिगिञ्छ	निषध	4000 यो.	2000 यो.	40 यो.	धृति
4.	केसरी	नील	4000 यो.	2000 यो.	40 यो.	कीर्ति
5.	महापुण्डरीक	रुक्मि	2000 यो.	1000 यो.	20 यो.	बुद्धि
6.	पुण्डरीक	शिखरी	1000 यो.	500 यो.	10 यो.	लक्ष्मी

जिसप्रकार कुलाचल एक-दूसरे से दुगने विस्तार वाले हैं, उसी प्रकार विदेह क्षेत्र तक सरोवर भी दुगने हैं, उसके आगे आधे-आधे विस्तार वाले हैं।

चौदह महानदियाँ – इन सरोवरों से गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, स्वर्णकूला, रुप्यकूला, रक्ता, रक्तोदा नामों वाली 14 महानदियाँ बहती हैं।[2] ये नदियाँ दो-दो के जोड़े से हैं। इनमें पहले वाली नदी पूर्व दिशा की ओर बहती है तथा दूसरी नदी पश्चिम दिशा की ओर बहती है।[3] इनमें गंगा, रोहित, हरित, सीता, नारी, सुवर्णकूला और रक्ता – ये सात नदियाँ पूर्व दिशा की ओर लवण समुद्र में जाकर मिलती हैं तथा सिन्धु, रोहितास्या, हरिकान्ता, सीतोदा, नरकान्ता, रुप्यकूला और रक्तोदा – ये सात नदियाँ पश्चिम दिशा की ओर लवण समुद्र में जाकर मिलती हैं।[4]

---

1. 'महपुंडरीय णामा....पउमद्दह सारिच्छो....' – तिलोयपण्णत्ती, 4/2387-2388
   (अन्य ग्रन्थों के अनुसार इस पर्वत पर पुण्डरीक सरोवर है)
2. 'गंगासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरूप्य-कूलारक्तारक्तोदा: सरितस्तन्मध्यगा:' – तत्त्वार्थसूत्र, 3/20
3. 'द्वयोर्द्वयो: पूर्वा: पूर्वगा:' 'शेषास्त्वपरगा:'– वहीं, 3/21-22
4. जम्बूदीव-पण्णत्ति-संगहो, 3/192-193

किस सरोवर से कौन-सी नदी निकलती है – प्रथम पद्म एवं अंतिम पुण्डरीक सरोवर से तीन-तीन नदियाँ तथा मध्य के चार सरोवरों से दो-दो नदियाँ बहती हैं।[1] पद्म सरोवर से गंगा-सिन्धु और रोहितास्या नदी बहती है। महापद्म सरोवर से रोहित और हरिकान्ता नदी बहती है। तिगिञ्छ सरोवर से हरित और सीतोदा नदी बहती है। केसरी सरोवर से सीता और नरकान्ता नदी बहती है। महापुण्डरीक सरोवर से नारी और रुप्यकूला नदी बहती है। पुण्डरीक सरोवर से स्वर्णकूला, रक्ता और रक्तोदा नदियाँ बहती हैं।[2] इसप्रकार 6 सरोवरों से कुल 14 महानदियाँ जम्बूद्वीप के विविध क्षेत्रों में बहती हैं।

किस क्षेत्र में कौन-सी नदी बहती है – क्षेत्र सात हैं तथा नदियाँ चौदह हैं। प्रत्येक क्षेत्र में दो-दो नदियाँ बहती हैं। **भरत क्षेत्र** में गंगा-सिन्धु नदियाँ, **हैमवत क्षेत्र** में रोहित-रोहितास्या नदियाँ, **हरि क्षेत्र** में हरित-हरिकान्ता नदियाँ, **विदेह क्षेत्र** में सीता-सीतोदा नदियाँ, **रम्यक क्षेत्र** में नारी-नरकान्ता नदियाँ, **हैरण्यवत क्षेत्र** में स्वर्णकूला-रुप्यकूला नदियाँ, **ऐरावत क्षेत्र** में रक्ता-रक्तोदा नदियाँ बहती हैं।

जम्बूद्वीप के क्षेत्र, पर्वत, सरोवर एवं नदियों को निम्न चित्र[3] के माध्यम से देख सकते हैं –

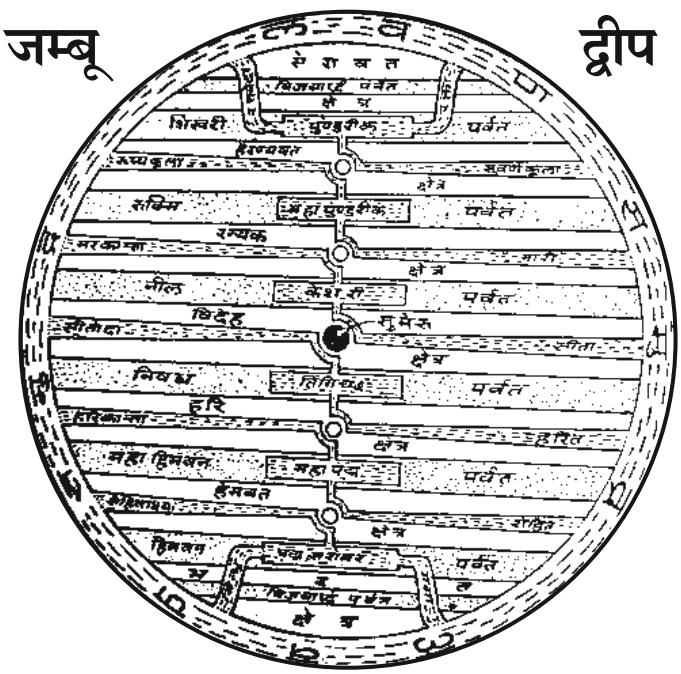

1. त्रिलोकसार, गाथा-581
2. (1) हरिवंश पुराण, 5/133-135 (2) लोक विभाग, 1/88-90
3. जम्बूद्वीप के विविध रंगीन चित्र परिशिष्ट में देखें।

नदियों का संक्षिप्त परिचय – जम्बू द्वीप के हिमवन् आदि 6 कुलाचलों पर स्थित पद्म आदि 6 सरोवरों में से निकलकर भरत आदि 7 क्षेत्रों में बहनेवाली कुल 14 महानदियाँ हैं, जिनका संक्षिप्त रचनात्मक स्वरूप निम्नानुसार है –

गंगा नदी हिमवन पर्वत पर स्थित पद्म सरोवर के पूर्व द्वार से निकलकर पूर्व दिशा में ही 500 योजन चलती है, तत्पश्चात् दक्षिण दिशा की ओर मुड़कर पर्वत के किनारे पहुँचकर 100 योजन आकाश से पर्वत का उल्लंघनकर पर्वत से 25 योजन दूरी पर नीचे गिरती है।[1] फिर दक्षिण दिशा में चलती हुई पूर्व दिशा की ओर किंचित् मुड़कर लवण समुद्र में मिल जाती है। इसका विशेष वर्णन भरत क्षेत्र की चर्चा के अन्तर्गत किया जायेगा।

सिन्धु नदी पद्म सरोवर के पश्चिम द्वार से निकलती है। इस नदी का सम्पूर्ण विवरण गंगा नदी के समान ही है। फर्क सिर्फ इतना है कि इसके मार्ग में स्थित सिन्धु कूट पर सिन्धु देवी निवास करती है तथा यह नदी अन्त में पश्चिम की ओर लवण समुद्र में मिलती है।[2]

रोहितास्या नदी पद्म सरोवर से उत्तर दिशा की ओर दो सौ छियत्तर (276) योजन और छह कला प्रमाण हिमवन पर्वत पर ही चलकर नीचे गिरती है।[3] शेष वर्णन गंगा नदी के समान ही है। विशेष यह है कि यहाँ की सम्पूर्ण स्थिति गंगा नदी की अपेक्षा दुगनी है। गंगा नदी के प्रवाह विस्तार के समान ही इसके मार्ग में भी कुण्ड, द्वीप, फिर उस पर पर्वत है। पर्वत पर रोहितास्या देवी का भवन है। यह नदी मध्य में स्थित वृत्तवैताढ्य (नाभिगिरि) पर्वत से दो कोस पूर्व से ही पश्चिम, उत्तर फिर पश्चिम की ओर लवण समुद्र में जाकर मिल जाती है।[4]

रोहित नदी महापद्म सरोवर से दक्षिण दिशा की ओर पर्वत पर ही एक हजार छह सौ पाँच (1605) योजन और पाँच कला प्रमाण बहकर पर्वत से 50 योजन दूर नीचे गिरती है।[5] इसकी भी समस्त भौगोलिक रचना गंगा नदी के समान ही है। यह नदी रोहित देवी के भवन पर स्थित जिनप्रतिमा का अभिषेक करती हुई हैमवत क्षेत्र के नाभिगिरि की अर्द्ध प्रदक्षिणा देकर अट्ठाईस हजार परिवार नदियों सहित पूर्व दिशा की ओर लवण समुद्र में जाकर मिलती है।[6]

---

1. हरिवंश पुराण, 5/138-139
2. हरिवंश पुराण, 5/151
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1718
   (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/22,पृ.188/पं.7
   (3) हरिवंश पुराण, 5/153
   (4) लोक विभाग, 1/107
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1736
   (2) हरिवंश पुराण, 5/163
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1758
   (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/22, पृ.188/पं.15
   (3) हरिवंश पुराण, 5/154
   (4) लोक विभाग, 1/108
6. तिलोयपण्णत्ती, 4/1760

हरिकान्ता नदी महापद्म सरोवर के उत्तर भाग से निकलकर पर्वत के ऊपर ही एक हजार छह सौ पाँच (1605) योजन और पाँच कला प्रमाण बहकर 100 योजन दूर कुण्ड में गिरती है।[1] कुण्ड से बढ़ते हुये नाभिगिरि को दो कोस दूर से प्रदक्षिणा देकर हरि क्षेत्र में बहती हुई पश्चिम दिशा की ओर समुद्र में जाकर मिल जाती है।

हरित नदी – तिगिञ्छ सरोवर के दक्षिण द्वार से निकलकर यह पर्वत पर ही सात हजार चार सौ इक्कीस (7421) योजन और एक कला प्रमाण गमन करती है।[2] पश्चात् गोमुख से होती हुई पृथ्वी पर गिरती है। पर्वत की तलहटी में पूर्वोक्त प्रकार से कुण्ड, द्वीप, पर्वत एवं प्रासाद हैं। प्रासाद पर स्थित जिनप्रतिमा का अभिषेक करती है। तदुपरान्त यह नदी दक्षिण तोरण द्वार से निकलकर नाभिगिरि पर्वत की अर्द्ध प्रदक्षिणा देती हुई अपनी 56,000 परिवार नदियों के साथ पूर्व दिशा की ओर समुद्र में मिलती है।[3]

सीतोदा नदी – निषध पर्वत पर स्थित तिगिञ्छ सरोवर के उत्तर द्वार से निकलने वाली यह नदी विदेह क्षेत्र की पश्चिम दिशा में बहती है।

यह नदी भी हरित नदी के समान ही निषध पर्वत पर सात हजार चार सौ इक्कीस (7421) योजन और एक कला प्रमाण चलकर गोमुख द्वार से चार सौ योजन ऊँचे आकाश को लांघकर पर्वत से दो सौ योजन दूर सीतोदा कुण्ड में गिरती है।[4] यह नदी उत्तर दिशा में बढ़ती हुई मेरु पर्वत से दो कोस दूर रहकर पश्चिम दिशा को मुड़ जाती है, फिर अपने मार्ग से बढ़ती हुई लवण समुद्र में जाकर मिल जाती है। इस नदी के मार्ग में आये हुये यमक गिरि, कांचन शैल, सरोवर एवं दिग्गजेन्द्र पर्वतों की चर्चा आगे विदेह क्षेत्र वाले प्रकरण में की जायेगी।

सीता – यह नदी भी विदेह क्षेत्र में ही बहती है। इसका सम्पूर्ण वर्णन सीतोदा नदी के समान ही है। विशेषता यह है कि यह नील पर्वत के केसरी सरोवर के दक्षिण द्वार से निकलती है। सीता कुण्ड में गिरती है। माल्यवान गजदन्त की गुफा से निकलकर पूर्व विदेह क्षेत्र में बहती हुई लवण समुद्र में मिलती है।[5]

---

1. (1) हरिवंश पुराण, 5/155 (2) तिलोयपण्णत्ती, 4/1770 (3) लोक विभाग, 1/109
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1793 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/22, पृ.188/पं.27 (3) लोक विभाग, 1/110
3. तिलोयपण्णत्ती, 4/1795
4. हरिवंश पुराण, 5/157
5. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/22, पृ.189/पं.8

नरकान्ता नदी – इसका सम्पूर्ण कथन हरित नदी के समान है। यह नदी नील पर्वत पर स्थित केसरी सरोवर के उत्तर द्वार से निकलती है तथा नाभिगिरि पर्वत की प्रदक्षिणा करके पश्चिमी रम्यक क्षेत्र के मध्य से जाती हुई पश्चिम मुख होकर परिवार नदियों के साथ लवण समुद्र में ही मिल जाती है।[1]

नारी नदी – इसका सम्पूर्ण कथन हरिकान्ता नदीवत् है। विशेषता यह है कि यह रुक्मि पर्वत पर स्थित महापुण्डरीक सरोवर के दक्षिण द्वार से निकलती है और पूर्व रम्यक क्षेत्र में बहती हुई वृत्त वैताढ्य पर्वत की प्रदक्षिणा देकर पूर्व दिशा की ओर ही लवण समुद्र में जाकर मिल जाती है।[2]

रूप्यकूला नदी – इसका सम्पूर्ण कथन रोहित नदी के समान है। यह नदी रुक्मि पर्वत स्थित महापुण्डरीक सरोवर के उत्तर द्वार से निकलती है और वृत्त वैताढ्य (नाभिगिरि) की प्रदक्षिणा देकर लवण समुद्र में जाकर मिल जाती है।[3]

यतिवृषभाचार्य के अनुसार रुक्मि पर्वत पर पुण्डरीक सरोवर[4] है, अतः उनके मतानुसार नारी और रूप्यकूला नदी पुण्डरीक सरोवर से निकलती है।

स्वर्णकूला – इस नदी का सम्पूर्ण कथन रोहितास्या नदीवत् है। यह शिखरी पर्वत पर स्थित पुण्डरीक सरोवर के दक्षिण द्वार से निकलती है और पूर्वी हैरण्यवत क्षेत्र में बहती हुई, पूर्वी समुद्र में जाकर मिल जाती है।[5]

रक्ता व रक्तोदा – इन दोनों नदियों का सम्पूर्ण कथन भरत क्षेत्र में बहने वाली गंगा और सिन्धु नदियों के समान है।[6] ये नदियाँ शिखरी पर्वत के पुण्डरीक सरोवर के पूर्व और पश्चिम द्वार से निकलती हैं। इनके भीतरी कमलाकार कूटों के पर्वत के नीचे वाले कुण्डों व कूटों का नाम रक्ता व रक्तोदा है।[7] ये दोनों नदियाँ ऐरावत क्षेत्र में बहती हैं।

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2364-2366 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/22, पृ.189/पं.11
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2374-2376 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/22, पृ.189/पं.14
3. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/22, पृ.189/पं.18
4. रुम्मिगिरिंदस्सोवरि बहुमज्झे होदि पुण्डरीयदहो। – तिलोयपण्णत्ती, 4/2371
5. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/22, पृ.189/पं.21
6. त्रिलोकसार, गाथा-599
7. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/22, पृ.189/पं. 25-30

तिलोयपण्णत्ती के अनुसार शिखरी पर्वत पर महापुण्डरीक सरोवर है।[1] अत: उसके अनुसार स्वर्णकूला, रक्ता व रक्तोदा नामक नदियाँ महापुण्डरीक सरोवर से निकलती हैं। शेष वर्णन समान है।

जम्बूद्वीप में कुल नदियाँ – जम्बूद्वीप में बहने वाली उक्त 14 महानदियों में सभी की सहायक (परिवार) नदियों की संख्या का उल्लेख भी जैन आगमों में मिलता है। परिवार नदियों के बारे में तत्त्वार्थसूत्र 3/23 में उमास्वामी आचार्य लिखते हैं – **'चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृत्ता गंगासिन्ध्वादयो नद्य:'** अर्थात् भरत क्षेत्र में बहने वाली गंगा-सिन्धु की पृथक्-पृथक् 14,000 परिवार नदियाँ हैं। हैमवत क्षेत्र में बहने वाली रोहित-रोहितास्या की पृथक्-पृथक् परिवार नदियाँ 28,000 हैं। हरि क्षेत्र में बहने वाली हरित-हरिकान्ता की पृथक्-पृथक् परिवार नदियाँ 56,000 हैं। विदेह के देवकुरु, उत्तरकुरु क्षेत्र में सीता-सीतोदा की पृथक्-पृथक् परिवार नदियाँ 84,000 हैं। विदेह क्षेत्रस्थ गंगा-सिंधु आदि 64 नदियों की सहायक नदियाँ 8,96,000 हैं तथा 12 मूल विभंगा नदियाँ हैं। रम्यक क्षेत्र में बहने वाली नारी-नरकान्ता की पृथक्-पृथक् परिवार नदियाँ 56,000 हैं। हैरण्यवत क्षेत्र में बहनेवाली स्वर्णकूला-रुप्यकूला की पृथक्-पृथक् सहायक नदियाँ 28,000 हैं तथा ऐरावत क्षेत्र में बहने वाली रक्ता-रक्तोदा की पृथक्-पृथक् सहायक नदियाँ 14,000 हैं।

इसप्रकार जम्बूद्वीप की समस्त नदियों का प्रमाण चौदह लाख छप्पन हजार नब्बे (14,56,090) है।[2] इनमें से दस लाख चौंसठ हजार अठत्तर (10,64,078) नदियाँ तो मात्र विदेह में ही बहती हैं।[3] इन दोनों संख्याओं में विभंगा की 3,36,000 परिवार नदियाँ शामिल नहीं हैं। वस्तुत: विदेह क्षेत्र में बहने वाली समस्त नदियों का प्रमाण चौदह लाख अठत्तर (14,00,078) है तथा जम्बूद्वीप की समस्त नदियों का प्रमाण विभंगा की परिवार नदियों को मिलाकर कुल सत्रह लाख बानवे हजार नब्बे (17,92,090) है।[4]

इस प्रकार जम्बूद्वीप में बहने वाली 14 महानदियों का वर्णन संक्षेप में पूर्ण हुआ।

---

1. महपुंडरीयणामा दिव्वदहो सिहरिसेलसिहरम्मि। – तिलोयपण्णत्ती, 4/2387
2. (1) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 3/198
   (2) 'सव्वे चउदसलक्खा छप्पनसहस्स मेलविया' – जम्बूद्वीप लघु संग्रहणी, गाथा-25, पृ.79
   (3) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र, षष्ठ वक्षस्कार, 158, पृ.318
3. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 3/197
4. लोक विभाग, 1/216

सुमेरु पर्वत –

विदेह क्षेत्र के बहुमध्य भाग में सुमेरू पर्वत स्थित है। इसके शिखर पर स्थित शिलाओं पर देवगण भरत आदि क्षेत्रों के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक करते हैं, अत: इसे तीर्थंकरों के जन्माभिषेक का आसन[1] कहा जाता है। यह सुमेरु पर्वत एक लाख योजन विस्तार वाले जम्बूद्वीप की नाभि के समान है।[2] यह पर्वत गोलाकार है। इसकी ऊँचाई पृथ्वीतल से निन्यानवे हजार चालीस योजन तथा इसकी नींव एक हजार योजन की है। नींव के तल भाग का विस्तार 10,090 सहित 10/11 योजन है।[3]

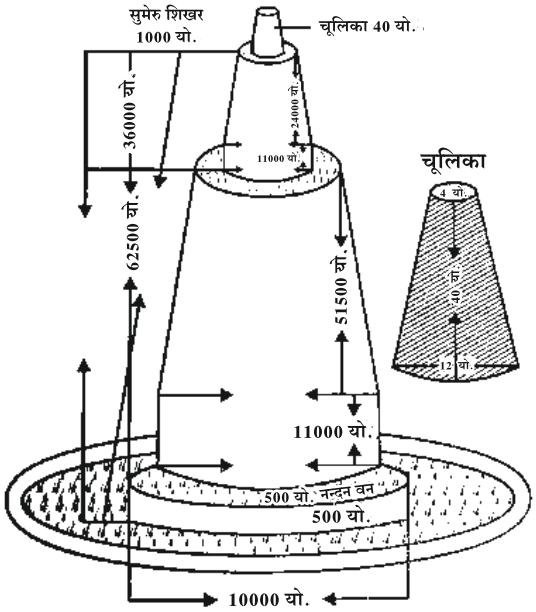

सुमेरु पर्वत

मेरु पर्वत को लोग स्वर्णमय कहते हैं, किन्तु यह पूरा स्वर्णमय नहीं है। यह मेरु पर्वत मूल (नींव) में 1000 योजन वज्रमय, मध्य में 61,000 योजन मणिमय, रत्नमय तथा ऊपर 38,000 योजन स्वर्णमय है।[4] इसके ऊपर 40 योजन ऊँची नीलकण्ठ मणिमय चूलिका है। **इस प्रकार यह सुमेरु पर्वत नींव से चूलिका तक विभिन्न धातु-रत्नमय एक लाख चालीस योजन प्रमाण वाला है।**

सुमेरु पर्वत के नामान्तर – विविध ग्रन्थों में सुमेरु के लिये भिन्न-भिन्न नामों का उल्लेख मिलता है। विद्वानों ने इसका वर्णन वज्रमूल, सवैडूर्यचूलिक, मणिचित्त, विचित्राश्चर्यकीर्ण, स्वर्णमध्य, सुरालय, मेरु, सुमेरु, महामेरु, सुदर्शन, मन्दर, शैलराज, वसन्त, प्रियदर्शन, दिशामादि, लोकनाभि, मनोरम, लोकमध्य, दिशामन्त्य, रत्नोच्चय, दिशामुत्तर, सूर्याचरण, सूर्यावर्त, स्वयंप्रभ, सूरगिरि आदि नामों से किया है।[5]

---

1. (1) जम्माभिसेय पीढो सव्वाणं तित्थ कत्ताणं। – तिलोयपण्णत्ती, 4/1803
   (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 4/21
2. 'तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्र विष्कम्भो जम्बूद्वीप:' – तत्त्वार्थसूत्र, 3/9
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1804-1805 (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 4/22-23
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1830-1831 (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 4/25
5. हरिवंश पुराण, 5/373-376

सुमेरु पर्वत पर वन – सुमेरु पर्वत पर चार प्रसिद्ध वन बताये गये हैं- (1) भद्रशाल वन (2) नंदन वन (3) सौमनस वन (4) पाण्डुक वन। भद्रशाल वन सुमेरु पर्वत की तलहटी में है, इससे 500 योजन ऊपर नन्दन वन है, इससे 62,500 योजन ऊपर सौमनस वन है तथा वहाँ से 36,000 योजन ऊपर जाकर पर्वत के शिखर पर पाण्डुक वन है।

भद्रशाल वन – यह मेरु पर्वत की तलहटी में स्थित है। इसके समीप सुमेरु पर्वत का विस्तार 10 हजार योजन है। वन का विस्तार उत्तर-दक्षिण 250 योजन तथा पूर्व-पश्चिम 22,000 योजन है।[1] इसकी चारों दिशाओं में एक-एक (कुल 4) जिनभवन हैं।[2] प्रथम जिनमंदिर मेरु से पूर्व दिशा एवं सीता नदी से दक्षिण में है। दूसरा जिनभवन मेरु से दक्षिण व सीतोदा के पूर्व में है। तीसरा जिनमंदिर मेरु से पश्चिम तथा सीतोदा के उत्तर में है और चौथा जिनमंदिर मेरु के उत्तर व सीता नदी के पश्चिम में है।[3] प्रत्येक जिनमंदिर 100 योजन लम्बाई, 50 योजन चौड़ाई एवं 75 योजन ऊँचाई प्रमाण है। यह भद्रशाल वन 5 भागों में विभक्त है - भद्रशाल, मानुषोत्तर, देवरमण, नागरमण और भूतरमण।[4]

नन्दन वन – भद्रशाल वन से 500 योजन ऊपर जाकर सुमेरु पर्वत चारों ओर से 500-500 योजन कट गया है। इस कटनी पर सब ओर से पाँच सौ योजन प्रमाण वाला **नन्दन वन** है। इसमें दो विभाग अर्थात् दो वन हैं - नन्दन और उपनन्दन।[5] इस वन की चारों दिशाओं में मणि, चारण, गन्धर्व व चन्द्र नाम के चार भवन हैं, इनके लिये **राजवार्तिक**[6] में **'गुफा'** शब्द का प्रयोग किया है। **हरिवंश पुराण** में इनके नाम पण्य, चारण, गन्धर्व और चित्रक बताये गये हैं।[7] इनमें क्रम से सौधर्म इन्द्र के चार लोकपाल सोम, यम, वरुण व कुबेर क्रीड़ा करते हैं।[8] यहाँ भी मेरु के पास चारों दिशाओं में चार जिनमंदिर हैं।[9] प्रत्येक जिनमंदिर

---

1. (1) त्रिलोकसार, गाथा-610, 612 (2) लोक विभाग, 1/185
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2028 (2) त्रिलोकसार, गाथा-611
3. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ.178/पं.18
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1828 (2) हरिवंश पुराण, 5/307
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1829 (2) हरिवंश पुराण, 5/308
6. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ. 179/पं. 14-15
7. हरिवंश पुराण, 5/315
8. (1) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ.179/पं.16 (2) हरिवंश पुराण, 5/317
   (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 4/84
9. हरिवंश पुराण, 5/358

के आगे उसी दिशा में दो-दो इस प्रकार कुल 8 कूट हैं, जिन पर दिक्कुमारियाँ रहती हैं।[1] इस वन की चारों विदिशाओं में चार-चार इस प्रकार कुल 16 बावड़ियाँ हैं।[2] वन की ईशान दिशा में बलभद्र कूट पर बलभद्र नामक व्यंतर देव रहते हैं। यह कूट 1000 योजन ऊँचाई एवं विस्तार वाला है, जिसमें से यह कूट 500 योजन तो वन में तथा 500 योजन बाहर आकाश में निकला हुआ है।[3]

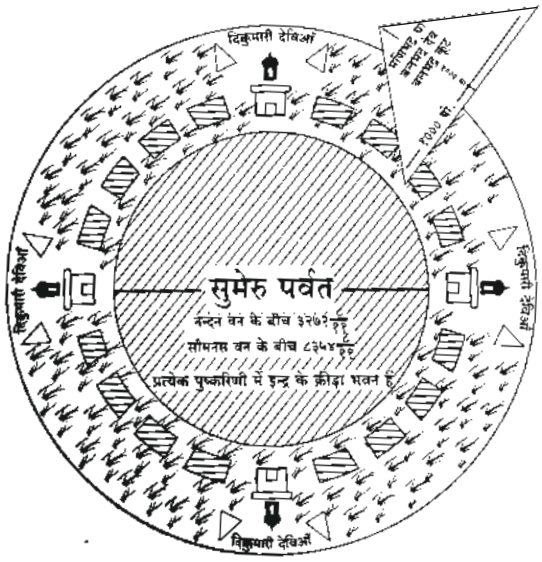

नन्दन व सौमनस वन

सौमनस वन – नन्दन वन से ऊपर की ओर 11,000 योजन तक सुमेरु पर्वत चारों ओर से समान है, फिर 51,500 योजन तक क्रमश: हानिरूप होता गया है। इस प्रकार नन्दन वन से कुल 62,500 योजन ऊपर जाकर सुमेरु पर्वत पुन: चारों ओर से 500-500 योजन कट गया है। इसी कटनी पर **सौमनस वन** स्थित है। इस वन के भी दो विभाग अर्थात् दो वन हैं – सौमनस एवं उप सौमनस।[4] यहाँ वन की पूर्वादि चारों दिशाओं में वज्र, वज्रप्रभ, स्वर्ण व स्वर्णप्रभ नामक चार भवन हैं।[5] इनमें भी नन्दन वन के समान ही सोम आदि चारों लोकपाल क्रीड़ा करते हैं। चारों विदिशाओं में 16 पुष्करणियाँ, दिक्कुमारियों के कूट एवं मणिभद्र कूट नन्दन वन के समान ही हैं।[6] यहाँ भी चारों दिशाओं में भव्य जिनमंदिर हैं।[7]

पाण्डुक वन – सौमनस वन से ऊपर की ओर 11,000 योजन तक सुमेरु पर्वत चारों ओर से समान है, फिर 25,000 योजन तक क्रमश: हानिरूप होता गया है। इस प्रकार सौमनस वन से कुल 36,000 योजन ऊपर जाकर मेरु पर्वत शिखर पर चारों ओर से 494 योजन कट गया है। इसी कटनी पर **पाण्डुक वन** है।

---

1. त्रिलोकसार, गाथा-625-627
2. त्रिलोकसार, गाथा-628 से 630
3. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 4/99-101
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1829 (2) हरिवंश पुराण, 5/308
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1967 (2) हरिवंश पुराण, 5/319
6. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-3, पृष्ठ-450
7. हरिवंश पुराण, 5/357

पाण्डुक वन के मध्य में 40 योजन ऊँची मेरु पर्वत की **चूलिका** है। सुमेरु पर्वत के शिखर पर चूलिका को घेरे हुये पाण्डुक वन है।[1] इसके भी दो विभाग हैं – पाण्डुक और उप पाण्डुक।[2] इसकी चारों दिशाओं में लोहित, अंजन, हारिद्र और पाण्डु नाम के चार भवन हैं, जिनमें सोम आदि चारों लोकपाल क्रीड़ा करते हैं।[3] चारों विदिशाओं में 16 पुष्करणियाँ हैं। इस वन के मध्य भाग में भी चारों दिशाओं में चार जिनमंदिर हैं।[4]

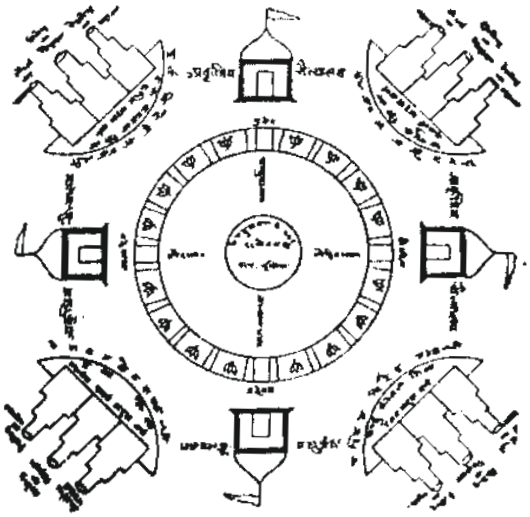

पाण्डुक वन की रचना

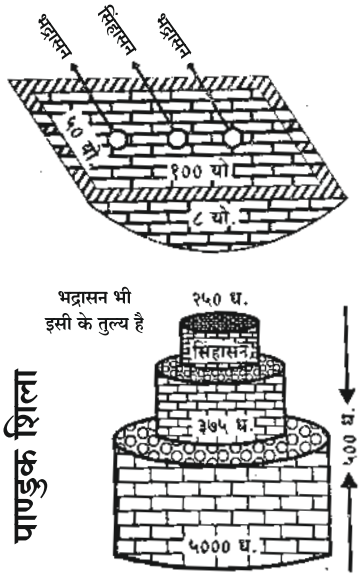

जन्माभिषेक शिलाएँ – पाण्डुक वन की ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य दिशाओं में अर्द्ध-चन्द्राकार[5] पाण्डुक, पाण्डुकम्बला, रक्तशिला एवं रक्तकम्बला नामक चार शिलायें हैं। इन शिलाओं पर क्रमश: भरतक्षेत्र, पश्चिम विदेह क्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र एवं पूर्व विदेह क्षेत्र के बाल तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है।[6] **राजवार्तिक[7] के अनुसार ये चारों जन्माभिषेक शिलायें पूर्वादि दिशाओं में स्थित हैं।** इन शिलाओं की लम्बाई 100 योजन तथा चौड़ाई 50 योजन है। इनकी मध्य ऊँचाई आठ योजन है, जो

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/1838
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1829 (2) हरिवंश पुराण, 5/309
3. हरिवंश पुराण, 5/322
4. वहीं, श्लोक-354
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1842 (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 4/141 (3) लोक विभाग, 1/283
6. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1851, 1854-1859 (2) त्रिलोकसार, गाथा-634
7. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ.180/पं. 15-18

क्रमशः हीन होती गई है।[1] इनके मध्य ऊपरी भाग पर तीन पीठ हैं, जिनके मध्य में सिंहासन तथा दोनों ओर भद्रासन हैं। इन तीनों पीठों की ऊँचाई 500 धनुष, मूल में विस्तार 500 धनुष तथा शिखर पर विस्तार 250 धनुष है।[2] जन्माभिषेक के समय सिंहासन पर बाल तीर्थंकर को बिठाया जाता है तथा सौधर्म इन्द्र दक्षिण पीठ पर स्थित होकर एवं ईशान इन्द्र उत्तर पीठ पर स्थित होकर महती विशुद्धि से अभिषेक करते हैं।[3]

सुमेरु की चूलिका – मेरु पर्वत के इस पाण्डुक वन के बहु मध्य भाग में चालीस योजन ऊँची, वन में 12 योजन, मध्य में 8 योजन तथा शिखर के अग्र भाग में 4 योजन चौड़ी चूलिका है।[4] इस चूलिका से एक बाल बराबर अन्तराल पर सौधर्म स्वर्ग का प्रथम ऋतु विमान स्थित है।[5]

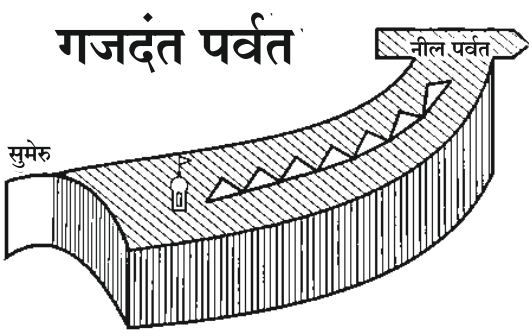

मेरु से जुड़े गजदंत पर्वत – मेरु पर्वत की चारों विदिशाओं में हाथीदाँत के आकार वाले चार पर्वत हैं, जिन्हें गजदंत पर्वत कहा जाता है। इन चारों के नाम – माल्यवान, सौमनस्य, विद्युत्प्रभ और गंधमादन हैं। सुमेरु पर्वत की **ईशान** दिशा में स्थित माल्यवान गजदंत वैडूर्य मणिमय है। सुमेरु पर्वत की **आग्नेय** दिशा में स्थित सौमनस्य गजदंत रजतमय है। सुमेरु पर्वत की **नैऋत्य** दिशा में स्थित विद्युत्प्रभ गजदंत तपनीय सुवर्णमय कांति वाला है तथा मेरु पर्वत की **वायव्य** दिशा में स्थित गंधमादन गजदंत पर्वत सुवर्णमय है।[6] अनादिनिधन इन चारों पर्वतों के लिये **तिलोयपण्णत्ती** में **वक्षार**[7] शब्द का प्रयोग किया गया है, किन्तु वहाँ भी इनका आकार हाथीदाँत समान ही कहा है; अतः गजदंत शब्द ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1843-1844 (2) त्रिलोकसार, गाथा-635
2. तिलोयपण्णत्ती, 4/1847-1848
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1852, 1853 (2) त्रिलोकसार, गाथा-636
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1818 (2) त्रिलोकसार, गाथा-637
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/8 (2) त्रिलोकसार, गाथा-470
   (3) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 4/19, पृ. 225/पं. 18
6. (1) हरिवंश पुराण, 5/210-212 (2) त्रिलोकसार, गाथा-663 (3) लोक विभाग, 1/163-164
7. वारण-दंत-सरिच्छा, सेला चत्तारि मेरु विदिसासुं।
   वक्खार त्ति पसिद्धो, अणाइ णिहणा महारम्मो।। – तिलोयपण्णत्ती, 4/2037

ये पर्वत एक ओर से मेरु तथा दूसरी ओर से निषध-नील पर्वतों को स्पर्श करते हैं। माल्यवान की गुफा से सीता नदी और विद्युत्प्रभ की गुफा से सीतोदा नदी निकलकर गई है।[1] इन चारों गजदंत पर्वतों की ऊँचाई सुमेरु पर्वत की ओर 500 योजन तथा निषध व नील पर्वत की ओर क्रमश: घटते-घटते 400 योजन रह गई है। इनकी लम्बाई का प्रमाण 30,209 सहित 6/19 योजन है।[2]

गजदंत पर्वतों के कूट – माल्यवान गजदंत पर्वत पर 9 कूट हैं। मेरु पर्वत की ओर से प्रारंभ कर इनके नाम क्रमश: सिद्धकूट, माल्यवान्, उत्तरकुरु, कच्छा, सागर, रजत, पूर्णभद्र, सीता और हरिसह हैं।[3] **सौमनस गजदंत** पर 7 कूट हैं। इनके नाम मेरु की ओर से प्रारंभ कर क्रमश: सिद्ध, सौमनस, देवकुरु, मंगल, विमल, कांचन और विशिष्टक हैं।[4] **विद्युत्प्रभ गजदंत** पर 9 कूट हैं। इनके नाम मेरु की ओर से प्रारंभ कर क्रमश: सिद्ध, विद्युत्प्रभ, देवकुरु, पद्म, तपन, स्वस्तिक, शतज्वल, सीतोदा और हरिसह हैं।[5] **गंधमादन गजदंत** पर 7 कूट हैं। इनके नाम सिद्धायतन गंधमादन, उत्तरकुरु, गंध-मालिनिका, लोहिताक्ष, स्फटिक और आनंद हैं।[6]

चारों गजदंत पर्वतों पर मेरु पर्वत के समीप स्थित प्रथम सिद्धायतन कूट पर एक अकृत्रिम जिनमंदिर है। इस कूट की ऊँचाई 125 योजन है, शेष कूटों की ऊँचाई क्रमश: हीन होती गयी है। अन्तिम कूट की ऊँचाई 100 योजन है। इन कूटों की लम्बाई एवं विस्तार विषयक उपदेश इस समय नष्ट हो चुका है।[7] सिद्धायतन कूट के अतिरिक्त शेष कूटों पर वेदी एवं तोरण सहित उत्तम रत्नों से खचित व्यंतर देवों के स्वर्णमय प्रासाद हैं।[8]

---

1. त्रिलोकसार, गाथा-664
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2043-2044 एवं 2049
   (2) हरिवंश पुराण, 5/213, 215
   (3) लोक विभाग, 1/165, 167
3. (1) हरिवंश पुराण, 5/219, 220
   (2) लोक विभाग, 1/170-171
4. (1) हरिवंश पुराण, 5/221
   (2) लोक विभाग, 1/172
5. (1) हरिवंश पुराण, 5/222-223
   (2) लोक विभाग, 1/173-174
6. (1) हरिवंश पुराण, 5/217-218
   (2) लोक विभाग, 1/168-169
7. तिलोयपण्णत्ती, 4/2072-2073
8. वही, गाथा-2067

कुरु क्षेत्र – गजदंत पर्वतों के मध्य का क्षेत्र कुरुक्षेत्र[1] कहलाता है। यह भोगभूमि क्षेत्र है, यहाँ रहने वाले लोगों को सभी भौतिक सुख-सुविधायें कल्पवृक्षों से प्राप्त होती हैं।

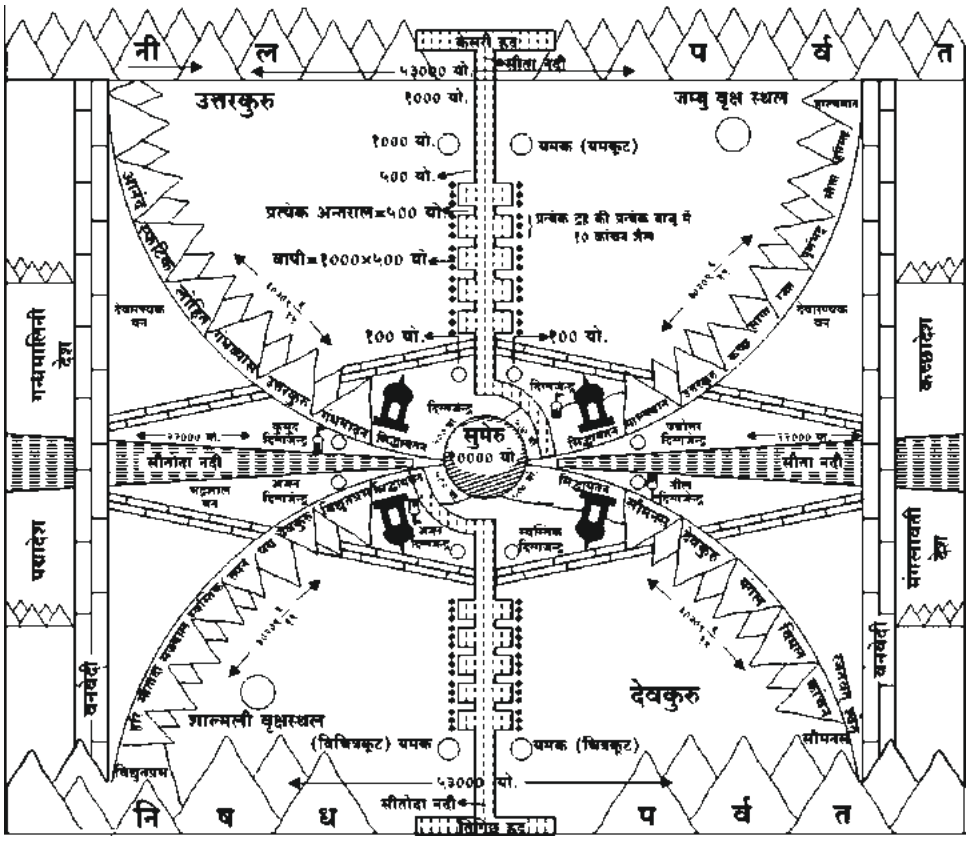

विविध रचनाओं सहित देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र

सुमेरु पर्वत की दक्षिण दिशा एवं निषध पर्वत की उत्तर दिशा में विद्युत्प्रभ गजदंत के पूर्व और सौमनस गजदंत पर्वत के पश्चिम में **देवकुरु** नामक उत्तम भोगभूमि है।[2] इसी प्रकार सुमेरु पर्वत की उत्तर दिशा एवं नील पर्वत की दक्षिण दिशा में तथा माल्यवान गजदंत और गंधमादन गजदंत के मध्य **उत्तरकुरु** नामक भोगभूमि है।[3] कुलाचलों के निकट गजदंत पर्वतों के मध्य इन कुरुक्षेत्रों का पूर्व-पश्चिम विस्तार 53,000 योजन है तथा धनुष का प्रमाण

1. कुरु क्षेत्रों के **दुर्लभ रंगीन चित्र परिशिष्ट** में देखें।
2. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 6/81
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2217-2218 (2) हरिवंश पुराण, 5/167 (3) लोक विभाग, 1/121

साठ हजार चार सौ अठारह (60,418) योजन और बारह कला अधिक है।[1] मेरु के उत्तर-दक्षिण दिशा में दोनों ओर कुरु क्षेत्रों का विस्तार ग्यारह हजार आठ सौ बियालीस (11,842) योजन व दो कला अधिक है।[2] देवकुरु क्षेत्र में निषध पर्वत से होकर बहने वाली सीतोदा नदी निकलती है तथा उत्तर कुरु क्षेत्र में नील पर्वत से होकर बहने वाली सीता नदी निकलती है। **इन कुरु क्षेत्रों में स्थित यमकगिरि, सीता-सीतोदा के पाँच-पाँच द्रह, कांचनगिरि तथा दिग्गजेन्द्र पर्वतों की चर्चा आगे की जायेगी।**

जम्बू एवं शाल्मली वृक्ष – गजदंत पर्वतों के मध्य स्थित कुरुक्षेत्रों में जम्बू एवं शाल्मली नाम से प्रसिद्ध शाश्वत वृक्ष हैं। देवकुरु क्षेत्र में स्थित **शाल्मली** वृक्ष सुमेरु पर्वत की नैऋत्य दिशा में निषध पर्वत के उत्तर, विद्युत्प्रभ गजदंत के पूर्व एवं सीतोदा नदी के पश्चिम में है।[3] उत्तरकुरु क्षेत्र में स्थित **जम्बू वृक्ष** सुमेरु की ईशान दिशा में नील पर्वत के दक्षिण, माल्यवान गजदंत के पश्चिम एवं सीता नदी के पूर्व में है।[4]

जम्बू एवं शाल्मली – दोनों वृक्षों सम्बन्धी सम्पूर्ण वर्णन एकसमान[5] ही है। ये वृक्ष वनस्पतिकायिक नहीं हैं; जैन आगमों में इनको अकृत्रिम और **पृथ्वीकायिक**[6] बताया है। ये अनेक प्रकार के महारत्नों से पिंजरित हैं।[7] यद्यपि ये वृक्ष पृथ्वीकायिक जीवों की उत्पत्ति-विनाश में कारण हैं, तथापि स्वयं अनादि-निधन हैं।[8]

पीठ पर स्थित मूल वृक्ष

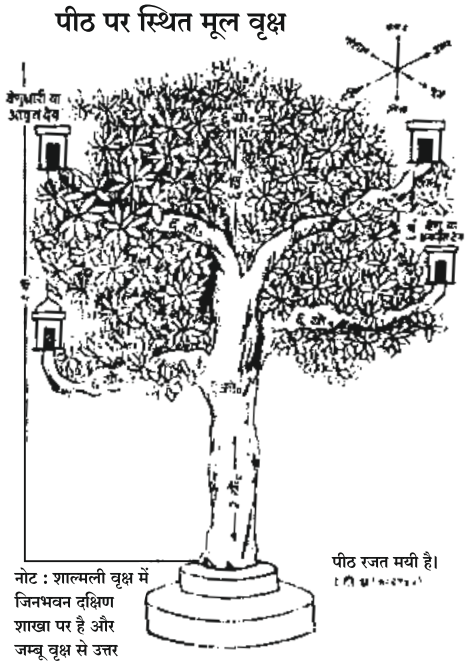

नोट : शाल्मली वृक्ष में जिनभवन दक्षिण शाखा पर है और जम्बू वृक्ष से उत्तर शाखा पर

1. (1) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, छट्ठो उद्देसो, गाथा-4, 5 (2) लोक विभाग, 1/125
2. (1) हरिवंश पुराण, 5/168 (2) लोक विभाग, 1/123 (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 6/3
3. (1) त्रिलोकसार, गाथा-651 (2) लोक विभाग, 1/142 (3) तिलोयपण्णत्ती, 4/2171-2172
4. (1) त्रिलोकसार, गाथा-639 (2) लोक विभाग, 1/126 (3) तिलोयपण्णत्ती, 4/2220
5. तिलोयपण्णत्ती, 4/2222
6. 'परमागमवर्णितानाद्यकृत्रिम**पार्थिवो** जम्बूवृक्षस्तिष्ठति।' – बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35 टीका, पृष्ठ-145
7. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 6/57
8. 'जीउप्पत्ति-खयाणं कारणभूदो अणाइणिहणो सो।' – तिलोयपण्णत्ती, 4/2184

जम्बू-शाल्मली वृक्षों के सामान्यस्थल का विस्तार नीचे 500 योजन एवं उसकी परिधि 1581 योजन से कुछ अधिक है। इन स्थलों की मध्य में ऊँचाई 8 योजन तथा अन्त में मोटाई 2 कोस है।[1] **राजवार्तिक**[2] एवं **जम्बूद्वीव पण्णत्ती**[3] की अपेक्षा इनकी मध्यम ऊँचाई 12 योजन है। इस स्थल के चारों ओर द्वार के उपरिम भाग में जिनेन्द्र भवनों से परिपूर्ण स्वर्णमयी वेदिका है।[4] वृक्षस्थल के बहुमध्य भाग में 8 योजन ऊँचाई वाला एक **रजतमय पीठ** है, जो मूल में 12 योजन तथा उसके ऊपर 4 योजन विस्तार वाला गोलाकार है।[5] पीठ के मध्य में उत्सेध-योजन से आठ योजन ऊँचाई वाला मूलवृक्ष (जम्बू अथवा शाल्मली) है। इसकी वज्रमय जड़ दो कोस की है तथा स्कंध (तना) एक कोस मोटा एवं 2 योजन ऊँचा है।[6]

इस वृक्ष की चारों दिशाओं में दो कोस विस्तार एवं छह-छह योजन लम्बी तथा इतने ही अन्तराल से स्थित चार महाशाखायें हैं।[7] **लोक विभाग** में इन चारों शाखाओं की लम्बाई आठ-आठ योजन बताई है।[8] शाल्मली वृक्ष की दक्षिण शाखा पर तथा जम्बू वृक्ष की उत्तर शाखा पर अकृत्रिम जिनमंदिर है तथा शेष तीन शाखाओं पर **अनादृत यक्ष** के भवन हैं।[9] शाखाओं में मरकत, वैडूर्य, स्वर्ण और मूंगे से निर्मित विविध प्रकार के पत्ते हैं। ये वृक्ष पंचवर्ण रत्नों से निर्मित अनुपम रूप वाले अंकुर, फल एवं पुष्प से शोभायमान हैं।[10]

वृक्ष सामान्य स्थल की 12 भूमियाँ एवं परिवार वृक्ष –

कुरुक्षेत्रों में स्थित 500 योजन विस्तार वाले सामान्य वृक्षस्थल में एक के पीछे एक करके 12 वेदियाँ हैं, जो प्रत्येक दो कोस ऊँची और 500 धनुष विस्तार वाली हैं। इनके बीच

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/2173-2174
2. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/7, पृ.169/पं.18
3. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 6/58
4. तिलोयपण्णत्ती, 4/2176
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2177 (2) लोक विभाग, 1/128-129
6. तिलोयपण्णत्ती, 4/2179-2180
7. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2181
   (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 6/65
8. लोक विभाग, 1/130
9. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 6/67
10. तिलोयपण्णत्ती, 4/2182, 2183

वृक्षस्थल की 12 भूमियाँ

12 भूमियाँ हैं। **प्रथम** भूमि के मध्य में उपर्युक्त मूलवृक्ष (जम्बू-शाल्मली) स्थित है। **द्वितीय** भूमि के मध्य में वन वापिकायें हैं। **तृतीय** भूमि के मध्य त्रायस्त्रिंश जाति के देवों के प्रत्येक दिशा में सत्ताईस - इस प्रकार कुल 108 वृक्ष हैं। **चतुर्थ** भूमि के मध्य में पूर्वादि दिशाओं के चार द्वारों पर 4 वृक्ष हैं, जिन पर उनकी देवियाँ रहती हैं। **पाँचवीं** में वृक्ष नहीं है, केवल वापियाँ हैं। **छठी** में वनखण्ड हैं। **सातवी** की प्रत्येक दिशा में चार हजार - इस प्रकार कुल 16,000 वृक्ष अंगरक्षकों के हैं। **अष्टम** की ईशान, उत्तर और वायव्य दिशा में सामानिक देवों के कुल 4,000 वृक्ष हैं। **नवम** की आग्नेय दिशा में अभ्यंतर पारिषदों के कुल 32,000 वृक्ष हैं।

दसवीं के दक्षिण भाग में मध्यम पारिषदों के 40,000 वृक्ष हैं। **ग्यारहवीं** की नैऋत्य दिशा में बाह्य पारिषदों के 48,000 वृक्ष हैं। **बारहवीं** की पश्चिम दिशा की ओर सात प्रकार के अनीकों के अधिपति देवों के 7 ही वृक्ष हैं। ये सब वृक्ष मिलकर 1,40,120 हैं, सभी अनादि-निधन हैं।[1] इन समस्त वृक्षों के ऊपर रत्नमय अकृत्रिम जिनभवन हैं।[2] **समस्त वृक्षों में मुख्य जम्बू वृक्ष है, जिसके कारण ही इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप है।**

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2195-2207
   (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 6/68-74
   (3) लोक विभाग, 1/135-141
2. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 6/75

विदेह क्षेत्र –

उत्तर कुरु एवं देव कुरु भोग भूमियों के कारण मेरु पर्वत के पूर्व एवं पश्चिम भाग के रूप में विदेह क्षेत्र दो भागों में विभाजित हो गया – पूर्व विदेह क्षेत्र और पश्चिम विदेह क्षेत्र।[1] पूर्व विदेह क्षेत्र सीता नदी के कारण उत्तर-दक्षिण दो भागों में विभाजित हो गया। ठीक इसी प्रकार पश्चिम विदेह क्षेत्र भी सीतोदा नदी के कारण उत्तर-दक्षिण दो भागों में विभाजित हो गया। इस तरह विदेह के चार हिस्से हो गये – **(1)** पूर्व विदेह क्षेत्र की सीता नदी का उत्तर तट **(2)** पूर्व विदेह क्षेत्र की सीता नदी का दक्षिण तट **(3)** पश्चिम विदेह क्षेत्र की सीतोदा नदी का उत्तर तट **(4)** पश्चिम विदेह क्षेत्र की सीतोदा नदी का दक्षिण तट।

प्रत्येक तट पर चार वक्षार पर्वत एवं तीन विभंगा नदियाँ हैं, जिनके कारण वह 8 नगरियों में विभक्त हो गया।[2] इस प्रकार **पूर्व विदेह** में सीता नदी के उत्तर में 8, सीता नदी के दक्षिण में 8 तथा **पश्चिम विदेह** में सीतोदा नदी के उत्तर में 8 व सीतोदा नदी के दक्षिण में 8 खण्ड हैं। ये 32 खण्ड ही विदेह की 32 नगरियाँ अथवा विदेह के 32 क्षेत्र हैं।

विदेह क्षेत्र की नदियाँ – विदेह क्षेत्र में बहने वाली दो प्रमुख नदियाँ हैं, सीतोदा और सीता। कहने को तो नदियाँ मात्र हैं, परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि इन दोनों की सहायक नदियाँ 1,12,000 कही गई हैं। इन नदियों का रचनात्मक स्वरूप, प्रवाह एवं मार्ग में आने वाले पर्वतों का सूक्ष्म विवेचन जैन आचार्यों ने किया है।

सीतोदा नदी – यह तिगिञ्छ सरोवर के उत्तर द्वार से निकलती है। निषध पर्वत पर ही सात हजार चार सौ इक्कीस (7421) योजन से कुछ अधिक चलकर गोमुख द्वार से सीतोदा कुण्ड में गिरती है।[3] यह नदी उत्तर दिशा में बढ़ती हुई मेरु पर्वत से दो कोस दूर रहकर पश्चिम दिशा की ओर मुड़ जाती है।[4] वहाँ भद्रशाल वन, विद्युत्प्रभ गजदंत और देवकुरु भोगभूमि से होती हुई पश्चिम दिशा की ओर समुद्र में जाकर मिलती है। गजदंत और देवकुरु की चर्चा मेरु पर्वत वर्णन के साथ पूर्व में की जा चुकी है।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/2225
2. वहीं, गाथा-2226 व 2228
3. वहीं, 4/2090-2091
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2093 (2) लोक विभाग, 1/111

देवकुरु में उत्पन्न हुई नदियाँ चौरासी हजार (84,000) हैं। सम्पूर्ण पश्चिम विदेह में उत्पन्न नदियों की संख्या चार लाख अड़तालीस हजार अड़तीस (4,48,038) है।[1] इसका खुलासा इस प्रकार है –

पश्चिम विदेह की 16 नगरियों में गंगा-सिन्धु, रक्ता-रक्तोदा नाम से ही 32 नदियाँ हैं तथा छह विभंगा नदियाँ हैं। इन 32 नदियों में प्रत्येक की सहायक नदियाँ 14,000-14,000 हैं[2]; इस प्रकार 4,48,000 हुईं तथा छह विभंगा और 32 नदियाँ – ऐसे कुल चार लाख अड़तालीस हजार अड़तीस (4,48,038) नदियाँ **पश्चिम विदेह** में बहती हैं। इसी प्रकार पूर्व विदेह में भी जानना चाहिये।

यमक गिरि (पर्वत) – निषध पर्वत से उत्तर दिशा की ओर 1000 योजन जाकर सीतोदा नदी के दोनों किनारों पर **यमक गिरि** स्थित है।[3] जो कि नदी के पूर्व में यमकूट एवं पश्चिम में मेघकूट नाम वाले हैं। इन पर्वतों का अन्तराल 500 योजन है। प्रत्येक की ऊँचाई 2000 योजन, मूल में विस्तार 1000 योजन, मध्य में 750 योजन तथा शिखर पर 500 योजन है।[4] लोक विभाग में अन्य कथन समान होने पर भी ऊँचाई 1000 योजन बताई गई है।[5] इस यमक गिरि के मध्य में 125 कोस लम्बा एवं 250 कोस ऊँचा दिव्य प्रासाद है[6], जिस पर पर्वत के सदृश नाम वाले व्यंतर (यमक) देव निवास करते हैं।[7] इन भवनों से पूर्व दिशा में पाण्डुक वन के जिनभवन सदृश एक-एक उत्तम जिनभवन है।[8]

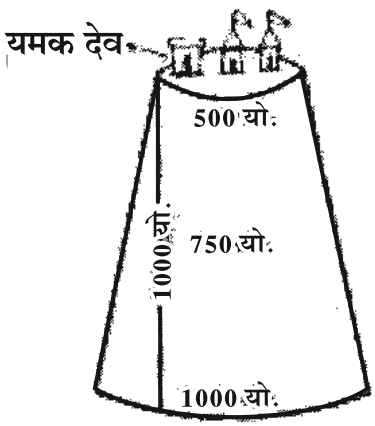

यमक गिरि

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/2096-2097
2. लोक विभाग, 1/213
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2100 (2) लोक विभाग, 1/146
4. तिलोयपण्णत्ती, 4/2102-2103
5. 'सहस्रंशुद्धमुच्छ्रितम्' - लोक विभाग, 1/147
6. तिलोयपण्णत्ती, 4/2105
7. वहीं, 4/2109 (पूर्वार्द्ध)
8. वहीं, 4/2112

पंच सरोवर – यमक गिरि से आगे उत्तर दिशा में 500 योजन जाकर सीतोदा नदी के अन्तर्गत पाँच द्रह (सरोवर) हैं। ये सरोवर पद्म द्रह के समान होने पर भी दक्षिण-उत्तर आयत हैं, इन सबमें 500 योजन का अन्तराल है।[1] ये प्रत्येक द्रह 1000 योजन लम्बे, 500 योजन चौड़े और 10 योजन गहराई वाले हैं। इन पाँच सरोवरों के नाम निषध, देवकुरु, सूर, सुलस और विद्युत् हैं।[2] प्रत्येक सरोवर का वर्णन हिमवन पर्वत पर स्थित पद्म सरोवर के समान है[3] अर्थात् प्रत्येक के बीच में एक लाख चालीस हजार एक सौ सोलह (1,40,116) कमल हैं। विशेषता यह है कि इनमें स्थित दिव्य भवनों में द्रह के नाम वाले नागकुमार देव निवास करते हैं।

कांचन शैल – सीतोदा नदी के प्रवाह क्रम के मध्य में आये पाँच सरोवरों में प्रत्येक सरोवर के पूर्व और पश्चिम दिशा में 100 योजन ऊँचे दस-दस कांचन पर्वत हैं। ये पर्वत मूल में 100 योजन, मध्य में 75 योजन एवं शिखर पर 50 योजन विस्तार वाले हैं।[4] इनके ऊपर भवन में कांचन देवों के निवास हैं।[5] सीतोदा नदी के सरोवरों में विद्युत् सरोवर (अंतिम सरोवर) से उत्तर की ओर 2092 सहित 2/19 योजन जाकर गजदंत पर्वतों से संलग्न दिव्य वेदी है। इसकी ऊँचाई एक योजन एवं विस्तार अर्द्ध कोस है। यह वेदी मार्ग, अट्टालिका, तोरण द्वार एवं द्वारों के उपरिम भागों में जिनभवनों से परिपूर्ण है।[6]

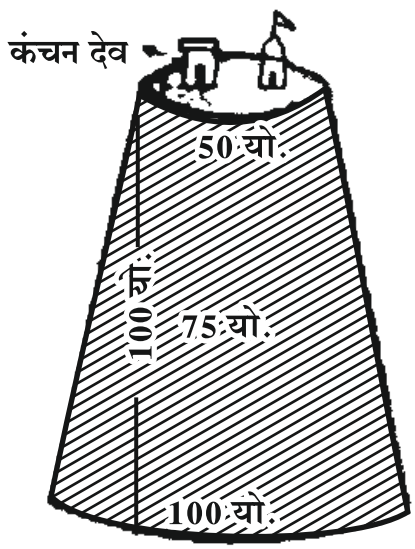

कांचन गिरि

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2114 (2) लोक विभाग, 1/149-150
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2115-2116 (2) लोक विभाग, 1/151
3. तिलोयपण्णत्ती, 4/2118
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2119, 2120 (2) हरिवंश पुराण, 5/200-201
   (3) लोक विभाग, 1/155, 156
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2124 (2) लोक विभाग, 1/157
6. तिलोयपण्णत्ती, 4/2125-2126

दिग्गज पर्वत – भद्रशाल वन के भीतर मेरु पर्वत के दक्षिण में सीतोदा नदी के पूर्व-पश्चिमी भाग पर स्वस्तिक और अंजन नामक दो पर्वत हैं। सीतोदा नदी के दक्षिण-उत्तर भाग पर कुमुद और पलाश नामक दो पर्वत हैं। ये दोनों पर्वत मेरु के पश्चिम में हैं।[1] इस प्रकार चार दिग्गज पर्वत **सीतोदा** नदी संबंधी हैं और ऐसे ही चार पर्वत **सीता** नदी संबंधी हैं। जम्बू द्वीप में कुल 8 दिग्गज पर्वत हैं। ये पर्वत भी भद्रशाल वन में सुशोभित हैं, इन पर्वतों का प्रमाण कांचनगिरि के समान है। इनके ऊपर दिग्गजेन्द्र देव निवास करते हैं।[2]

सीता नदी – इसका सर्व कथन सीतोदावत् है। विशेषता यह है कि यह नील पर्वत के केसरी सरोवर के दक्षिण द्वार से निकलती है। सीता कुण्ड में गिरती है। माल्यवान गजदन्त की गुफा से निकलकर पूर्व विदेह क्षेत्र में बहती हुई लवण समुद्र में मिलती है।[3] इसकी परिवार नदियाँ, विस्तार, गहराई, वन-उपवन आदि सभी सीतोदा नदी के समान ही हैं।[4]

विदेह क्षेत्र स्थित 16 वक्षार पर्वत – विदेह क्षेत्र में नदियों से कुलाचल तक उत्तर-दक्षिण लम्बायमान कुल 16 विशाल पर्वत हैं, जिनके लिये ग्रन्थों में **वक्षारगिरि** शब्द का प्रयोग किया गया है। इन सभी वक्षारों के नाम पृथक्-पृथक् हैं तथा सभी पर अकृत्रिम चैत्यालय भी है।

पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता महानदी और नील पर्वत के मध्य लम्बायमान चित्रकूट, पद्मकूट, नलिनकूट एवं एकशैल नामक 4 वक्षार पर्वत हैं।[5] सीता महानदी और निषध पर्वत के मध्य लम्बायमान त्रिकूट, वैश्रवण, अंजन और आत्मांजन नामक 4 वक्षार हैं।[6] पश्चिम विदेह क्षेत्र में सीतोदा महानदी और निषध पर्वत के बीच में लम्बायमान श्रद्धावान, विजयवान, आशीर्विष और सुखावह नामक 4 वक्षार हैं।[7] सीतोदा महानदी और नील पर्वत के मध्य लम्बायमान चन्द्रमाल, सूर्यमाल, नागमाल और देवमाल (मेघमाल) नामक 4 वक्षार पर्वत हैं।[8] इस प्रकार

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2128, 2137 (2) हरिवंश पुराण, 5/206-207 (3) लोक विभाग, 1/159-160
2. (1) हरिवंश पुराण, 5/208-209 (2) लोक विभाग, 1/162
3. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/22, पृष्ठ-189/पंक्ति 8
4. तिलोयपण्णत्ती, 4/2147
5. (1) हरिवंश पुराण, 5/228 (2) त्रिलोकसार, गाथा-666
6. (1) हरिवंश पुराण, 5/229 (2) त्रिलोकसार, गाथा-667
7. (1) हरिवंश पुराण, 5/230-231 (2) त्रिलोकसार, गाथा-668
8. त्रिलोकसार, गाथा-669

विदेह क्षेत्र में कुल 16 वक्षारगिरि हैं। **इन सभी 16 पर्वतों के लिये तिलोय पण्णत्ती[1] में गजदंत शब्द का प्रयोग किया गया है।**

इन वक्षार पर्वतों की ऊँचाई निषध-नील पर्वत की ओर 400 योजन एवं नदी तट की ओर 500 योजन है।[2] इनके पार्श्वभागों में पर्वत के समान लम्बे अर्द्ध योजन विस्तृत दिव्य वनखंड हैं। प्रत्येक पर्वत का विस्तार सर्वत्र 500 योजन[3] है।

प्रत्येक वक्षार पर चार-चार कूट हैं। निषध-नील पर्वत की तरफ वाले कूटों पर दिक्कन्यायें निवास करती हैं तथा नदी की तरफ वाले कूट पर अकृत्रिम जिनमंदिर है। मध्य के कूटों पर व्यंतर देव क्रीड़ा करते हैं।[4]

विदेह क्षेत्र की 12 विभंगा नदियाँ - पूर्व विदेह क्षेत्र में नील पर्वत से निकलकर सीता नदी में मिलने वाली ग्राहवती, ह्रदवती एवं पंकवती नामक 3 विभंगा नदियाँ वक्षारों के मध्य से बहती हैं।[5] पूर्व विदेह क्षेत्र में ही निषध पर्वत से निकलकर सीता नदी में मिलने वाली तप्तजला, मत्तजला एवं उन्मत्तजला नामक 3 विभंगा नदियाँ, 4 वक्षारों के मध्य से बहती हैं।[6] इस प्रकार पूर्व विदेह क्षेत्र में 6 विभंगा नदियाँ बहती हैं।[7]

पश्चिम विदेह में निषध पर्वत से निकलकर क्षीरोदा, सीतोदा एवं स्रोतोवाहिनी नामक 3 विभंगा नदियाँ, 4 वक्षारों के मध्य से बहकर सीतोदा नदी में मिलती हैं।[8] पश्चिम विदेह क्षेत्र में नील पर्वत से निकलकर गंधमालिनी, फेनमालिनी एवं ऊर्मिमालिनी नामक 3 विभंगा नदियाँ 4 वक्षारों के मध्य से बहकर सीतोदा नदी में मिलती हैं।[9] इस प्रकार 6 विभंगा पश्चिम विदेह क्षेत्र की तथा 6 विभंगा पूर्व विदेह क्षेत्र की - कुल 12 विभंगा नदियाँ हैं। प्रत्येक विभंगा नदी की परिवार नदियाँ 28,000 हैं।[10] इन विभंगा नदियों का विस्तार उत्पत्ति स्थल पर 50 कोस तथा सीता-सीतोदा में प्रवेश के स्थान पर 500 कोस है।[11]

---

1. .....एदे **गयदंतगिरी** पुव्वविदेहम्मि अट्ठ चेट्ठंते।
   .....एदे **वारणदंताचला** ठिदा अट्ठ। - तिलोयपण्णत्ती, 4/2238-2240
2. (1) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 7/19 (2) हरिवंश पुराण, 5/233
3. तिलोयपण्णत्ती, 4/2244 (पूर्वार्द्ध) 4. हरिवंश पुराण, 5/234-235
5. वहीं, श्लोक-239 6. हरिवंश पुराण, 5/240
7. '.....छट्ठी पुव्वविदेहे विभंगणई।' तिलोयपण्णत्ती, 4/2241
8. हरिवंश पुराण, 5/241 9. वहीं, श्लोक-242
10. तिलोयपण्णत्ती, 4/2258 11. वहीं, गाथा-2244-2245

विदेह के 32 क्षेत्र : नाम व रचना – पूर्व एवं पश्चिम विदेह क्षेत्रों में सीता एवं सीतोदा नदी के उत्तर एवं दक्षिण तटों पर स्थित पूर्व-पश्चिम लम्बायमान वक्षार एवं विभंगा नदियों से कुल 32 क्षेत्र हो जाते हैं। ग्रन्थों में उन सबके नाम, उनकी आंतरिक रचना, उनमें प्रत्येक के छह-छह खण्ड, लम्बाई-चौड़ाई आदि का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। 32 क्षेत्रों के नाम निम्नानुसार हैं -

पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर, पश्चिम से पूर्व की ओर क्रमश: कच्छा, सुकच्छा, महाकच्छा, कच्छावती, आवर्ता, लांगलावर्ता, पुष्कला, पुष्कलावती नामक 8 क्षेत्र हैं।[1] पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर, पूर्व से पश्चिम की ओर क्रमश: वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्सकावती, रम्या, सुरम्या, रमणीया और मंगलावती नामक 8 क्षेत्र हैं।[2]

पश्चिम विदेह क्षेत्र में सीतोदा नदी के दक्षिण तट पर, पूर्व से पश्चिम की ओर क्रमश: पद्मा, सुपद्मा, महापद्मा, पद्मकावती, शंखा, नलिनी, कुमुदा और सरिता नामक 8 क्षेत्र हैं।[3] पश्चिम विदेह क्षेत्र में सीतोदा नदी के उत्तर तट पर, पश्चिम से पूर्व की ओर क्रमश: वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, वप्रकावती, गन्धा, सुगन्धा, गन्धिला और गन्धमालिनी नामक 8 क्षेत्र हैं।[4]

क्षेत्र (नगरी) की रचना – विदेह की इन 32 नगरियों में प्रत्येक की लम्बाई (उत्तर-दक्षिण) 16,592 सहित 2/19 योजन तथा पूर्व-पश्चिम विस्तार 2,212 सहित 7/8 योजन है।[5]

32 क्षेत्रों में प्रथम क्षेत्र का नाम कच्छा है। भरत क्षेत्र एवं ऐरावत क्षेत्र के समान ही इन क्षेत्रों के भी छह-छह खण्ड हैं।[6] भरत क्षेत्र के विजयार्द्ध के समान इन नगरियों में पूर्व-पश्चिम विस्तार

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2232 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ. 176/पं.15
   (3) हरिवंश पुराण, 5/245-246
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2233 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ.177/पं. 8
   (3) हरिवंश पुराण, 5/247-248
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2234 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ.177/पं.19
   (3) हरिवंश पुराण, 5/249-250
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2235 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ.177/पं.27
   (3) हरिवंश पुराण, 5/251-252
5. (1) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ.176/पं.18-19 (2) तिलोयपण्णत्ती, 4/2257 व 2243
   (3) हरिवंश पुराण, 5/253
6. हरिवंश पुराण, 5/246

वाला एक-एक विजयार्द्ध पर्वत है।[1] इस प्रकार विदेह में 32 विजयार्द्ध पर्वत हैं। इन पर्वतों की लम्बाई क्षेत्र के बराबर अर्थात् 2,212 सहित 2/19 योजन है तथा विस्तार 50 योजन है।

इन विजयार्द्धों की दो-दो श्रेणियाँ हैं, प्रत्येक श्रेणी में पचपन-पचपन नगर हैं और उन नगरों में भरत तथा ऐरावत क्षेत्रों के समान विद्याधर निवास करते हैं।[2]

पूर्व विदेह में कच्छा आदि प्रत्येक क्षेत्र में गंगा-सिन्धु नाम की दो-दो नदियाँ बहती हैं, जो नील पर्वत से निकलकर विजयार्द्ध की दोनों गुफाओं का उल्लंघन करती हुई सीता नदी में प्रवेश करती है। विजयार्द्ध की दोनों गुफायें 50 योजन लम्बी, 12 योजन चौड़ी और 8 योजन ऊँची हैं। ये गंगा-सिन्धु नदियाँ भरत क्षेत्र में बहने वाली गंगा-सिन्धु नदियों के समान हैं। इसी प्रकार पूर्व विदेह क्षेत्र में निषध पर्वत से निकली रक्ता-रक्तोदा नदियाँ ऐरावत क्षेत्र की रक्ता-रक्तोदा के समान हैं।

पश्चिम विदेह में भी इसीप्रकार गंगा-सिन्धु और रक्ता-रक्तोदा नामक 16-16 नदियाँ निषध व नील पर्वत से निकलकर सीतोदा महानदी की ओर जाती हैं।[3] ये सभी 64 नदियाँ 14-14 हजार परिवार नदियों से युक्त हैं।[4]

भरत क्षेत्र –

यह जम्बू द्वीप की दक्षिण दिशा में पहला क्षेत्र है। इसके उत्तर में हिमवन पर्वत है तथा शेष दिशाओं में यह लवण समुद्र से घिरा हुआ है। हम लोग इसी भरत क्षेत्र में रहते हैं। इस भरत क्षेत्र की रचना कैसी है? इसमें आधुनिक विश्व कहाँ है? आदि बातों के संदर्भ में यहाँ चर्चा अपेक्षित है।

भरत क्षेत्र का रचनात्मक स्वरूप – भरत क्षेत्र के मध्य में विजयार्द्ध पर्वत तथा गंगा-सिन्धु नामक दो महानदियों के कारण इस क्षेत्र के छह खण्ड हो गये हैं।[5] विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण दिशा तथा गंगा-सिन्धु नदियों के मध्य भाग को **आर्य खण्ड** के नाम से जाना जाता

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2283 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ.176/पं.19
2. (1) हरिवंश पुराण, 5/256 (2) लोक विभाग, 1/199-200
3. हरिवंश पुराण, 5/267-270
4. (1) हरिवंश पुराण, 5/271 (2) लोक विभाग, /209-213
5. तिलोयपण्णत्ती, 4/269

है तथा शेष 5 खण्ड **म्लेच्छ खण्ड** कहलाते हैं। चक्रवर्ती सम्राट इन छह खण्डों का अधिपति होता है। आर्य खण्ड के बीच में 12 योजन लम्बी तथा 9 योजन चौड़ी विनीता (अयोध्या) नामक नगरी थी।[1] **आज की उपलब्ध दुनिया इस आर्य खण्ड में ही है।**[2] आर्य खण्ड का उत्तर-दक्षिण विस्तार 238 सहित 3/19 योजन है।[3] युग की आदि में सम्राट भरत चक्रवर्ती ने सर्वप्रथम भरत क्षेत्र के इन छह खण्डों पर विजय प्राप्त की थी।

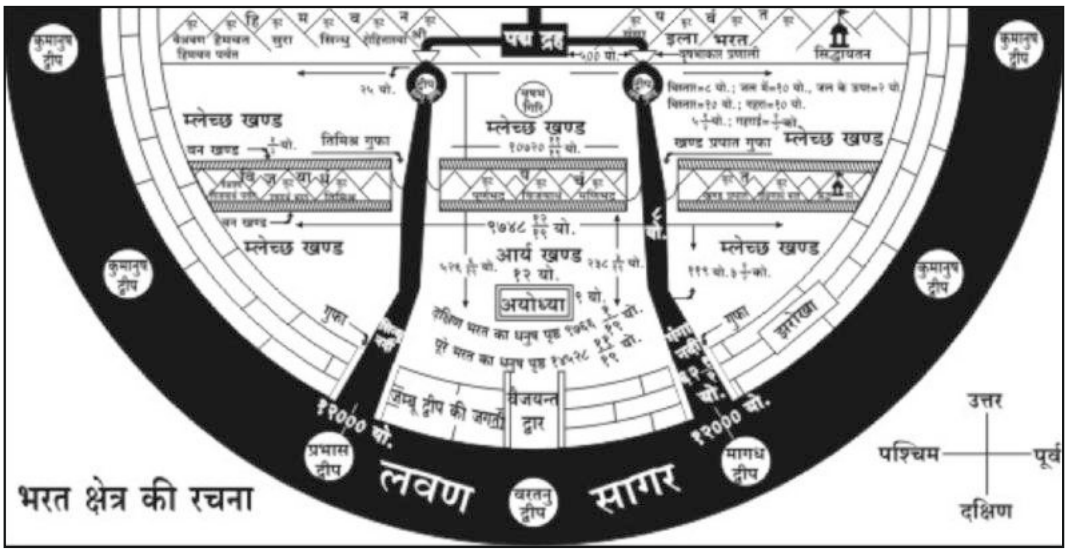

भरत क्षेत्र की रचना

भरत क्षेत्र के छह खण्ड

नामकरण – भरत क्षेत्र के नामकरण के संबंध में आचार्य अकलंक देव लिखते हैं कि **'भरतक्षत्रिययोगाद्वर्षो भरत:'**[4] अवसर्पिणी काल के प्रारम्भ में सर्वप्रथम ऋषभदेव के पुत्र षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती भरत ने यहाँ राज्य किया था, अत: इसे भारतवर्ष कहा। साथ ही वे इसे अहेतुक बताते हुये लिखते हैं – **'अनादिसंज्ञासम्बन्धाद्वा।'**[5] जिसप्रकार जगत् अनादि अहेतुक है, उसी प्रकार क्षेत्रादि के नाम भी अनादि अहेतुक हैं।

1. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ.171/पं. 6
2. (1) त्रिलोक भास्कर, पृष्ठ - 102 : आर्यिका ज्ञानमती माताजी (2) परिशिष्ट में भरत क्षेत्र का **रंगीन चित्र** देखें।
3. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 2/99-100
4. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, वार्तिक-1
5. वहीं, 3/10, वार्तिक-2

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने ऋषभदेव पुत्र भरत के नाम पर ही देश का नाम भारत होने की बात लिखी[1] है। **हिन्दू साहित्य** में भी इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। **श्रीमद् भागवत** में लिखा है कि ''भगवान ऋषभदेव के सौ पुत्रों में महायोगी भरतजी सबसे बड़े व अधिक गुणवान थे। उन्हीं के नाम से लोग इस अजनाभ खण्ड को भारतवर्ष कहने लगे।''[2] **विष्णुमहापुराणम्**[3] में भी ऐसी ही बात मिलती है।

वृषभाचल – भरत क्षेत्र के छह खण्डों में उत्तर दिशा की ओर मध्य वाले म्लेच्छ खण्ड में अतीतकालीन चक्रवर्तियों के नामों से व्याप्त उनका मदमर्दन करनेवाला रत्नों से निर्मित वृषभगिरि (वृषभाचल) है।[4] चक्रवर्ती दिग्विजय के उपरान्त इस पर अपना नाम लिखते हैं। यह पर्वत 100 योजन ऊँचाई एवं 25 योजन नींव वाला है। इसका मूल में विस्तार 100 योजन, मध्य में 75 योजन एवं शिखर पर 50 योजन है।[5]

अति आश्चर्य की बात यह है कि इतनी विशाल पर्वत तुल्य शिला अतीत के चक्रवर्तियों के नामों से भरी हुई है। वहाँ अपना नाम लिखने के लिये तिल मात्र भी स्थान न मिलने से चक्रवर्ती विजयाभिमान से रहित चिंतायुक्त होकर खड़े रह जाते हैं।[6] तथा प्रत्येक चक्रवर्ती को अपना नाम लिखने के लिये पूर्व के किसी चक्रवर्ती का नाम मिटाना पड़ता है।

विजयार्द्ध पर्वत – चक्रवर्ती के विजय क्षेत्र की आधी सीमा इस पर्वत से निर्धारित होती है; अत: इसे विजयार्द्ध कहते हैं। यह पर्वत मूल में उत्तर-दक्षिण 50 योजन विस्तार वाला है। इसकी ऊँचाई 25 योजन तथा नींव सवा छह योजन है। यह पर्वत पूर्व-पश्चिम दिशा में लवण समुद्र को स्पर्श करता है।[7] इस पर्वत में तिमिस्र और खण्ड प्रपात नाम की दो गुफाएं है। ये गुफाएं उत्तर-दक्षिण 50 योजन लम्बी, पूर्व-पश्चिम 12 योजन चौड़ाई वाली तथा 8 योजन ऊँचाई से युक्त हैं। इन दोनों गुफाओं पर उत्तर-दक्षिण दोनों दिशाओं में

---

1. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ-109
2. श्रीमद् भागवत-सुधा-सागर, स्कन्ध 5, अध्याय-4, पृष्ठ-276-277
3. श्री विष्णु महापुराणम्, अंश-2, अध्याय-1/28, 29, 32
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/271 (उत्तरार्द्ध) व 272
   (2) त्रिलोकसार, गाथा-710
5. तिलोयपण्णत्ती, 4/273 व 274 (पूर्वार्द्ध)
6. वहीं, 4/1364
7. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ.171/पं. 26

सवा छह योजन चौड़े, एक कोस मोटे और आठ योजन ऊँचे वज्रमय दो-दो किवाड़ लगे हैं। इनसे ही चक्रवर्ती उत्तर भरत क्षेत्र में विजय प्राप्त करने के लिये जाता है तथा इन्हीं गुफाओं से निकलकर गंगा-सिन्धु महानदियाँ लवण समुद्र में मिलती हैं।[1] विजयार्द्ध की गुफाओं के भीतरी मार्गों से उत्पन्न होकर बहने वाली उन्मग्ना और निमग्ना[2] नदियाँ - गंगा-सिन्धु में मिलती हैं।

विजयार्द्ध पर्वत पर भूमितल से 10 योजन ऊपर जाकर दोनों पार्श्व भागों में दस योजन विस्तार तथा पर्वत बराबर लम्बी विद्याधरों की श्रेणियाँ हैं। इस विजयार्द्ध पर दक्षिण दिशा की श्रेणी में पचास और उत्तर दिशा की श्रेणी में साठ नगर हैं।[3] इन सभी 110 नगरियों के नाम **तिलोयपण्णत्ती**[4] में दिये गये हैं। ये **एक-एक नगर हिन्दुस्तान से भी कई गुने बड़े हैं।**[5] विद्याधरों के नगरों में सदा ही चौथा काल (दु:षमा-सुषमा काल के आदि से लगाकर उसी काल के अंतपर्यंत हानि वृद्धि रूप) वर्तता है।[6] ये सभी 110 नगर अनेक उद्यानों से विभूषित जिनभवनों से युक्त हैं। यहाँ के निवासी भरत क्षेत्र की तरह ही **षट्कर्म से आजीविका** करते हैं; किन्तु अनेक प्रकार की विद्याओं के स्वामी होने के कारण विद्याधर

1. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ. 171/पं. 27-30
2. तिलोयपण्णत्ती, 4/240
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/111, 113 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ.172/पं. 1-2
4. तिलोयपण्णत्ती, 4/114 से 128
5. त्रिलोक भास्कर, पृष्ठ-85
6. (1) त्रिलोकसार, गाथा-883 (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 2/116

कहलाते हैं।[1] यदि कोई विद्याधर विदेह जाकर विद्याएँ छोड़कर दीक्षा ले और मोक्ष चला जाये तो सिद्धांत में कोई बाधा नहीं आती।[2] इनके मुख्यत: तो पाँच ही गुणस्थान होते हैं, किन्तु यदि ये विद्याधर विद्यायें छोड़ दें तो इनके चौदह गुणस्थान भी संभव हैं।[3]

विद्याधरों की श्रेणियों से भी 10 योजन ऊपर जाकर विजयार्द्ध पर्वत के दोनों पार्श्व भागों में 10 योजन विस्तार वाली आभियोग्य जाति के देवों की श्रेणियाँ हैं। इन दक्षिण-उत्तर श्रेणियों में दिव्य रूपवान सौधर्म इन्द्र के वाहन जाति के देव रहते हैं।[4]

आभियोग्य जाति के देवों की श्रेणियों से 5 योजन ऊपर जाकर दस योजन विस्तार वाला विजयार्द्ध पर्वत का उत्तम शिखर है।[5] इस शिखर पर 9 कूट हैं। इनके नाम पूर्व दिशा की ओर से क्रमश: सिद्धायतन कूट, दक्षिणार्द्ध भरत, खण्डप्रपात, मणिभद्र, विजयार्ध, पूर्ण भद्र, तिमिस्रगुहा, उत्तरार्द्ध भरत कूट और वैश्रवण कूट हैं। इन सभी कूटों का विस्तार एवं ऊँचाई सवा छह योजन है। सिद्धायतन कूट पर एक कोस लम्बा, आधा कोस चौड़ा और पौन कोस ऊँचाई वाला वेदिका से वेष्टित, चतुर्दिक द्वार वाला सुन्दर जिनमंदिर है।[6]

गंगा-सिन्धु नदियाँ – हिमवन पर्वत पर स्थित पद्म सरोवर से भरत क्षेत्र में गंगा-सिन्धु नामक दो प्रमुख नदियाँ बहती हैं। गंगा नदी पद्म सरोवर की पूर्व दिशा से निकलती है तथा सिन्धु नदी पद्म सरोवर की पश्चिम दिशा से निकलती है।

गंगा नदी – जहाँ से ये नदी बहना प्रारंभ करती हैं, वह वज्रमय मुख/द्वार है। वहाँ इसका विस्तार छह योजन एक कोस है, गहराई आधे कोस की है।[7] निर्गमन स्थान पर 9 योजन डेढ़ कोस ऊँचा तोरण द्वार है। यह तोरण द्वार सैकड़ों वंदनमालाओं, चँवर, घंटा, झारी, दर्पण, कलश आदि से शोभित है। यहाँ अपने अद्भुत प्रकाश से अंधकार को नष्ट करने वाली देवों और विद्याधरों से पूजित जिन प्रतिमायें विराजमान हैं।[8]

---

1. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ.172/पं. 4
2. पं. रतनचन्द जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व, पृष्ठ - 615
3. तिलोयपण्णत्ती, 4/2983
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/143, 146 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ.172/पं. 5
5. तिलोयपण्णत्ती, 4/147
6. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/150-152, 155 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/10, पृ. 172/पं. 10
   (3) हरिवंश पुराण, 5/26-30 (4) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 2/49-51
7. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/200 (2) हरिवंश पुराण, 5/136
8. तिलोयपण्णत्ती, 4/201-205

यह गंगा नदी पद्म सरोवर से उसी पर्वत पर पूर्व दिशा में पाँच सौ योजन आगे जाकर और पर्वत पर स्थित गंगा कूट तक न पहुँचकर उससे आधा योजन पहले ही दक्षिण दिशा की ओर मुड़ जाती है,[1] फिर दक्षिण दिशा में पर्वत पर ही[2] 523 सहित 29/152 योजन प्रमाण चलकर पर्वत के किनारे पर पहुँचती है, जहाँ गोमुखाकार नाली का रूप धारण करती है। यह नाली सींग, मुख, कान, जीभ और भृकुटी आदि से गाय के समान होने से इसे गोमुख या वृषभाकार भी कहते हैं।[3] पर्वत से गिरते समय नदी कुछ अधिक सौ योजन आकाश से उलंघकर पर्वत से पच्चीस योजन की दूरी पर नीचे गिरती है।[4]

पर्वत पर स्थित गोमुख से नदी जहाँ गिरती है, वहाँ पृथ्वीतल पर सब ओर से गोल 10 योजन गहरा तथा 60 योजन विस्तार वाला मणिमय सीढ़ियों से युक्त एक **कुण्ड** है[5], जिसके मध्य में **एक द्वीप** है, जो 8 योजन विस्तार से युक्त है, जल में 10 योजन तथा जल के ऊपर दो कोस ऊँचा है। द्वीप के ऊपर बहुमध्य भाग में उत्तम **वज्रमय पर्वत** कहा गया है। यह पर्वत दस योजन ऊँचा तथा मूल में चार योजन, मध्य में दो योजन तथा ऊपर एक योजन विस्तार वाला है। इस पर्वत के ऊपर मध्यभाग में स्वर्ण एवं रत्नों से निर्मित **'गंगा कूट'** नामक एक दिव्य प्रासाद (भवन) है,[6] जिसमें स्वयं गंगा देवी रहती है। शिखर पर सुशोभित उस वज्रमय प्रासाद का विस्तार मूल में तीन हजार धनुष, मध्य में दो हजार धनुष तथा ऊपर एक हजार धनुष है। भवन अंदर से 500 धनुष लम्बाई, 250 धनुष चौड़ाई और 2000 धनुष ऊँचाई वाला है।[7]

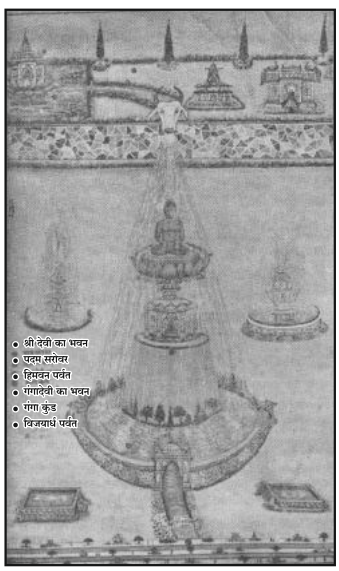

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/213 (2) हरिवंश पुराण, 5/138
2. तिलोयपण्णत्ती, 4/214
3. वहीं, गाथा-218
4. हरिवंश पुराण, 5/139
5. तिलोयपण्णत्ती, 4/221
6. तिलोयपण्णत्ती, 4/224-226
7. हरिवंश पुराण, 5/145-146

इस भवन के ऊपर कूट पर जटा मुकुट धारण किये हुये अकृत्रिम जिनेन्द्र प्रतिमा विराजमान है। इस प्रतिमा के ऊपर गिरती हुई गंगा नदी ऐसी लगती है, मानो जिनेन्द्र अभिषेक की भावना रखती हुई गिर रही हो। यह प्रतिमा कमल सदृश वर्ण वाली तथा कमलासन पर ही विराजमान है।[1]

हिमवन पर्वत के पद्म सरोवर से निकलकर गौमुख से गिरते समय प्रतिमा का अभिषेक करती हुई गंगा नदी का मनोरम दृश्य **चित्र के माध्यम से परिशिष्ट में** स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

उन्मग्ना और निमग्ना नदियाँ – गंगा नदी गंगा कुण्ड में से निकलकर दक्षिणाभिमुख होती हुई वैताढ्य (विजयार्द्ध) पर्वत की गुफा के मध्य में से पूर्व दिशा की ओर लवण समुद्र में जाकर मिल जाती है। रूपाचल (विजयार्द्ध) की गुफा में प्रवेश करने के स्थान पर गंगा नदी का विस्तार 8 योजन[2] प्रमाण होता है।

विजयार्द्ध पर्वत की 50 योजन लम्बी गुफा में से 25 योजन जाने पर **उन्मग्ना** और **निमग्ना**[3] नामक दो नदियाँ पर्वतीय गुफा कुण्डों के पूर्व-पश्चिम की ओर से निकलकर आती हुई इस गंगा नदी के प्रवाह में मिलती हैं। गंगा नदी में मिलते समय इन उन्मग्ना और निमग्ना नदियों का विस्तार दो योजन प्रमाण होता है।[4] उन्मग्ना नदी अपने स्वभाव से जल में गिरे हुये भारी से भारी पदार्थ (द्रव्य) को ऊपर की ओर ले जाती है तथा निमग्ना नदी हल्के से हल्के पदार्थ को नीचे ले जाती है।[5]

इस प्रकार 50 योजन विस्तार वाली विजयार्द्ध की गुफा को पार करके यह गंगा नदी विजयार्द्ध के दक्षिण द्वार से निकलती है। फिर 119 सहित 3/19 योजन दक्षिण भरत क्षेत्र में चलकर पूर्व की ओर मुड़ जाती है। वहाँ अपनी 14,000 परिवार नदियों सहित लवण समुद्र में प्रवेश करती है।[6] इस समय गंगा नदी का विस्तार साढ़े बासठ योजन और गहराई

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/232-234
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/239 (2) हरिवंश पुराण, 5/148 (उत्तरार्द्ध)
3. तिलोयपण्णत्ती, 4/240
4. त्रिलोकसार, गाथा-593
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/241-242 (2) त्रिलोकसार, गाथा-594, 595
6. तिलोयपण्णत्ती, 4/245-247

पाँच कोस प्रमाण हो जाती है।[1] **हिमवन पर्वत पर जहाँ से नदी बहना प्रारंभ करती है, वहाँ उसका विस्तार 6 योजन 1 कोस होता है; सो अन्त में लवण समुद्र में मिलते समय बढ़कर 10 गुना अर्थात् साढ़े बासठ योजन हो जाता है।**[2] ज्ञातव्य है कि गंगा की 14,000 सहायक नदियाँ ढाई म्लेच्छ खण्डों में ही बहती हैं, आर्य खण्ड में नहीं।[3]

सिन्धु नदी – यह पद्म सरोवर के पश्चिम द्वार से निकलती है। इस नदी का सम्पूर्ण विवरण गंगा नदी के समान[4] ही है। अन्तर मात्र इतना है कि गंगा नदी के मार्ग में गंगा कूट था, वहाँ गंगा देवी निवास करती थी और वह नदी पूर्व दिशा की ओर जाकर समुद्र में मिलती थी; जबकि यहाँ इस सिन्धु नदी के मार्ग में स्थित सिन्धु कूट पर सिन्धु देवी निवास करती है तथा यह नदी अन्त में पश्चिम दिशा की ओर लवण समुद्र में मिलती है।

गंगा एवं सिन्धु नदियों के विस्तार एवं प्रवाहक्रम की इस सूक्ष्म विवेचना को देखकर यह बात निश्चित तौर पर कही जा सकती है कि इन प्रकरणों का जैसा सूक्ष्म विवेचन जैन शास्त्रों में मिलता है, वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

आधुनिक विश्व – जैन आगमों के अनुसार भरत क्षेत्र का विस्तार 526 सहित 6/19 योजन है।[5] एक योजन 4000 मील का होता है, इसके अनुसार भरत क्षेत्र का विस्तार इक्कीस लाख पाँच हजार दो सौ तिरेसठ (21,05,263) मील ज्ञात होता है। जबकि वैज्ञानिकों द्वारा ज्ञात उपलब्ध आधुनिक विश्व का व्यास मात्र बारह हजार सात सौ छत्तीस (12,736) किलोमीटर है। जैन दर्शन मान्य असीम लोक की तुलना में यह क्षेत्र नगण्य (नहीं के बराबर) है।

डॉ. पारसमल अग्रवाल ने अपने एक आलेख[6] 'विज्ञान कितना जान पाया है' में यह बताते हुये लिखा है कि ''सन् 1967 में औषधि-विज्ञान का नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने वाले वैज्ञानिक जार्ज वाल्ड ने एक लेख में यह स्पष्ट बताया है कि –

'The smallest estimate we would consider of the fraction of stars in the milky way that should have a planet that could support life is one

1. तिलोयपण्णत्ती, गाथा-249
2. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 3/194
3. तिलोयपण्णत्ती, 4/248
4. हरिवंश पुराण, 5/151 (पूर्वार्द्ध)
5. 'भरत: षड्विंशति पंचयोजनशतविस्तार: षट्चैकोनविंशतिभागा योजनस्य' – तत्त्वार्थसूत्र, 3/24
6. जिनभाषित (मासिक), सितम्बर, 2009

percent. That means a billion such places in our own home galaxy, and with a billion such galaxies within reach of our telescopes, the already observed universe should contain at least a billion billion- 10^{13} places that can support life.'

तात्पर्य यह है कि जार्ज वाल्ड के अनुसार ''1000000000000000000 (एक के आगे 18 शून्य) से भी अधिक स्थान (पृथ्वी जैसे) इस ब्रह्माण्ड में हैं, जहाँ जीवधारी होने की संभावना है।''

यद्यपि वैज्ञानिकों की शोध-खोज से प्राप्त उपलब्ध दुनिया भी बहुत बड़ी है, सैटेलाइट आदि आधुनिक यन्त्रों से आज पृथ्वी के बहुत बड़े भू-खण्ड को प्रत्यक्षवत् जान-पाना भी वैज्ञानिकों की अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि है; तथापि बिना किसी उपकरण अथवा प्रयोगशाला के अलौकिक विश्व की सूक्ष्मतम विवेचना जैन मनीषियों की अद्भुत दिव्य दृष्टि की परिचायक है।

आधुनिक विश्व के संदर्भ में अनेक दार्शनिक विद्वानों का मानना है कि हमारी वर्तमान दुनिया जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र के आर्य खण्ड का एक छोटा-सा हिस्सा है।

जैन एवं वैदिक पूजन-पाठ/अनुष्ठानों के प्रसंग पर विद्वान्/पण्डितों द्वारा कुछ भी संकल्प दिलाते समय यह मंत्र बोला जाता है - ''ऊँ जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्यखण्डे.... देशे..... प्रान्ते.... नगरे....''[1] इसे वर्तमान में उपलब्ध छोटी-बड़ी सभी पूजन-पाठ की पुस्तकों में आसानी से देखा जा सकता है। सैकड़ों वर्षों से श्रद्धा के साथ उच्चारित इस मंत्र से यह तो स्पष्ट है कि जैन एवं वैदिक दोनों ही परम्परायें इस बात को स्वीकार करती हैं कि हम वर्तमान में जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में रहते हैं। यह भरत क्षेत्र छह खण्डों (पाँच म्लेच्छ और एक आर्य) में विभक्त है, इसमें भी हम आर्य खण्ड के एक छोटे से हिस्से में ही रहते हैं।

शास्त्रानुसार मध्यलोक की पृथ्वी समतल है, जबकि वैज्ञानिकों के अनुसार दुनिया नारंगी की तरह गोल है। आगमों में मध्यलोक को 'झल्लरी'[2] के आकार का और मनुष्य

1. जैन विधि विधान, पृष्ठ-13
2. (1) जंबूदीवपण्णत्ति संगहो, 11/106
   (2) आदिपुराण, 4/41

लोक को 'स्थाली'[1] के आकार का बताया है। आचार्य महाप्रज्ञ ने अपने एक लेख[2] में लिखा है कि वर्तमान में हमने झल्लरी शब्द को झालर मानकर और स्थाली शब्द को थाली मानकर पृथ्वी को वृत्त अथवा चपटी माना है। झल्लरी का एक अर्थ झाँझ नामक वाद्य यन्त्र भी होता है और स्थाली का अर्थ भोजन पकाने वाली हँडिया भी है। पर आधुनिक युग में इन शब्दों के ये अर्थ प्रचलित नहीं हैं। यदि हम झल्लरी का अर्थ झाँझ और स्थाली का अर्थ हँडिया मान लें तो पृथ्वी का आकार गोल सिद्ध हो जाता है।

जैन मान्यतानुसार यह पृथ्वी सर्वथा समतल/चपटी भी नहीं है। इस संदर्भ में आचार्य विद्यानन्दस्वामी लिखते हैं कि –

'न च वयं दर्पणसमतलामेव भूमिं भाषामहे प्रतीतिविरोधात् तस्याः कालादिवशादुपचयापचयसिद्धेनिम्नोन्नताकारसद्भावात्।'[3]

अर्थात् हम जैन लोग यह भी नहीं कहते कि पृथ्वी दर्पण के समान समतल ही है; क्योंकि समतल कहना प्रतीति के विरुद्ध है। कालादि के वश से घटा-बढ़ी होकर पृथ्वी में ऊँचा-नीचापन देखा जाता है। **आचार्य यतिवृषभ** ने अवसर्पिणी के छठे काल के अन्त में आर्यखण्ड की वृद्धिंगत एक योजन की भूमि को पुनः जलकर नष्ट होने की बात लिखी है।[4]

यह पृथ्वी किन्हीं प्राकृतिक कारणों से मध्य में एक योजन अर्थात् 4000 मील वृद्धि को प्राप्त हुई है, जो प्रलय काल में पुनः समतल हो जायेगी। **आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा मान्य वर्तमान उपलब्ध दुनिया को जैन मान्यतानुसार आर्यखण्ड की इस वृद्धिंगत भूमि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।**

इसप्रकार मध्यलोक में जम्बू द्वीप नामक इस तृतीय अध्याय में जम्बू द्वीप के क्षेत्र, कुलाचल, नदी, सरोवर आदि की चर्चा करते हुये उसमें आधुनिक विश्व की स्थिति को आगम के आलोक में दर्शाया है।

यद्यपि जम्बू द्वीप की चर्चा अन्य भारतीय दर्शनों में भी यत्र-तत्र देखने को मिलती है; तथापि इन विषयों पर जैन मनीषी आचार्यों का स्वतंत्र सांगोपांग चिन्तन भारतीय दार्शनिक जगत में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। ●

---

1. 'स्थालमिव च तिर्यग्लोक..' – प्रशमरति, 211/पृ. 542
2. तुलसीप्रज्ञा, अप्रैल-जून, 1975
3. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, 4/13/पृ. 563
4. एयं कमेण भरहे अज्जा खंडम्मि जोयणं एक्कं।
   चित्ताए उवरि ठिदा, दज्झइ वड्ढि गदा भूमी।। – तिलोयपण्णत्ती, 4/1572

4

मध्यलोक के प्रमुख द्वीप-समुद्र

मध्यलोक का सामान्य स्वरूप –

मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं।[1] असंख्यात की चर्चा भी असंभव है; उनके नाम भी आगम में उपलब्ध नहीं हैं। असंख्यात द्वीप समुद्रों में से प्रारंभ के सिर्फ 16 द्वीप एवं 16 समुद्रों तथा अन्तिम 16 द्वीप एवं 16 समुद्रों के नाम ही आगम में मिलते हैं। उनके मध्य असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं, जिनके नाम उपलब्ध आगमों में नहीं मिलते। दो द्वीपों के बीच में समुद्र तथा दो समुद्रों के बीच में द्वीप स्थित है[2] अर्थात् प्रत्येक द्वीप को समुद्र ने तथा प्रत्येक समुद्र को द्वीप ने घेर रखा है। अंत में स्वयंभूरमण समुद्र है, जिसे घेरे हुये कोई भी द्वीप नहीं है। इस प्रकार मध्यलोक के प्रारंभ में जम्बू द्वीप तथा अन्त में स्वयंभूरमण समुद्र है।[3]

मध्य के असंख्यात द्वीपों के नामों के बारे में कहा गया है कि इस लोक में जितने शुभ नाम हैं, उन सब नाम वाले द्वीप इस मध्यलोक में हैं तथा जिस नाम वाला द्वीप है, उसे घेरे हुये उसी नाम वाला समुद्र है।[4] ये सभी द्वीप समुद्र एक-दूसरे को घेरे हुये दुगने-दुगने विस्तार वाले हैं।[5] सभी समुद्रों की गहराई एक हजार योजन है अर्थात् सभी समुद्र चित्रा पृथ्वी को खण्डित करके वज्रा पृथ्वी पर स्थित हैं तथा सभी द्वीप चित्रा पृथ्वी के ऊपरी भाग पर स्थित हैं।[6]

द्वीप समुद्रों के उपलब्ध नाम – मध्यलोक के प्रारम्भिक 16 द्वीप-समुद्रों तथा अंतिम 16 द्वीप-समुद्रों के नाम आगमों में उपलब्ध हैं, जो इसप्रकार हैं[7] –

1. सर्वार्थसिद्धि 3/7/379, पृ.156
2. हरिवंश पुराण, 5/627
3. तिलोयपण्णत्ती, 5/8
4. (1) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/87, 89 (2) लोक विभाग, 4/12
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/32 (2) हरिवंश पुराण, 5/621
6. तिलोयपण्णत्ती, 5/10
7. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/13-21 (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/84-86
   (3) हरिवंश पुराण, 5/613-620 (4) लोक विभाग, 4/1-6

(1) जम्बू द्वीप, लवण समुद्र (2) धातकीखण्ड द्वीप, कालोद समुद्र (3) पुष्करवर द्वीप, पुष्करवर समुद्र (4) वारुणीवर द्वीप, वारुणीवर समुद्र (5) क्षीरवर द्वीप, क्षीरवर समुद्र (6) घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र (7) क्षौद्रवर/इक्षु द्वीप, क्षौद्रवर समुद्र (8) नन्दीश्वर द्वीप, नन्दीश्वर समुद्र (9) अरुणवर द्वीप, अरुणवर समुद्र (10) अरुणाभास द्वीप, अरुणाभास समुद्र (11) कुण्डलवर द्वीप, कुण्डलवर समुद्र (12) शंखवर द्वीप, शंखवर समुद्र (13) रुचकवर द्वीप, रुचकवर समुद्र (14) भुजंगवर द्वीप, भुजंगवर समुद्र (15) कुशवर द्वीप, कुशवर समुद्र तथा (16) क्रौंचवर द्वीप, क्रौंचवर समुद्र।

मध्यलोक के अंतिम 16 द्वीप-16 समुद्रों के नाम अंत से प्रारंभ करके क्रमश: इस प्रकार हैं[1] -

(1) स्वयंभूरमण समुद्र, स्वयंभूरमण द्वीप (2) अहीन्द्रवर समुद्र, अहीन्द्रवर द्वीप (3) देववर समुद्र, देववर द्वीप (4) यक्षवर समुद्र, यक्षवर द्वीप (5) भूतवर समुद्र, भूतवर द्वीप (6) नागवर समुद्र, नागवर द्वीप (7) वैडूर्य समुद्र, वैडूर्य द्वीप (8) वज्रवर समुद्र, वज्रवर द्वीप (9) कांचन समुद्र, कांचन द्वीप (10) रूप्यवर समुद्र, रूप्यवर द्वीप (11) हिंगुल समुद्र, हिंगुल द्वीप (12) अंजनवर समुद्र, अंजनवर द्वीप (13) श्याम समुद्र, श्याम द्वीप (14) सिंदूर समुद्र, सिंदूर द्वीप (15) हरिताल समुद्र, हरिताल द्वीप (16) मन:शिल समुद्र, मन:शिल द्वीप।

समुद्रों का जल - असंख्यात समुद्रों में प्रथम लवण समुद्र के जल का स्वाद नमक के समान है, वारुणीवर समुद्र के जल का स्वाद वारुणी (शराब) के तुल्य है, घृतवर समुद्र के जल का स्वाद घी और क्षीर समुद्र के जल का स्वाद दूध जैसा है। कालोदधि और स्वयंभूरमण समुद्र का जल पानी के ही समान है। पुष्करवर समुद्र मधु और पानी दोनों के स्वाद से युक्त तथा शेष समस्त समुद्र इक्षु रस के समान स्वाद वाले हैं।[2]

समुद्रों में जलचर जीव - लवण समुद्र के किनारे पर उत्पन्न हुये सम्मूर्च्छन महामच्छ नौ योजन लम्बे हैं तथा समुद्र के मध्य में उत्पन्न हुये महामच्छ अठारह योजन लम्बे हैं।[3]

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/22-26 (2) हरिवंश पुराण, 5/622-626
   (3) लोक विभाग, 4/8-11
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/29-30 (2) हरिवंश पुराण, 5/628-629
   (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/94-95 (4) लोक विभाग, 4/13-14
3. हरिवंश पुराण, 5/630

कालोद समुद्र में नदियों के प्रवेश स्थान पर सम्मूर्च्छन मच्छों की लम्बाई 18 योजन और बीच समुद्र में छत्तीस योजन है। गर्भ जन्म से उत्पन्न होने वालों की लम्बाई सम्मूर्च्छन मच्छों की अपेक्षा आधी है।[1]

स्वयंभूरमण समुद्र के किनारों पर उत्पन्न हुये मच्छों की लम्बाई 500 योजन और मध्य समुद्र में 1000 योजन है।[2] लवण समुद्र, कालोदधि और स्वयंभूरमण समुद्र में ही मछलियाँ, कछुये आदि हैं। शेष किसी भी समुद्र में मच्छ आदि जलचर जीव नहीं होते।[3] **मानुषोत्तर पर्वत और स्वयंप्रभ पर्वत के मध्य** असंख्यात द्वीप-समुद्रों में विकलेन्द्रिय (दो, तीन, चार इन्द्रिय) जीव नहीं होते।[4] वहाँ द्वीपों में तिर्यंचों की जघन्य भोगभूमि है। वे सभी तिर्यंच संज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं, जिनकी आयु एक पल्य तथा शरीर की ऊँचाई दो हजार धनुष (एक कोस) होती है। युगल रूप से उत्पन्न होने वाले वे सभी मन्द कषायी तथा एक दिन के अन्तराल से फलाहार करने वाले होते हैं। वहाँ के सभी तिर्यंच नियम से मरकर देव गति में जन्म लेते हैं।[5] लवणोद, कालोद और बाह्य स्वयंभूरमण द्वीप तथा स्वयंभूरमण समुद्र के तिर्यंच सम्यक्त्व रहित और मिथ्यात्व से कलंकित होते हुये मरकर नरक में जाते हैं।[6]

द्वीप-समुद्रों के रक्षक देव – जम्बू द्वीप, लवण समुद्र आदि सभी द्वीप समुद्रों के अधिपति दो-दो व्यंतर देव होते हैं। वे अपने-अपने द्वीप अथवा समुद्र के रक्षक/स्वामी होते हैं।[7] इन देवों की आयु एक पल्योपम तथा ऊँचाई दस धनुष प्रमाण होती है। समचतुरस्र संस्थान से युक्त ये देव अपने-अपने द्वीप समुद्रों के उपरिम भाग में स्थित नगरों में परिवार सहित क्रीड़ा करते हुए अनेक प्रकार के सुखों को भोगते हैं।[8]

---

1. (1) हरिवंश पुराण, 5/631 (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/92
2. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/93
3. (1) हरिवंश पुराण, 5/632 (2) लोक विभाग, 4/15
   (3) तिलोयपण्णत्ती, 5/31 (4) त्रिलोकसार, गाथा-320
   (5) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/91
4. हरिवंश पुराण, 5/633
5. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 5/186-189
6. वहीं, गाथा-181-182
7. तिलोयपण्णत्ती, 5/37
8. वहीं, गाथा-50-51

इसप्रकार मध्यलोक में स्थित असंख्यात द्वीप-समुद्रों का यह सामान्य वर्णन हुआ। मध्यलोक के प्रथम द्वीप जम्बू द्वीप की विशेष चर्चा अपेक्षित विस्तारपूर्वक विगत अध्याय में की जा चुकी है। इस अध्याय में जम्बू द्वीप के बाहर स्थित प्रमुख द्वीप-समुद्रों की चर्चा अभीष्ट है, जिसमें सर्वप्रथम जम्बू द्वीप को चारों ओर से घेरे हुये लवण समुद्र हैं।

लवण समुद्र[+] –

प्रथम द्वीप को चारों ओर से घेरे हुये दो लाख योजन प्रमाण विस्तार वाला, जम्बू द्वीप की खाई के समान, लवण समुद्र है।[1] इसका आकार इस प्रकार है, जैसे कि एक नाव के ऊपर दूसरी नाव को उल्टा रखा गया हो।[2]

परिधि व क्षेत्रफल – लवण समुद्र की जगती की बाह्य परिधि कुछ कम पन्द्रह लाख इक्यासी हजार एक सौ उन्तालीस (15,81,139) योजन है[3] तथा इसका क्षेत्रफल एक सौ नवासी अरब तेहत्तर करोड़ छियासठ लाख उन्सठ हजार छह सौ दस (189,73,66,59,610) योजन है।[4] वस्तुत: लवण समुद्र का क्षेत्र जम्बू द्वीप से 24 गुणा बड़ा है या ऐसा भी कह सकते हैं कि लवण समुद्र के जम्बू द्वीप प्रमाण 24 खण्ड हो सकते हैं।[5]

यह समुद्र चित्रा पृथ्वी से ग्यारह हजार (11,000) योजन ऊँचाई तक है। इस ऊँचाई पर समुद्र का विस्तार दस हजार (10,000) योजन है और चित्रा पृथ्वी की प्रणिधि में (किनारे पर) दो लाख (2,00,000) योजन है। समुद्र के दोनों तटों से पंचानवे हजार (95,000) योजन चलकर एक हजार (1,000) योजन गहराई पर समुद्र का तल विस्तार दस हजार (10,000) योजन है।[6]

+ इसे प्रदर्शित करने वाले विविध रंगीन व श्याम-श्वेत चित्र परिशिष्ट में देखें।

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2428 (2) हरिवंश पुराण, 5/430
   (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 10/2 (4) लोक विभाग, 2/2
2. (1) हरिवंश पुराण, 5/441 (2) तिलोयपण्णत्ती, 4/2429
   (3) लोक विभाग, 2/9
3. (1) हरिवंश पुराण, 5/431 (2) तिलोयपण्णत्ती, 4/2560
   (3) लोक विभाग, 2/4
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2563 (2) हरिवंश पुराण, 5/432-433
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2566 (2) लोक विभाग, 2/51
   (3) हरिवंश पुराण, 5/487 (4) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 10/90
6. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2431-2432 (2) हरिवंश पुराण, 5/434

लवण समुद्र तल एवं ऊँचाई

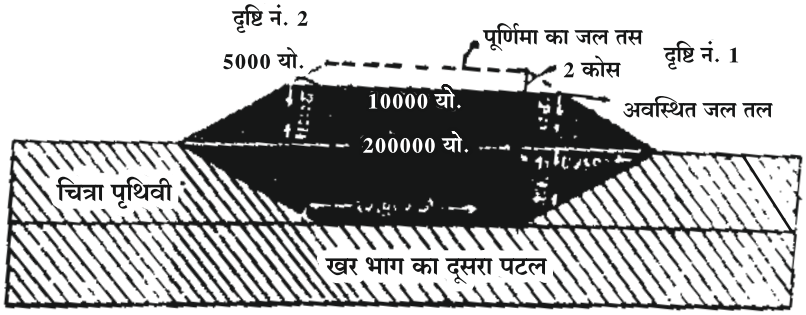

समुद्र का जल स्तर – भूमि से आकाश में समुद्र की ऊँचाई अवस्थित रूप से 11 हजार योजन प्रमाण है। शुक्ल पक्ष में समुद्र का जल प्रवाह क्रम से बढ़ता हुआ, 5 हजार योजन प्रमाण तक बढ़ जाता है अर्थात् जल स्तर बढ़कर 16 हजार योजन हो जाता है तथा कृष्ण पक्ष में स्वाभाविक ऊँचाई जो 11 हजार योजन है, वहाँ तक घट जाता है।[1]

मतान्तर से लवण समुद्र में दोनों किनारों से 95 हजार योजन प्रमाण प्रवेश करके जल में दो कोस वृद्धि होती है। अमावस्या के दिन समुद्र भूमि के सदृश समतल हो जाता है। पुन: शुक्ल पक्ष में आकाश की ओर क्रम से बढ़ता हुआ, पूर्णिमा को दो कोस प्रमाण बढ़ जाता है।[2]

पाताल – लवण समुद्र में मध्य भाग की परिधिगत अभ्यन्तर पृथ्वी में गड्ढे के समान संरचना है, जिन्हें **'पाताल'** नाम से कहा जाता है। इनकी गहराई रत्नप्रभा पृथ्वी संबंधी दूसरे पंक भाग के अन्त पर्यन्त है। इनके सब ओर वज्रमयी भीत (दीवाल) है। लवण समुद्र में ऐसे कुल एक हजार आठ (1008) पाताल हैं।[3] इनमें चार उत्कृष्ट, चार मध्यम और एक हजार जघन्य पाताल हैं। ये सभी पाताल घड़े के आकार वाले हैं।[4] इन तीनों प्रकार के पातालों की ऊँचाई तीन बराबर भागों में विभक्त है। निचले भाग में वायु, ऊपरी भाग में जल तथा मध्य भाग में जल एवं वायु दोनों हैं।[5] इनका पृथक्-पृथक् विस्तार आदि निम्न प्रकार है –

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2471-2472
   (2) हरिवंश पुराण, 5/437
   (3) त्रिलोकसार, गाथा - 900
   (4) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 10/18
2. तिलोयपण्णत्ती, 4/2468-2469
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2438
   (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 10/12
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2439
   (2) लोक विभाग, 2/12
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2456
   (2) हरिवंश पुराण, 5/446-447
   (3) लोक विभाग, 2/13
   (4) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 10/7

उत्कृष्ट पाताल – लवण समुद्र के जल में दोनों किनारों से पंचानवे हजार (95,000) योजन चलकर चारों दिशाओं में पृथक्-पृथक् चार ज्येष्ठ पाताल स्थित हैं।[1] इन पातालों का ऊपरी एवं तल विस्तार दस हजार योजन तथा मध्यम विस्तार एक लाख योजन एवं गहराई भी एक लाख योजन है।[2]

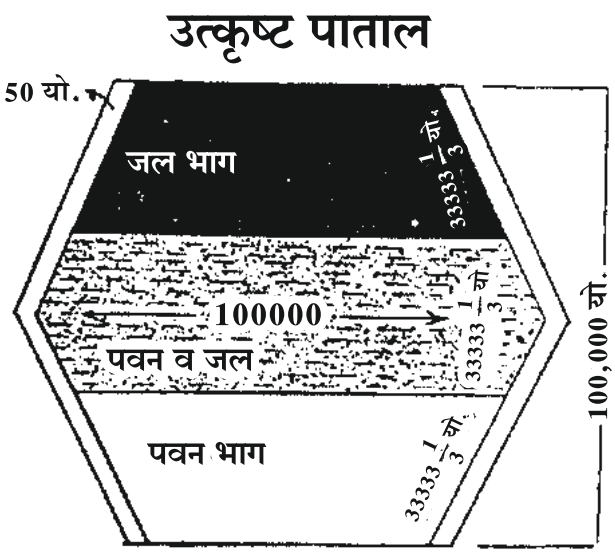

मध्यम पाताल – समुद्र में दोनों किनारों से 99 हजार 500 योजन प्रमाण जल में प्रवेश करने पर मध्यम पाताल हैं।[3] ये ज्येष्ठ पातालों के बीच में विदिशाओं में स्थित हैं। इनका ऊपरी, मध्यम और तल विस्तार तथा गहराई उत्कृष्ट पातालों के दसवें भाग प्रमाण है[4] अर्थात् ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन एवं मध्य में दस हजार योजन विस्तार है। इनकी ऊँचाई भी दस हजार योजन है।[5]

जघन्य पाताल – समुद्र में स्थित उत्कृष्ट और मध्यम पातालों के आठ अन्तरालों में प्रत्येक में 125-125; इस प्रकार कुल 1000 जघन्य पाताल मोतियों की माला के समान अत्यंत सुन्दर हैं। इनकी गहराई और मध्यम विस्तार एक हजार योजन तथा ऊपर-नीचे का विस्तार सौ-सौ योजन है।[6]

लवण समुद्र में पर्वत – समुद्र के दोनों किनारों से 42,000 योजन प्रवेश करके पातालों के पार्श्वभागों में आठ पर्वत हैं।[7] ये सभी पर्वत एक-एक हजार योजन ऊँचे तथा अर्द्ध कलश के

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2441 (2) हरिवंश पुराण, 5/442
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2442 (2) हरिवंश पुराण, 5/444 (3) लोक विभाग, 2/11
3. तिलोयपण्णत्ती, 4/2445
4. वहीं, गाथा-2444
5. (1) हरिवंश पुराण, 5/451 (2) लोक विभाग, 2/14-15
6. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2446 (2) हरिवंश पुराण, 5/455 (3) लोक विभाग, 2/17
7. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2484 (2) हरिवंश पुराण, 5/459 (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 10/27

समान हैं।[1] इन पर्वतों के ऊपर अनेक नगर बने हुये हैं, उनमें बेलन्धर जाति के नागकुमार देवों के साथ उनके स्वामी निवास करते हैं।[2] सभी दिव्य पर्वत वेदी से सहित, उत्तम तोरणों से मण्डित, सुन्दर फहराती हुई ध्वजाओं और जिनभवनों से विभूषित हैं।[3]

समुद्र में कुमानुष द्वीप – जो मनुष्य आयु का उदय होते हुए भी पशुओं की भाँति शरीर और आचरण वाले होते हैं, वे **'कुमानुष'** कहलाते हैं। ये लवण व कालोद समुद्र में स्थित अन्तर्द्वीपों में रहते हैं, इसलिये इन्हें **अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ** भी कहते हैं।

लवण समुद्र में ऐसे 48 कुमानुष-द्वीप हैं। इनमें से 24 द्वीप अभ्यन्तर भाग में और 24 द्वीप बाह्य भाग में हैं। 24 द्वीपों में से चारों दिशाओं में 4, चारों विदिशाओं में 4, अन्तर दिशाओं में 8 और हिमवन, शिखरी तथा दोनों (भरत-ऐरावत) विजयार्द्ध पर्वतों के प्रणिधि भागों में 8 द्वीप हैं।[4]

अवस्थिति – चारों दिशाओं तथा विदिशाओं वाले 8 द्वीप जम्बू द्वीप की जगती से 500 योजन समुद्र में चलकर अवस्थित हैं। अन्तर दिशाओं वाले 8 द्वीप जम्बू द्वीप की जगती से 550 योजन और पर्वतों के प्रणिधि (कोणवर्ती द्वीप) भागों वाले द्वीप 600 योजन जाकर स्थित हैं।[5] सर्वार्थसिद्धिग्रंथ[6] में विदिशाओं वाले द्वीपों की दूरी 550 योजन बताई है।

दिशाओं के द्वीप 100 योजन, विदिशाओं के द्वीप 55 योजन, अन्तर दिशाओं के द्वीप 50 योजन तथा पर्वत प्रणिधि वाले द्वीप 25 योजन **विस्तार** वाले हैं।[7] **जम्बूद्वीव पण्णत्ती संगहो**[8] एवं सर्वार्थसिद्धि[9] में विदिशाओं वाले द्वीपों का विस्तार 50 योजन तथा **हरिवंश पुराण**[10] में विदिशा व अंतर दिशाओं वाले द्वीपों का विस्तार 500 योजन बताया गया है।

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2486 (पूर्वार्द्ध) (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 10/28
2. हरिवंश पुराण, 5/465
3. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 10/34
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2518-2519 (2) सर्वार्थसिद्धि, 3/36/पृ.171/435
   (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 10/51
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2520-2521 (2) हरिवंश पुराण, 5/477
6. सर्वार्थसिद्धि, 3/36/पृ.172/435
7. तिलोयपण्णत्ती, 4/2522
8. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 10/48
9. सर्वार्थसिद्धि, 3/36/पृ.172/435
10. हरिवंश पुराण, 5/478

इस प्रकार लवण समुद्र में 24 अन्तर्द्वीप (कुमानुष द्वीप) जम्बूद्वीप के निकटवर्ती हैं तथा ऐसे ही 24 अन्तर्द्वीप धातकी खण्ड के निकटवर्ती हैं।[1]

लवण समुद्र के कुमानुषों का शरीर – लवण समुद्र में स्थित 48 कुमानुष द्वीपों में विचित्र आकृति वाले मनुष्य रहते हैं। वहाँ पूर्व दिशा में एक टाँग वाले मनुष्य हैं। पश्चिम दिशा में पूँछ वाले मनुष्य हैं। उत्तर दिशा में गूँगे मनुष्य और दक्षिण दिशा में सींग वाले मनुष्य हैं। चारों विदिशाओं में क्रम से खरगोश के समान कान वाले, शष्कुली अर्थात् मछली के समान कान वाले, प्रावरण के समान कान वाले और लम्बे कान वाले मनुष्य हैं। आठों अन्तराल के द्वीपों में क्रम से **घोड़े** के समान मुखवाले, **सिंह** के समान मुखवाले, **कुत्ते** के समान मुखवाले, **भैंसा** के समान मुख वाले, **सुअर** के समान मुखवाले, **व्याघ्र** के समान मुखवाले, **कौआ** के समान मुख वाले और **बन्दर** के समान मुखवाले मनुष्य हैं।

शिखरी पर्वत के दोनों कोणों की सीध में जो अन्तर्द्वीप हैं, उनमें मेघ के समान मुख वाले और बिजली के समान मुख वाले मनुष्य हैं। **हिमवन पर्वत** के दोनों कोणों की सीध में जो अन्तर्द्वीप हैं, उनमें मछली के समान मुख वाले और काल के समान मुख वाले मनुष्य हैं। **उत्तर विजयार्द्ध** के दोनों कोणों की सीध में जो अन्तर्द्वीप हैं, उनमें हाथी के समान मुख वाले और दर्पण के समान मुख वाले मनुष्य हैं तथा **दक्षिण विजयार्द्ध** के दोनों कोणों की सीध में जो अन्तर्द्वीप हैं, उनमें गाय के समान मुख वाले और मेढ़ा के समान मुख वाले मनुष्य हैं।[2]

इनमें से एक टाँग वाले मनुष्य गुफाओं में निवास करते हैं और मिट्टी का आहार करते हैं तथा शेष मनुष्य फूलों और फलों का आहार करते हैं और पेड़ों पर रहते हैं।

जिनलिंग धारणकर मायाचारी करने वाले, मिथ्यात्वरूपी अन्धकार से आच्छन्न, सम्यक्त्व के विराधक, मिथ्यादेवों की भक्ति में तत्पर, विषम पंचाग्नितप तथा कायक्लेश करने वाले, दुर्भावना, अपवित्रता सहित (सूतक, पुष्पवती स्त्री के स्पर्श तथा जातिसंकर आदि दोषों सहित) दान देने वाले, कुपात्र दान देने वाले जीव मरकर कुमनुष्यों में उत्पन्न होते हैं।[3]

---

1. हरिवंश पुराण, श्लोक-5/481
2. (1) सर्वार्थसिद्धि, 3/36/पृ.172/435 (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 10/53-57
   (3) तिलोयपण्णत्ती, 4/2524-2528 (4) हरिवंश पुराण, 5/471-476
   (5) लोक विभाग, 2/33-38
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2540-2551 (2) त्रिलोकसार, गाथा - 922-924
   (3) जंबूद्वीव-पण्णत्ती-संगहो, 10/59-79

इन सभी की आयु एक पल्योपम होती है।[1] ये सभी एक दिन के अन्तराल से भोजन करते हैं, रोग-शोक से रहित होते हैं तथा यहाँ के सभी मिथ्यादृष्टि जीव मरकर भवनत्रिकों में जन्म लेते हैं।[2]

लवण समुद्र की जगती – लवण समुद्र की जगती अर्थात् बाउण्ड्री जम्बूद्वीप के समान ही 8 योजन ऊँची, भूमि-मध्य और शिखर पर क्रमशः 12 योजन, 8 योजन एवं 4 योजन विस्तार वाली है। इस जगती के अभ्यंतर भाग में शिलापट्ट और बाह्य भाग में वन हैं।[3] यह वेदिका स्वर्ण, मणि एवं रत्नों से व्याप्त वज्रमय है। लवण समुद्र को वेष्टित करने वाली यह दिव्य वेदिका फहराती हुई ध्वजा पताकाओं से सहित जिन भवनों से विभूषित है।[4]

धातकी खण्ड द्वीप –

लवण समुद्र को चारों ओर से घेरे हुये चार लाख योजन विस्तार वाला यह धातकी खण्ड द्वीप चूड़ी के आकार वाला है।[5] यह द्वीप धातकी अर्थात् आँवले के वृक्षों से सुशोभित है।[6] इसलिये इस द्वीप का नाम **'धातकीखण्ड'** द्वीप है। इसके चारों तरफ दिव्य रत्नमय एक जगती है, जिसका सम्पूर्ण वर्णन जम्बू द्वीप की जगती के समान है।[7]

धातकी खण्ड द्वीप की परिधि एवं क्षेत्रफल – एक दिशा में चार लाख योजन विस्तार वाले इस द्वीप की अभ्यंतर सूची की परिधि पन्द्रह लाख इक्यासी हजार एक सौ उन्तालीस (15,81,139) योजन तथा बाह्य सूची की परिधि इकतालीस लाख दस हजार नौ सौ इकसठ (41,10,961) योजन है।[8] इस द्वीप का क्षेत्रफल एक लाख तेरह हजार आठ सौ इकतालीस

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2529 (2) सर्वार्थसिद्धि, 3/36/पृ.172/435
   (3) हरिवंश पुराण, 5/483 (4) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 10/58
   (5) लोक विभाग, 2/46-47
2. लोक विभाग, 2/48
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2559 (2) हरिवंश पुराण, 5/484
   (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 10/98 (4) लोक विभाग, 2/49
4. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 10/97, 100
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2567 (2) हरिवंश पुराण, 5/489
   (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/2
6. हरिवंश पुराण, 5/490
7. तिलोयपण्णत्ती, 4/2571
8. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2603-2605 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/33/पृ.195/पं.15
   (3) हरिवंश पुराण, 5/491, 493 (4) लोक विभाग, 3/40

करोड़ निन्यानवे लाख सत्तावन हजार छह सौ इकसठ (113841,99,57,661) योजन है। कहने को तो यह द्वीप जम्बू द्वीप से चार गुना है; किन्तु वस्तुत: इसमें जम्बू द्वीप के समान एक-एक लाख योजन विस्तार वाले एक सौ चवालीस[1] (144) खण्ड प्राप्त होते हैं अर्थात् **इसका क्षेत्रफल जम्बू द्वीप की अपेक्षा 144 गुना है।**

धातकी खण्ड में इष्वाकार पर्वत – इस धातकी खण्ड द्वीप की उत्तर व दक्षिण दिशा में इस द्वीप को विभाजित करने वाले उत्तर-दक्षिण लम्बायमान दो पर्वत **इष्वाकार** नाम से सुशोभित हैं। इन पर्वतों से यह द्वीप पूर्व व पश्चिम रूप दो भागों में विभक्त हो गया।[2] लवण व कालोद समुद्र को स्पर्श करने वाले ये इष्वाकार पर्वत, द्वीप की चौड़ाई बराबर 4 लाख योजन लम्बे, एक हजार योजन चौड़े तथा ऊँचाई और गहराई की अपेक्षा जम्बू द्वीप के निषध पर्वत के समान 400 योजन ऊँचे एवं 100 योजन गहरे हैं।[3] इन इष्वाकार पर्वतों पर चार कूट हैं। प्रथम कूट पर जिन मंदिर और शेष कूटों पर व्यन्तर देवों के सुन्दर नगर हैं।[4]

धातकी खण्ड के विभाग, पर्वत, क्षेत्र आदि – इष्वाकार पर्वतों के दोनों ओर धातकी खण्ड है। पूर्व दिशा में पूर्व धातकी खण्ड तथा पश्चिम दिशा में पश्चिम धातकी खण्ड है। इस द्वीप में जम्बू द्वीप से दुगनी रचना है अर्थात् क्षेत्र, पर्वत व नदी आदि सब जम्बू द्वीप से दुगनी-दुगनी संख्या वाले हैं।[5] जम्बू द्वीप के समान ही इस द्वीप में भी भरत क्षेत्र से प्रारंभ करके विजयार्द्ध, कुलाचल, नाभिगिरि, मेरु, नदियाँ और सरोवर आदि हैं। मेरु को छोड़कर इन सबकी गहराई व ऊँचाई जम्बू द्वीप के समान है; केवल विस्तार दुगना है।[6] जम्बू व शाल्मली वृक्ष को छोड़कर शेष क्षेत्र, पर्वत, नदी, सरोवरादि के नाम भी जम्बू द्वीप जैसे ही हैं।[7]

---

1. (1) हरिवंश पुराण, 5/559-561 (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/39-40
   (3) तिलोयपण्णत्ती, 4/2753, 2758
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2572 (2) हरिवंश पुराण, 5/494
   (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/3
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2573-2574 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/33/पृ.195/पं.25
   (3) हरिवंश पुराण, 5/495 (4) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/4-5
   (5) लोक विभाग, 3/3
4. तिलोयपण्णत्ती, 4/2579
5. (1) 'द्विर्धातकीखण्डे' - तत्त्वार्थसूत्र, 3/33 (2) हरिवंश पुराण, 5/165
   (3) तिलोयपण्णत्ती, 4/2582
6. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2584-2586 (2) हरिवंश पुराण, 5/496, 497
   (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/38
7. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2591 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/33/पृ.195/पं.19

इस द्वीप के दक्षिणी इष्वाकार के दोनों तरफ दो भरत क्षेत्र हैं तथा उत्तरी इष्वाकार के दोनों ओर दो ऐरावत क्षेत्र हैं।[1] इस द्वीप में 12 कुलाचल हैं। ये सभी मूल व ऊपर से समान विस्तार वाले होकर दोनों अंतिम भागों में लवणोदधि व कालोदधि से संलग्न हैं। इसी प्रकार भरत व ऐरावत क्षेत्र के दो-दो विजयार्द्ध पर्वत भी लवण व कालोदधि को स्पर्श करते हैं।[2]

इस द्वीप के सभी पर्वत और क्षेत्र अभ्यंतर भाग में संक्षिप्त तथा बाहरी भाग में विस्तृत हैं।[3] यहाँ के भरत क्षेत्र का अभ्यंतर विस्तार 6 हजार 614 सहित 129/212 योजन तथा बाह्य विस्तार 18 हजार 547 सहित 155/212 योजन है।[4] ये विस्तार आगे के क्षेत्रों में क्रमश: विदेह क्षेत्र तक चौगुना होता गया है तथा विदेह क्षेत्र से आगे के क्षेत्रों में पुन: ऐरावत क्षेत्र तक क्रम से चौगुना-चौगुना कम होता गया है।[5]

धातकी खण्ड में मेरु पर्वत – इस द्वीप के पूर्व व पश्चिम दोनों विभागों में विदेह क्षेत्रों के बहुमध्य भाग में एक-एक मन्दर (विजय-अचल) मेरु पर्वत स्थित है।[6] दोनों मेरु पर्वतों की ऊँचाई 84 हजार योजन तथा गहराई एक हजार योजन है। इनके मूल का विस्तार 9 हजार 500 योजन, पृथ्वी पर विस्तार 9 हजार 400 योजन और शिखर पर विस्तार एक हजार योजन है।[7] पाठान्तर से इनके मूल का विस्तार 10 हजार योजन है।[8] इन दोनों मेरु पर्वतों पर जम्बू द्वीप में स्थित मेरु पर्वत के समान ही भद्रशाल, नन्दन, सौमनस एवं पाण्डुक वन हैं तथा चूलिका भी उसी के समान है।[9] विशेषता यह है कि इन मेरु पर्वतों पर नन्दन वन से सौमनस वन 55 हजार 500 योजन ऊपर जाकर तथा सौमनस वन से पाण्डुक वन 28 हजार योजन ऊपर जाकर स्थित है। शिखर पर पाण्डुक वन का विस्तार 494 योजन है।[10]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/2592
2. वहीं, गाथा-2548, 2588-2589
3. हरिवंश पुराण, 5/498
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2609,2612 (2) हरिवंश पुराण, 5/500, 503 (3) लोक विभाग, 3/8, 10
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2610 (2) हरिवंश पुराण, 5/504 (3) लोक विभाग, 3/11
6. तिलोयपण्णत्ती, 4/2616
7. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2617, 2619 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/33/पृ.195/पं.28-29
   (3) हरिवंश पुराण, 5/513, 514, 516
8. तिलोयपण्णत्ती, 4/2618
9. वहीं, गाथा-2623-2624
10. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2625-2627 (2) हरिवंश पुराण, 5/518, 519
    (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/25, 28

धातकी खंड में गजदंत पर्वत – धातकी खण्ड द्वीप में दो मेरुओं संबंधी 8 गजदंत पर्वत हैं। 4 गजदंत पूर्व दिशा स्थित मेरु पर्वत से संलग्न हैं तथा 4 गजदंत पर्वत पश्चिम दिशा स्थित मेरु पर्वत से संलग्न हैं। इनमें अभ्यंतर भाग वाले चार गजदंत पर्वतों की लम्बाई तीन लाख छप्पन हजार दो सौ सत्ताईस (3,56,227) योजन तथा बाह्य भाग वाले गजदंतों की लम्बाई पाँच लाख उन्हत्तर हजार दो सौ उन्सठ (5,69,259) योजन है।[1]

धातकी खण्ड में कुरुक्षेत्र – गजदंत पर्वतों के मध्य में स्थित **देव कुरु–उत्तर कुरु क्षेत्रों** का **धनु:पृष्ठ** नौ लाख पच्चीस हजार चार सौ छियासी (9,25,486) योजन, **जीवा** दो लाख तेईस हजार एक सौ अट्ठावन (2,23,158) योजन, **ऋजु बाण** तीन लाख छियासठ हजार छह सौ अस्सी (3,66,680) योजन तथा **वृत्त विस्तार** चार लाख छह सौ तेतीस (4,00,633) योजन प्रमाण है।[2] इन कुरु क्षेत्रों में धातकी वृक्ष स्थित हैं; इसी कारण इस द्वीप का धातकी खण्ड नाम सार्थक है। मूल धातकी वृक्ष के परिवार वृक्षों की संख्या पाँच लाख साठ हजार चार सौ अस्सी (5,60,480) है। वृक्षों पर प्रियदर्शन और प्रभास नामक दो अधिपति देव निवास करते हैं। ये देव सम्यक्त्व रूपी रत्न के धारक उत्तम आकृति वाले हैं।[3]

इसप्रकार इस द्वीप में 2 मेरु, 2 इष्वाकार पर्वत, 2 धातकी वृक्ष, 2 शाल्मलि वृक्ष, 8 यमक, 8 गजदन्त, 16 दिग्गजेन्द्र, 24 विभंगा, 28 महानदियाँ, 32 वक्षार पर्वत, 32 द्रह, 12 कुलाचल, 8 नाभिगिरि, 68 वैताढ्य पर्वत, 6 कर्म भूमियाँ, गंगा–सिन्धु, रक्ता–रक्तोदा के 156 कुण्ड, 24 विभंगा कुण्ड, 68 वृषभगिरि एवं 400 कांचन पर्वत हैं। इन सबका वर्णन जैसा जम्बू द्वीप में किया है, वैसा ही यहाँ भी जानना चाहिये।[4]

अब आगे कालोद समुद्र की चर्चा प्रसंग प्राप्त है।

कालोद समुद्र –

धातकी खण्ड द्वीप को चारों ओर से घेरे हुये मण्डलाकार आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोद समुद्र है।[5] इसके जल का वर्ण काला है।[6] इसकी रचना टांकी से उकेरे हुये तीर के समान नीचे से ऊपर तक एक जैसी है। यह समुद्र सर्वत्र 1000 योजन गहराई वाला है। इसमें लवण समुद्र के समान पाताल नहीं है।[7]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/2631-2632 2. वहीं, गाथा-2633-2636
3. वहीं, गाथा-2640-2642
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2759 (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/29-35
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2762 (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/43
6. हरिवंश पुराण, 5/562
7. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2763 (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/44 (3) लोक विभाग, 3/43

कालोद समुद्र की परिधि एवं क्षेत्रफल – समुद्र की बाह्य परिधि का प्रमाण इक्यानवे लाख सत्तर हजार छह सौ पाँच (91,70,605) योजन से कुछ कम है[1] तथा क्षेत्रफल 53 खरब 12 अरब 62 करोड़ 64 लाख 69 हजार 82 योजन प्रमाण है।[2] जम्बू द्वीप के क्षेत्रफल की अपेक्षा कालोद समुद्र का क्षेत्रफल 672 गुना है अर्थात् इस समुद्र जितने क्षेत्र में 672 जम्बू द्वीप आ सकते हैं।[3]

समुद्र में द्वीप – इस समुद्र के भीतर दिशाओं, विदिशाओं और अन्तर दिशाओं में 48 द्वीप हैं, जिसमें से 24 अभ्यंतर भाग में तथा 24 बाह्य भाग में हैं।[4] अभ्यंतर भाग में चारों दिशाओं में 4, विदिशाओं में 4, अन्तर दिशाओं में 8 और हिमवन, शिखरी तथा विजयार्द्ध पर्वतों के पार्श्वभागों में 8 – इस प्रकार 24 द्वीप हैं।[5]

दिशाओं के द्वीप दोनों तटों से पाँच सौ पचास (550) योजन समुद्र में प्रवेश करके स्थित हैं, उनका विस्तार दो सौ (200) योजन है। **विदिशाओं** के द्वीप दोनों तटों से छह सौ (600) योजन समुद्र में प्रवेश करके स्थित हैं, उनका विस्तार एक सौ (100) योजन है। अन्तर **दिशाओं** के द्वीप दोनों तटों से पाँच सौ पचास (550) योजन समुद्र में प्रवेश करके स्थित हैं, उनका विस्तार पचास (50) योजन मात्र है। **पर्वतों के प्रणिधि** भाग में स्थित द्वीप दोनों तटों से छह सौ पचास (650) योजन समुद्र में प्रवेश करके स्थित हैं, उनका विस्तार पचास (50) योजन है।[6]

इस प्रकार इन द्वीपों का विस्तार लवण समुद्र की अपेक्षा दुगुना है। इन अन्तर्द्वीपों में कुमानुष/कुभोग भूमिया मनुष्य रहते हैं।[7] सभी मनुष्य आयु, वर्ण, आहार आदि की अपेक्षा लवण समुद्र के मनुष्यों के समान हैं।[8]

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2783 (2) हरिवंश पुराण, 5/563 (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/45
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2781 (2) हरिवंश पुराण, 5/565-566 (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/46
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2782 (2) हरिवंश पुराण, 5/564 (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/48
4. तिलोयपण्णत्ती, 4/2764
5. वहीं, गाथा-2765
6. वहीं, 4/2766-2769
7. हरिवंश पुराण, 5/574
8. (1) हरिवंश पुराण, 5/573 (2) लोक विभाग, 3/52

कालोद समुद्र की 48 कुभोग भूमियों का सर्व कथन लवण समुद्र की 48 कुभोग भूमियों (अन्तर्द्वीपों) के समान है। लवण व कालोद दोनों समुद्रों में मिलाकर कुल **96 कुभोग भूमियाँ** हैं।[1]

इनमें रहने वाले सभी कुमानुषों के शरीर की ऊँचाई एक कोस तथा आयु एक पल्योपम प्रमाण होती है। आँवले प्रमाण आहार ग्रहण करने वाले ये कुमानुष चतुर्थ भक्त अर्थात् एक दिन के अन्तराल से पारण करते हैं।[2] सभी मिथ्यादृष्टि कुमानुष मरकर नियम से भवनत्रिक देवों में जन्मते हैं। जो कुमनुष्य सम्यग्दर्शन रूपी रत्न ग्रहण कर लेते हैं, वे मरकर सौधर्मादि स्वर्गों में उत्पन्न होते हैं।[3]

इस प्रकार संक्षेप में कालोद समुद्र का कथन हुआ। अब पुष्करवर द्वीप की चर्चा प्रसंग प्राप्त है।

पुष्करवर द्वीप –

कालोद समुद्र को घेरकर सभी तरफ 16 लाख योजन विस्तार युक्त मण्डलाकार तीसरा पुष्करवर द्वीप स्थित है।[4] इस द्वीप के ठीक मध्य में अर्थात् कालोद समुद्र की जगती से 8 लाख योजन चलकर कुण्डलाकार मानुषोत्तर पर्वत है, जिसके कारण यह द्वीप अभ्यंतर और बाह्य दो भागों में विभक्त हो गया।[5] अभ्यंतर अर्द्ध भाग को पुष्करार्द्ध माना गया है; क्योंकि यह मनुष्य क्षेत्र की सीमा निर्धारण करने वाले मानुषोत्तर पर्वत से घिरा है।[6]

पुष्करार्द्ध की परिधि व क्षेत्रफल – पुष्करार्द्ध की बाह्य परिधि एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनन्चास योजन से कुछ अधिक है।[7] इसके क्षेत्रफल में जम्बू द्वीप प्रमाण एक हजार एक सौ चौरासी (1184) खण्ड हो सकते हैं।[8]

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2780 (2) हरिवंश पुराण, 5/575 (3) लोक विभाग, 3/53
2. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/54
3. वहीं, 11/55 एवं 10/84, 85
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2788 (2) हरिवंश पुराण, 5/576
   (3) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/33/पृ.196/पं.8 (4) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/57
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2792 (2) त्रिलोकसार, गाथा-937
   (3) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/34/पृ.197/पं.7 (4) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/58
6. हरिवंश पुराण, 5/577
7. (1) हरिवंश पुराण, 5/585, 586 (2) लोक विभाग, 3/57
8. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2967 (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/73

पुष्करार्द्ध में इष्वाकार पर्वत – अभ्यंतर पुष्करार्द्ध में धातकी खण्ड के समान ही उत्तर-दक्षिण फैले हुये दो इष्वाकार पर्वत हैं, जिनके कारण यह पूर्व पुष्करार्द्ध और पश्चिम पुष्करार्द्ध के रूप में दो भागों में विभक्त हो गया।[1] इन इष्वाकार पर्वतों की रचना धातकी खण्ड के इष्वाकारों के समान है; किन्तु ये आयाम में दुगने अर्थात् आठ लाख योजन वाले हैं।[2] इनका विस्तार दो हजार योजन प्रमाण है।[3]

पुष्करार्द्ध में मेरु एवं गजदंत – दोनों इष्वाकार पर्वतों के मध्य अर्थात् पूर्व पुष्करार्द्ध और पश्चिम पुष्करार्द्ध में स्थित कुरु क्षेत्रों के बीच धातकी खण्ड के समान आकार वाला एक-एक मेरु (मंदर व विद्युन्माली) पर्वत है।[4] पुष्करार्द्ध में स्थित दोनों मेरु पर्वतों का सम्पूर्ण वर्णन (गजदंत व कुरुक्षेत्रों को छोड़कर) धातकी खण्ड के दोनों मेरु पर्वतों के समान है।[5] इस द्वीप में दो मेरुओं संबंधी **आठ** गजदंत पर्वत हैं, जिनमें अभ्यंतर भाग वाले चार गजदंत पर्वतों की लम्बाई सोलह लाख छब्बीस हजार एक सौ सोलह (16,26,116) योजन तथा बाह्य भाग वाले चार गजदंतों की लम्बाई बीस लाख बयालीस हजार दो सौ उन्नीस (20,42,219) योजन है।[6]

पुष्करार्द्ध में कुरु क्षेत्र – पुष्करार्द्ध द्वीप के गजदंत पर्वतों के मध्य में स्थित **देव कुरु-उत्तर कुरु क्षेत्रों** का **धनु:पृष्ठ** छत्तीस लाख अड़सठ हजार तीन सौ पैंतीस (36,68,335) योजन, **ऋजु बाण** चौदह लाख छियासी हजार नौ सौ इकत्तीस (14,86,931) योजन, **जीवा** चार लाख छत्तीस हजार नौ सौ सोलह (4,36,916) योजन तथा **वृत्त विस्तार** पन्द्रह लाख उन्नीस हजार छब्बीस (15,19,026) योजन प्रमाण है।[7]

यहाँ चारों कुरु क्षेत्रों के मध्य जम्बू द्वीप के जम्बू वृक्षवत् परिवार सहित 4 **पुष्कर वृक्ष** हैं। इनका सम्पूर्ण वर्णन जम्बू-शाल्मली वृक्षवत् है। **पुष्कर वृक्ष के कारण ही इस द्वीप का**

---

1. हरिवंश पुराण, 5/578
2. तिलोयपण्णत्ती, 4/2829
3. वहीं, गाथा-2845
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2830 (2) हरिवंश पुराण, 5/579
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2857 (2) हरिवंश पुराण, 5/513
   (3) त्रिलोकसार, गाथा-609
6. तिलोयपण्णत्ती, 4/2858-2859
7. वहीं, गाथा-2860-2864

पुष्कर नाम रूढ़ है।[1] इस द्वीप में जम्बू और शाल्मली वृक्षों के नाम को छोड़कर क्षेत्र, कुलाचल, तालाब, नदियों आदि के नाम जम्बू द्वीप के समान ही हैं।[2]

पुष्करार्द्ध में कुलाचल एवं क्षेत्र – धातकी खण्ड के समान ही यहाँ के सभी **कुलाचल** पहिये के आरोंवत् समान विस्तार वाले हैं और **क्षेत्र** पर्वतों के मध्य हीनाधिक विस्तार वाले हैं। विशेषता सिर्फ इतनी है कि यहाँ के 12 कुलाचल और 4 विजयार्द्ध एक ओर से कालोदक समुद्र तथा दूसरी ओर से मानुषोत्तर पर्वत को स्पर्श करते हैं।[3] दक्षिणी इष्वाकार के दोनों पार्श्वभागों में दो भरत क्षेत्र तथा उत्तरी इष्वाकार के दोनों पार्श्वभागों में दो ऐरावत क्षेत्र हैं।[4] **भरत क्षेत्र** का **अभ्यंतर** विस्तार इकतालीस हजार पाँच सौ उन्यासी योजन सहित दो सौ बारह योजन के एक सौ तिहत्तर भाग प्रमाण (41,579 सहित 173/212 योजन) है।[5] भरत क्षेत्र का **बाह्य** भाग में विस्तार पैंसठ हजार चार सौ छियालीस योजन और तेरह कला अधिक है।[6] भरत क्षेत्र का जितना विस्तार व क्षेत्रफल है, उससे विदेह क्षेत्र पर्यंत प्रत्येक क्षेत्र का विस्तार व क्षेत्रफल चौगुना होता गया है; फिर इसके आगे ऐरावत क्षेत्र तक क्रमश: चौगुनी हानि होती गई है।[7]

मानुषोत्तर पर्वत – पुष्कर द्वीप में बीचों-बीच कुण्डलाकार स्थित इस मानुषोत्तर पर्वत की ऊँचाई 1721 योजन तथा अवगाह 430 योजन एक कोस है।[8] इसका विस्तार मूल में 1022, मध्य में 723 तथा शिखर पर 424 योजन है।[9] इस पर्वत का अभ्यंतर भाग दीवार

---

1. (1) सर्वार्थसिद्धि, 3/34/पृ.170/432 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/34/पृ.197/पं.4
   (3) त्रिलोकसार, गाथा-934
2. तिलोयपण्णत्ती, 4/2839
3. वहीं, गाथा-2841, 2837
4. वहीं, गाथा-2840
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2850 (2) हरिवंश पुराण, 5/580
   (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/70 (4) लोक विभाग, 3/62
6. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2854 (2) हरिवंश पुराण, 5/583
   (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/72 (4) लोक विभाग, 3/64
7. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2966 (2) हरिवंश पुराण, 5/584
   (3) लोक विभाग, 3/65
8. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2793 (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/59
9. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2794 (2) हरिवंश पुराण, 5/591-593
   (3) त्रिलोकसार, गाथा-938 (4) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/60
   (5) लोक विभाग, 3/68

की भाँति टंकोत्कीर्ण है तथा बाह्य भाग नीचे से ऊपर तक क्रम से हीन है। देव और विद्याधरों के मन को हरने वाले स्वर्ण सदृश इस पर्वत के मूल में 14 गुफाएँ हैं, जिनसे होकर गंगा आदि 14 बाह्य नदियाँ पुष्कर समुद्र में जाकर मिलती हैं।[1]

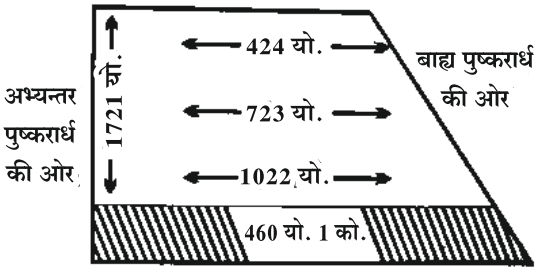

मानुषोत्तर पर्वत की बाह्य परिधि एक करोड़ बयालीस लाख छत्तीस हजार सात सौ तेरह (1,42,36,713) योजन से कुछ अधिक है।[2]

पर्वत पर स्थित कूट – इस मानुषोत्तर पर्वत पर 22 दिव्य कूट हैं, जिनमें पूर्वादि चारों ही दिशाओं में तीन-तीन कूट, ईशान और आग्नेय दिशा में दो-दो कूट तथा नैऋत्य और वायव्य दिशा में एक-एक कूट है। कूटों की अग्र भूमि में अर्थात् मनुष्य लोक की तरफ चार सिद्धायतन कूट हैं।[3] जिस पर एक-एक अकृत्रिम जिन चैत्यालय है।

मानुषोत्तर पर्वत

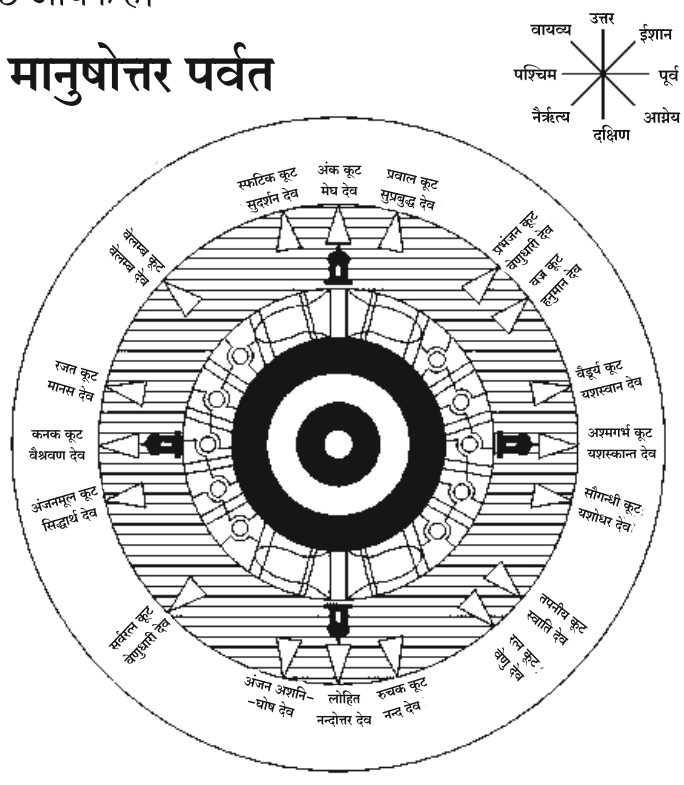

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2795-2796 (2) हरिवंश पुराण, 5/595-596
   (3) त्रिलोकसार, गाथा-937 (4) लोक विभाग, 3/67, 71
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2802 (2) हरिवंश पुराण, 5/594
   (3) लोक विभाग, 3/69
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2809, 2814 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/34/पृ.197/पं.12
   (3) हरिवंश पुराण, 5/598, 601

आठ दिशाओं में से नैऋत्य और वायव्य दिशा को छोड़कर शेष छह दिशाओं में तीन-तीन कूट तथा चारों दिशाओं के अभ्यंतर भाग में 4 अर्हदायतन कूट हैं।[1] सिद्धायतन/अर्हदायतन कूटों पर जिन भवन हैं और शेष कूटों पर परिवार सहित व्यंतर देव रहते हैं।[2] ये कूट पाँच सौ योजन ऊँचे हैं। इनका मूल में विस्तार पाँच सौ योजन तथा शिखर पर विस्तार दो सौ पचास योजन है।[3]

मनुष्य क्षेत्र[+] – मानुषोत्तर पर्वत पर्यंत अर्थात् ढाई द्वीप तथा लवणोदधि व कालोदधि का क्षेत्र मनुष्य क्षेत्र कहलाता है। इसका विस्तार पैंतालीस लाख (45,00,000) योजन है।[4] मनुष्य इसके पहले-पहले तक ही रहते हैं, इसका उल्लंघन नहीं करते।[5] समुद्घात और उपपाद के अलावा विद्याधर अथवा ऋद्धि प्राप्त मुनि भी इस पर्वत की सीमा का उल्लंघन नहीं करते।[6] मनुष्य क्षेत्र की परिधि एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनन्चास योजन से कुछ कम है।[7]

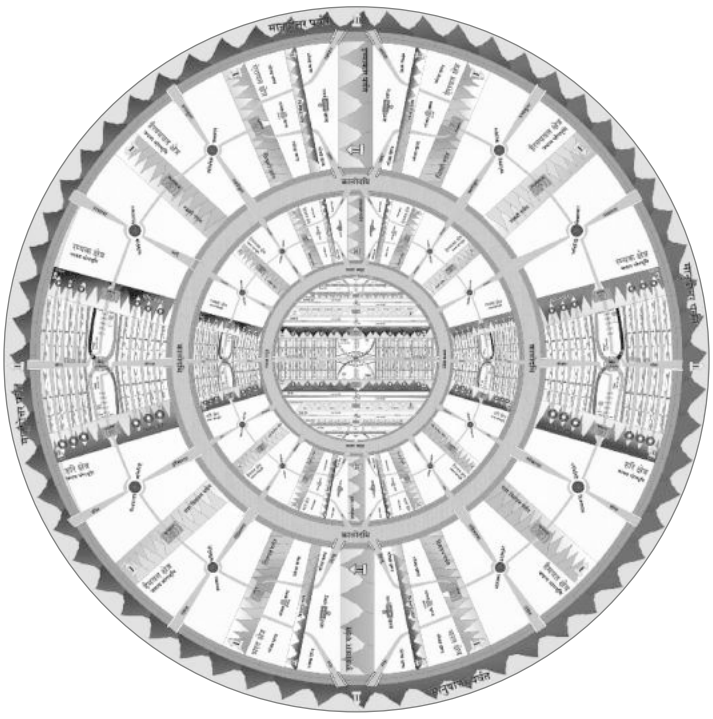

ढाई द्वीप (मनुष्य क्षेत्र)

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2827 (2) त्रिलोकसार, गाथा-940 (3) लोक विभाग, 3/73, 76
2. तिलोयपण्णत्ती, 4/2818-2819
3. हरिवंश पुराण, 5/600

\+ विविध पाण्डुलिपियों आदि से प्राप्त **दुर्लभ रंगीन चित्र** पीछे परिशिष्ट में देखें।

4. हरिवंश पुराण, 5/590
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/2968 (2) 'प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः' - तत्त्वार्थसूत्र, 3/35
6. हरिवंश पुराण, 5/612
7. जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 11/66

जम्बू द्वीप में भरत क्षेत्र से ऐरावत क्षेत्र तक जितने अधिकार कहे थे, वे सभी यहाँ इस अर्द्ध पुष्कर द्वीप में भी जानने चाहिये।[1] बाह्य पुष्करार्द्ध में तिर्यंचों की जघन्य भोगभूमि है। इस पुष्करवर द्वीप को चारों ओर से घेरे हुये पुष्करवर समुद्र स्थित है।[2] ढाई द्वीप के बाहर मनुष्य नहीं है, सिर्फ तिर्यंच ही रहते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के बाहर एवं आठवें द्वीप से पहले तक की कुछ विशिष्ट रचना का उल्लेख आगमों में नहीं है, अत: अब हम यहाँ आठवें नन्दीश्वर द्वीप की चर्चा करते हैं।

नन्दीश्वर द्वीप –

पुष्करवर समुद्र को चारों ओर से घेरे हुये क्रमश: वारुणीवर द्वीप फिर वारुणीवर समुद्र, क्षीरवर द्वीप, क्षीरवर समुद्र, घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र तथा क्षौद्रवर द्वीप, क्षौद्रवर समुद्र के पश्चात् यह नन्दीश्वर द्वीप स्थित है।[3]

जम्बू द्वीप को आदि लेकर यह मण्डलाकार आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप त्रिभुवन विख्यात है। इसका विस्तार प्रत्येक दिशा में एक सौ तिरेसठ करोड़ चौरासी लाख योजन है।[4] इसकी अभ्यंतर परिधि एक हजार छत्तीस करोड़ बारह लाख दो हजार सात सौ तिरेपन (1036,12,02,753) योजन तथा बाह्य परिधि दो हजार बहत्तर करोड़ तैंतीस लाख चौवन हजार एक सौ नब्बे (2072,33,54,190) योजन है।[5]

नन्दीश्वर द्वीप में अंजन गिरि – नन्दीश्वर द्वीप के बहुमध्य भाग में पूर्वादि चारों दिशाओं में इन्द्रनील मणिमय एक-एक अंजन गिरि (पर्वत) है। ये चारों पर्वत चौरासी हजार योजन ऊँचे, इतने ही चौड़े और एक हजार योजन गहराई में वज्रमय जड़ से युक्त हैं। इन पर्वतों का आकार ढोल के समान गोल है।[6] इन पर एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है।

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/2969
2. हरिवंश पुराण, 5/613
3. तिलोयपण्णत्ती, 5/14 से 16
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/52, 53 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/35/पृ.198/पं. 4-5
   (3) हरिवंश पुराण, 5/647 (4) त्रिलोकसार, गाथा-966
   (5) लोक विभाग, 4/32
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/55, 56 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/35/पृ.198/पं. 6
   (3) हरिवंश पुराण, 5/648-651 (4) लोक विभाग, 4/34, 36
6. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/57-58 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/35/पृ.198/पं. 7-8
   (3) हरिवंश पुराण, 5/652 (4) लोक विभाग, 4/38

नन्दीश्वर में सोलह वापिकाएँ – चारों अंजन गिरि से चारों दिशाओं में एक लाख योजन आगे चलकर एक-एक लाख योजन लम्बाई-चौड़ाई वाली चौकोर अविनाशी चार वापिकाएँ/द्रह हैं।[1] एक अंजन गिरि संबंधी चार वापिकाएँ होने से चारों अंजन गिरि संबंधी अर्थात् नन्दीश्वर द्वीप संबंधी कुल 16 वापिकाएँ हैं।

पूर्व दिशा वाले अंजन गिरि की पूर्वादि चारों दिशाओं में क्रम से नंदा, नंदवती, नन्दोत्तरा और नंदीघोषा नाम की चार वापिकाएँ हैं।[2]

दक्षिण दिशा वाले अंजन गिरि की पूर्वादि चारों दिशाओं में क्रम से अरजा, विरजा, अशोका और वीतशोका नामक चार वापिकाएँ हैं।[3] **हरिवंश पुराण** में इनके नाम विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता बताये गये हैं।[4]

पश्चिम दिशा वाले अंजन गिरि की पूर्वादि चारों दिशाओं में क्रम से विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता नामक वापिकाएँ हैं।[5] **हरिवंश पुराण** में इनके नाम अशोका, सुप्रबुद्धा, कुमुदा और पुण्डरीकिणी बताये गये हैं।[6]

उत्तर दिशा वाले अंजन गिरि की पूर्वादि चारों दिशाओं में क्रम से रम्या, रमणीया, सुप्रभा और सर्वतोभद्रा नामक वापिकाएँ हैं।[7] **हरिवंश पुराण** में इनके नाम सुप्रभंकरा, सुमना, आनन्दा और सुदर्शना बताये गये हैं।[8]

ये सभी वापिकाएँ जलचर जीवों से रहित हैं तथा एक हजार योजन गहराई वाली टंकोत्कीर्ण हैं।[9] सभी की चारों दिशाओं में एक समान नाम वाले अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र नामक चार वन हैं। इनकी लम्बाई 1 लाख योजन एवं चौड़ाई 50 हजार योजन है।[10]

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/60 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/35/पृ.198/पं.9 (3) हरिवंश पुराण, 5/655
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/62 (2) हरिवंश पुराण, 5/658 (3) त्रिलोकसार, गाथा-969
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/76 (2) त्रिलोकसार, गाथा-969
4. हरिवंश पुराण, 5/660
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/77 (2) त्रिलोकसार, गाथा-969-970
6. हरिवंश पुराण, 5/662
7. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/78 (2) त्रिलोकसार, गाथा-970
8. हरिवंश पुराण, 5/664
9. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/61 (2) त्रिलोकसार, गाथा-971 (3) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/35/पृ.198/पं.11
10. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/63-64 (2) हरिवंश पुराण, 5/671-672
    (3) त्रिलोकसार, गाथा-972 (4) लोक विभाग, 4/45-46

नन्दीश्वर द्वीप में दधिमुख पर्वत – सभी वापिकाओं के बहुमध्य भाग में 10 हजार योजन ऊँचाई वाला दही के समान सफेद दधिमुख पर्वत है।[1] यह पर्वत भी अंजन गिरि की तरह ढोल के समान गोलाकार है। इसकी वज्रमय नींव 1,000 योजन तथा विस्तार 10,000 योजन है।[2] चूँकि 4 अंजन गिरि की 4 दिशा में कुल 16 वापिकाएँ हैं; अत: वापिकाओं के मध्य होने से दधिमुख पर्वत भी अंजन गिरि के चारों ओर कुल 16 ही है।

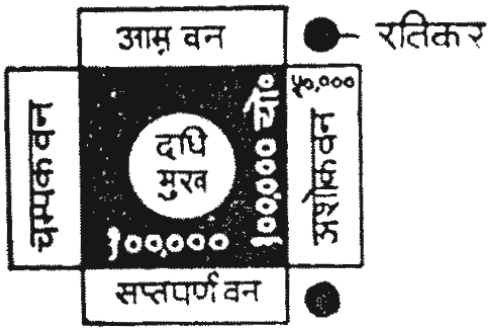

नन्दीश्वर द्वीप में रतिकर पर्वत – सभी वापिकाओं के चारों कोणों पर ढोल के समान आकार वाले रतिकर पर्वत मौजूद हैं।[3] चूँकि वापियाँ 16 हैं; अत: इन रतिकर पर्वतों की संख्या 64 हो गई। मतान्तर से कोई आचार्य इन रतिकर पर्वतों की संख्या 32 बताते हैं और इन्हें वापिकाओं के बाह्य कोणों पर ही स्वीकार करते हैं।[4]

64 रतिकर पर्वतों में 32 रतिकर पर्वत वापियों के अभ्यंतर कोणों में और 32 पर्वत बाह्य कोणों में हैं। अभ्यंतर कोणों वाले रतिकर पर्वत देवों के क्रीड़ा-स्थल स्वरूप हैं, देवों द्वारा सेवित हैं तथा बाह्य कोणों वाले 32 रतिकर पर्वतों पर एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है।[5] इन सभी पर्वतों की ऊँचाई एवं विस्तार एक हजार योजन तथा गहराई ढाई सौ योजन है।[6]

नन्दीश्वर द्वीप के अकृत्रिम चैत्यालय – 4 अंजन गिरि, 16 दधिमुख तथा 32 रतिकर - इस प्रकार 52 पर्वतों के शिखरों पर उत्तम रत्नमय एक-एक अकृत्रिम जिनमंदिर है।[7] ये सभी पूर्वाभिमुख चैत्यालय 100 योजन लम्बे, 50 योजन चौड़े और 75 योजन ऊँचे

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/65 (2) हरिवंश पुराण, 5/669
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/66 (2) हरिवंश पुराण, 5/670 (3) लोक विभाग, 4/48
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/69 (2) हरिवंश पुराण, 5/673
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/67 (2) लोक विभाग, 4/49
5. (1) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/35/पृ.198/पं.34 व पृ.199/3 (2) हरिवंश पुराण, 5/675
6. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/68 (2) हरिवंश पुराण, 5/675
7. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/70 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/35/पृ.198/पं.34 से पृ.199/1-3 (3) हरिवंश पुराण, 5/676 (4) त्रिलोकसार, गाथा-973

हैं।[1] प्रत्येक चैत्यालय में जिनेन्द्र भगवान की 500 धनुष ऊँची उत्तम लक्षणों से युक्त, स्वभाव से निष्पन्न, अनादि-निधन रत्न एवं स्वर्णमय 108 प्रतिमायें विराजमान हैं।[2]

नन्दीश्वर द्वीप में चैत्यालयों की संख्या 52 है और प्रत्येक चैत्यालय में 108-108 प्रतिमायें हैं - इस प्रकार इस द्वीप में कुल पाँच हजार छह सौ सोलह (5,616) प्रतिमायें हो गईं। ये सभी प्रतिमायें गर्भगृहों के मध्य सिंहासन आदि अष्ट प्रातिहार्यों से सुशोभित हैं। सभी प्रतिमाओं के आगे 108 अष्ट मंगल द्रव्य हैं।[3]

प्रतिमाओं का स्वरूप चित्रण करते हुये **त्रिलोकसार** में कहा गया है कि 500 धनुष ऊँचाई वाली ये जिन प्रतिमायें नीले केश, सुन्दर वज्रमय दाँत, मूँगा सदृश होंठ तथा हाथ व पैर के तल भाग में दस ताल प्रमाण लक्षणों से भरी हुईं हैं। ये ऐसी लगती हैं मानो देख रही हों, बोल ही रही हों।[4]

त्रिलोकसार के उक्त निरूपण में जो वज्रमय दाँत वाली बात कही है, वह हृदय को कुछ स्वीकार नहीं हो रही है; क्योंकि किसी भी जिनप्रतिमा के दाँत दिखना संभव-सा नहीं लग रहा है। वैसे उक्त कथन में कहीं भी दाँत **दिखने** की चर्चा नहीं की गई है; मात्र मौजूदगी का ज्ञान कराया है। अकृत्रिम प्रतिमायें हैं, अन्दर में वज्रमय दाँत हों तो उसकी सत्ता से इनकार भी नहीं किया जा सकता; यथार्थता केवली जानें। इसीप्रकार होंठ, केश आदि का रंग भी अकृत्रिम मणियों के द्वारा ही है। सभी प्रतिमायें अनादि-निधन अकृत्रिम शाश्वत हैं।

नन्दीश्वर द्वीप में स्थित इन 52 जिनालयों में प्रतिवर्ष आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन की अष्टमी से पूर्णिमा तक अष्टाह्निका पर्व में चारों प्रकार के देव जिन प्रतिमाओं के समक्ष भक्ति-भाव से विभोर होकर विविध प्रकार से पूजा-अर्चना करते हैं।[5]

---

1. हरिवंश पुराण, 5/677
2. (1) हरिवंश पुराण, 5/679 (2) त्रिलोकसार, गाथा-986
   (3) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 5/27, 28
3. (1) त्रिलोकसार, गाथा-989 (2) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 5/29, 30
4. त्रिलोकसार, गाथा-985, 986
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/83, 102, 103, 116 (2) हरिवंश पुराण, 5/680
   (3) त्रिलोकसार, गाथा-976 (4) जम्बूदीव-पण्णत्ती-संगहो, 5/92
   (5) लोक विभाग, 4/52-54

इस प्रकार उत्तम जिनमंदिरों से सुशोभित त्रिभुवन विख्यात[1] नन्दीश्वर द्वीप[+] है। इस द्वीप को चारों ओर से घेरे हुये नन्दीश्वर समुद्र है।

कुण्डलवर द्वीप –

नन्दीश्वर समुद्र को घेरे हुये अरुणवर द्वीप, अरुणवर समुद्र और अरुणाभास द्वीप, अरुणाभास समुद्र के पश्चात् ग्यारहवाँ रमणीय कुण्डलवर नामक द्वीप है।[2] इसके बहु-मध्य भाग में मानुषोत्तर पर्वत के समान चूड़ी के आकार वाला कुण्डल नामक पर्वत है।[3]

कुण्डल गिरि – अनेक रत्नों से भरे हुये स्वर्णमय इस पर्वत की ऊँचाई पचहत्तर हजार योजन और अवगाह एक हजार योजन है। इसका मूल, मध्य और शिखर विस्तार मानुषोत्तर पर्वत के विस्तार से 10 गुना ज्यादा अर्थात् मूल में दस हजार दो सौ बीस (10,220) योजन, मध्य में सात हजार दो सौ तीस (7,230) योजन और शिखर पर चार हजार दो सौ चालीस (4,240) योजन है।[4] हरिवंश पुराण में इस पर्वत की ऊँचाई बयालीस हजार (42,000) योजन बताई गई है तथा मध्यम विस्तार सात हजार एक सौ इकसठ (7,161) योजन एवं शिखर पर विस्तार चार हजार छियानवे (4,096) योजन बताया गया है।[5]

कुण्डल गिरि के कूट – कुण्डलवर द्वीप में स्थित कुण्डल गिरि पर बीस कूट हैं। पूर्वादि चारों दिशाओं में चार-चार कूट; इस प्रकार 16 और उनके अभ्यंतर भाग में एक-एक जिनालय/सिद्धवर कूट है।[6] पाठान्तर से दिशाओं के अतिरिक्त विदिशाओं में भी एक-एक सिद्धायतन कूट बताकर जिनेन्द्र भवन 8 बताये हैं।[7] **पूर्व दिशा** में वज्र, वज्रप्रभ, कनक और

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 5/52
+ नन्दीश्वर द्वीप के रचनात्मक स्वरूप का दिग्दर्शक **चित्र परिशिष्ट** में देखें।
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/17-18
   (2) कुण्डलवर द्वीप एवं कुण्डलगिरि के स्वरूप का दिग्दर्शक **चित्र परिशिष्ट** में देखें।
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/117 (2) हरिवंश पुराण, 5/686
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/118, 119 (2) त्रिलोकसार, गाथा-943
   (3) लोक विभाग, 4/60, 61
5. हरिवंश पुराण, 5/687, 688
6. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/121 (2) हरिवंश पुराण, 5/689 व 698
   (3) त्रिलोकसार, गाथा-944
7. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/128 (2) लोक विभाग, 4/67

कनकप्रभ नामक कूट है। **दक्षिण दिशा** में रजत, रजतप्रभ, सुप्रभ और महाप्रभ नामक कूट है। **पश्चिम दिशा** में अंक, अंकप्रभ, मणिकूट और मणिप्रभ नामक कूट है तथा **उत्तर दिशा** में रुचक, रुचकाभ, हिमवान और मंदर नामक कूट है।[1]

कूटों की ऊँचाई व मूल विस्तार एक हजार योजन, मध्यम विस्तार सात सौ पचास योजन एवं शिखर पर विस्तार पाँच सौ योजन है।[2]

उन कूटों पर विचित्र भवनों से संयुक्त देवों की नगरियाँ हैं। वहाँ बने हुये सुन्दर प्रासादों में कूट सदृश नाम वाले व्यंतर देव निवास करते हैं। सभी देव एक पल्योपम की आयु और बहुत प्रकार के परिवार से युक्त होते हैं।[3] इस द्वीप को चारों ओर से घेरे हुये कुण्डलवर समुद्र है।

रुचकवर द्वीप[+] **–**

कुण्डलवर समुद्र को चारों ओर से घेरे हुये शंखवर द्वीप एवं शंखवर समुद्र के पश्चात् **तेरहवाँ** रुचकवर द्वीप है।[4] इसके बहुमध्य भाग में भी मानुषोत्तर पर्वत के समान चूड़ी के आकार का स्वर्णमय रुचकवर पर्वत स्थित है।[5]

रुचक गिरि – रुचकवर द्वीप के मध्य स्थित इस पर्वत की ऊँचाई एवं चौड़ाई चौरासी हजार (84,000) योजन तथा गहराई एक हजार योजन है।[6] कुछ आचार्यों के मतानुसार इस पर्वत की चौड़ाई 42,000 योजन है।[7] इसके ऊपरी भाग में 44 दिव्य कूट हैं।[8]

रुचक गिरि के कूट – पूर्वादि चारों दिशाओं में आठ-आठ इस प्रकार **32 कूट** हैं। इन कूटों के अभ्यंतर भाग में चारों दिशाओं में एक-एक, कुल **4 महाकूट** हैं। इनकी भी अभ्यंतर

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/122,123 (2) हरिवंश पुराण, 5/690 से 694
   (3) त्रिलोकसार, गाथा-945, 946 (4) लोक विभाग, 4/62, 63
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/137 (2) हरिवंश पुराण, 5/697
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/125, 126 (2) हरिवंश पुराण, 5/695

\+ इसका रचनात्मक **चित्र पीछे परिशिष्ट** में देखें।

4. तिलोयपण्णत्ती, 5/18, 19
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/141 (2) हरिवंश पुराण, 5/699
6. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/142 (2) त्रिलोकसार, गाथा-943 (3) लोक विभाग, 4/69
7. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/168 (2) हरिवंश पुराण, 5/700
8. तिलोयपण्णत्ती, 5/144

दिशाओं में **4 कूट** हैं। पर्वत शिखर के अभ्यंतर भाग में ही **4 जिनेन्द्र कूट** हैं। इस प्रकार कुल 44 कूट हैं।[1] सभी कूट 500 योजन ऊँचे, भूमि पर 500 योजन एवं शिखर पर 250 योजन विस्तार वाले हैं।[2]

पूर्व दिशा के कूट – पर्वत की पूर्व दिशा में कनक, कांचन, तपन, स्वस्तिक, सुभद्र, अंजनमूल, अंजन और वज्र नामक आठ कूट हैं। इन कूटों पर विजया, वैजयन्ती, जयन्ता, अपराजिता, नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा और नन्दिषेणा नाम की दिक्कन्याएं निवास करती हैं।[3]

दक्षिण दिशा के कूट – कुण्डल गिरि की दक्षिण दिशा में स्फटिक, रजत, कुमुद, नलिन, पद्म, चन्द्र, वैश्रवण और वैडूर्य नामक आठ कूट हैं। इन कूटों पर इच्छा, समाहारा, सुप्रकीर्णा, यशोधरा, लक्ष्मी, शेषवती, चित्रगुप्ता और वसुंधरा नाम की आठ दिक्कन्याएं निवास करती हैं।[4]

पश्चिम दिशा के कूट – मण्डलाकार इस पर्वत के शिखर की पश्चिम दिशा में अमोघ, स्वस्तिक, मन्दर, हैमवत, राज्य, राज्योत्तम, चन्द्र और सुदर्शन नामक आठ कूट हैं। इन कूटों पर इला, सुरादेवी, पृथ्वी, पद्मा, एकनासा, नवमिका, सीता और भद्रा नाम की दिक्कन्याएं निवास करती हैं।[5]

उत्तर दिशा के कूट – कुण्डल गिरि की उत्तर दिशा में विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित, कुण्डलक, रुचक, रत्नकूट और सर्वरत्न कूट – इस प्रकार आठ कूट हैं। इन कूटों के ऊपर अलंभूषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीकिणी, वारुणी, आशा, सत्या, ह्री और श्री नाम की दिक्कुमारियाँ निवास करती हैं।[6]

हरिवंश पुराण[7] के अनुसार अन्य सभी बातें समान होने पर भी दिशाओं के कूटों और देवियों के नाम में थोड़ी भिन्नता है।

---

1. त्रिलोकसार, गाथा-947
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/146 (2) त्रिलोकसार, गाथा-960
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/145, 148-149 (2) त्रिलोकसार, गाथा-948-949
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/150-152 (2) त्रिलोकसार, गाथा-950, 951
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/153-155 (2) त्रिलोकसार, गाथा-951-953
6. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/156-158 (2) त्रिलोकसार, गाथा-953-955
7. हरिवंश पुराण, 5/705-706, 708-710, 712-717

दिक्कुमारियों द्वारा तीर्थंकर माता की सेवा – रुचकवर द्वीप के मध्य स्थित रुचक गिरि के विविध कूटों पर निवास करने वाली ये सभी दिक्कुमारियाँ बाल तीर्थंकर के जन्म कल्याणक प्रसंग पर तीर्थंकर माता की सेवा करने भरत आदि क्षेत्रों में आती हैं। इनमें से रुचक गिरि की **पूर्व दिशा** में रहने वाली देवियाँ अपने हाथों में झारी लिये तीर्थंकर माता के समीप रहती हैं। **दक्षिण दिशा** से आई हुई देवियाँ हाथ में दर्पण धारण कर माता की सेवा करती हैं। **पश्चिम दिशा** वाली देवियाँ माता के ऊपर तीन छत्र धारण करती हैं तथा **उत्तर दिशा** से आगत देवियाँ चँवरों से माता की सेवा करती हैं।[1]

चार महाकूट – उपरोक्त कूटों के अभ्यंतर भाग में चारों दिशाओं में चार महाकूट हैं। इनके नाम उत्तर दिशा से क्रमशः नित्योद्योत, विमल, नित्यालोक और स्वयंप्रभ हैं। इन पर सौदामिनी (सूत्रामणि), कनका, शतह्रदा और कनकचित्रा नामक चार देवियाँ रहती हैं। ये देवियाँ सूर्य की किरणों समान प्रकाश से दिशाओं को निर्मल करती हैं।[2] हरिवंश पुराण[3] के अनुसार देवियों के नाम कुछ भिन्न हैं।

अन्य चार कूट – उक्त महाकूटों के अभ्यंतर भाग में वैडूर्य, रुचक, मणि और राज्योत्तम नामक चार कूट और हैं, जिन पर रुचका, रुचककीर्ति, रुचककांता और रुचकप्रभा नामक दिक्कन्यायें रहती हैं। ये तीर्थंकर के जन्म के समय जातकर्म करने में कुशल होती हैं।[4]

उक्त समस्त देवियों की आयु एक पल्योपम होती है। इनका परिवार जम्बू द्वीप के पद्म सरोवर में रहने वाली श्री देवी के समान होता है।[5]

चार सिद्धकूट – पूर्वोक्त कूटों के अभ्यंतर भाग में चारों दिशाओं में एक-एक सिद्धायतन कूट है। इसमें 4 उत्तम जिनभवन हैं। पाठान्तर से कोई आचार्य यहाँ चार दिशाओं और चार विदिशाओं में सिद्धायतन कूट मानते हैं, उनके अनुसार यहाँ 8 जिनमंदिर हैं।[6] मध्यलोक के 458 अकृत्रिम चैत्यालय यहीं तक माने गये हैं। इनमें व्यंतर एवं ज्योतिष्क के चैत्यालय शामिल नहीं हैं।

---

1. (1) हरिवंश पुराण, 5/707, 711, 714, 717 (2) त्रिलोकसार, गाथा-955, 956
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/159-161 (2) हरिवंश पुराण, 5/721
   (3) त्रिलोकसार, गाथा-957, 958
3. हरिवंश पुराण, 5/718-720
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/162-163 (2) त्रिलोकसार, गाथा-958-959
5. तिलोयपण्णत्ती, 5/164
6. वहीं, 5/165-166

दूसरा जम्बू द्वीप –

लोक में द्वीप-समुद्र असंख्यात हैं और उनको संबोधित करने वाले शब्द मात्र संख्यात ही हैं; अत: एक ही नाम के अनेक द्वीप/समुद्र होना स्वाभाविक है। मध्यलोक में प्रथम द्वीप जम्बू द्वीप की चर्चा इसी पुस्तक के तृतीय अध्याय में विस्तार से की जा चुकी है। अब यहाँ संक्षेप में दूसरे जम्बू द्वीप की चर्चा करते हैं।

मध्यलोक के प्रथम द्वीप से आगे संख्यात समुद्र और द्वीपों के बाद अतिशय रमणीय दूसरा जम्बू द्वीप है। वहाँ वज्रा पृथ्वी के ऊपर चित्रा पृथ्वी के मध्य पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में **विजय आदि** देवों की दिव्य नगरियाँ हैं।[1] ये नगरियाँ उत्सेध योजन से 12 हजार योजन प्रमाण विस्तार वाली तथा जिनभवनों से विभूषित हैं।[2] इन नगरियों के मध्य में विचित्र भवनों से अतिशय रमणीय 1200 योजन विस्तार प्रमाण और एक कोस ऊँचा राजांगण स्थित है।[3] **पूर्व दिशा** की नगरी के बीच स्थित राजांगण की चारों दिशाओं में 4 दिव्य प्रासाद हैं। उसके आगे छह मण्डल रूप से मौजूद उत्तरोत्तर चार-चार गुने प्रासाद हैं।[4] प्रथम प्रासाद के बहुमध्य भाग में स्थित अतिशय रमणीय पाद पीठ सहित स्वर्ण-रत्नमय सिंहासन पर **विजय नामक अधिपति** देव आनंद से विराजित होता है।[5]

वहाँ उसके 6,000 सामानिक देव, छह अग्र देवियाँ, उनकी तीन-तीन हजार परिवार देवियाँ, विजय देव की बाह्य परिषद् के 12 हजार देव, मध्यम परिषद् के 10 हजार देव और अभ्यंतर परिषद् के 8 हजार देव रहते हैं। **विजय देव** के 18,000 शरीर रक्षक देव हैं, जो उसकी प्रत्येक दिशा में रहते हैं। वे देव अनेक प्रकार के वाद्य यन्त्रों से **विजय देव** का मनोरंजन करते हैं।[6]

विजय देव की नगरी के बाहर पच्चीस योजन जाकर चार वन खण्ड स्थित हैं, जो प्रत्येक चैत्यवृक्ष से युक्त हैं। वहाँ अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र के वन पूर्वादि दिशाओं में प्रदक्षिण रूप से अवस्थित हैं।[7]

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/180-181
   (2) 'द्वीपानतीत्य-संख्यतान् जम्बूद्वीप: पर: स्थित:।' – हरिवंश पुराण, 5/166
2. तिलोयपण्णत्ती, 5/182
3. वहीं, 5/188
4. वहीं, 5/192
5. वहीं, 5/214-215
6. वहीं, 5/216-224
7. वहीं, 5/229-230

इन वनों में भवनवासी देवों के चैत्यवृक्षों के प्रमाण वाले चैत्यवृक्ष हैं, उनकी चारों दिशाओं में प्रातिहार्यों से युक्त पद्मासन रत्नमय चार **जिनेन्द्र प्रतिमायें** हैं, जो सदा ही देवों और असुरों द्वारा जयवंत हैं।[1]

जिस प्रकार इस जम्बू द्वीप की पूर्व दिशा के अधिपति विजय देव का वैभव है, उसी प्रकार वैजयन्तादि तीन देवों का वैभव भी है। उनकी नगरियाँ दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में स्थित हैं।[2]

स्वयंभूरमण द्वीप –

मध्यलोक में स्वयंभूरमण द्वीप सबसे अन्त में है। इसके बहुमध्य भाग में द्वीप को अन्तर-बाह्य दो भागों में विभाजित करने वाला चूड़ी के समान गोलाकार **स्वयंप्रभ** नाम का पर्वत है।[3] एक हजार योजन गहराई वाला यह पर्वत मूल व उपरिम भाग में तटवेदी एवं उपवनादि से युक्त है। इस पर्वत की ऊँचाई, विस्तार और कूटों आदि का स्वरूप भगवान के केवलज्ञान में झलक रहा है। वह सब कथन कालवश इस समय नष्ट हो चुका है।[4]

स्वयंप्रभ पर्वत के बाहर स्वयंभूरमण द्वीप के बाह्य भाग, स्वयंभूरमण समुद्र एवं चारों कोनों की पृथ्वियों में कर्म भूमि है, वहाँ कर्म भूमिज तिर्यंच रहते हैं। उन तिर्यंचों में असंख्यात तिर्यंच संयतासंयत अर्थात् देशव्रती होते हैं।[5]

कोनों की पृथ्वी का स्पष्टीकरण – चित्रा पृथ्वी के बहुमध्य भाग में एक राजू लम्बा तथा एक राजू चौड़ा मध्यलोक है,[6] जबकि द्वीप और समुद्र गोलाकार हैं; अत: स्वयंभूरमण समुद्र की जगती (बाउण्ड्री) के पश्चात् चारों विदिशाओं में कोने शेष रहते हैं, इन कोनों की पृथ्वियों में भी कर्म भूमि है।

इसप्रकार यहाँ मध्यलोक के असंख्यात द्वीप-समुद्रों में से उपलब्ध प्रमुख द्वीप-समुद्रों की चर्चा की गई है। हमें यह वर्णन काल्पनिक-सा लगता है; क्योंकि हम अल्पज्ञानी

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 5/232-233
2. वहीं, गाथा-239
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/240 (2) हरिवंश पुराण, 5/730 (3) लोक विभाग, 4/90
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 5/241-242 (2) लोक विभाग, 4/91
5. हरिवंश पुराण, 5/732
6. तिलोयपण्णत्ती, 5/9

हैं, हमारे पास उन्हें जानने योग्य विशेष ज्ञान नहीं है। हमारा ज्ञान आगमाश्रित है तथा आगम में अनेक प्रमाण काल के ग्रासीभूत हो गये हैं, जिनका उल्लेख स्थान-स्थान पर स्वयं आचार्य यतिवृषभ ने किया है कि 'अमुक विषय वर्तमान में अनुपलब्ध, नष्ट हो गया है।' हमने यतिवृषभ आचार्य द्वारा किये गये ऐसे सम्पूर्ण उल्लेखों को संकलित कर परिशिष्ट के रूप में दिया है।

यथार्थता हमारे ज्ञान का विषय नहीं है, किन्तु इस अध्याय में प्रस्तुत कुमानुष द्वीप के विकृत मनुष्यों की चर्चा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि शायद जैन मनीषियों ने यह विषय धर्म के नाम पर होने वाले - पाखण्ड, खोटे तप, दिखावा, प्रदर्शन, ढोंग आदि धार्मिक विकृतियों पर कुठाराघात करने के उद्देश्य से लिखा होगा।

धर्म क्षेत्र भी विकृतियों से बचा नहीं है, दुर्भावना से किये गये धार्मिक कार्य भी उत्तम फल प्रदान करने में समर्थ नहीं होते, अत: उसके फल में मिलने वाली दशा के चित्रण से निश्चित ही मन-मस्तिष्क में ऐसे कार्यों में सावधान रहने की प्रेरणा मिलती है।

वास्तव में यह समस्त वर्णन अत्यन्त सूक्ष्म तथा केवलज्ञान गम्य ही है। इस समस्त वर्णन से हमारे मन में केवलज्ञान की महिमा आती है तथा विकृतियों से बचने की प्रेरणा मिलती है। हम स्वयं कुरीतियों से बचें एवं दूसरों को भी इनसे बचायें - यही भावना है।

●

विराधना से बंधे कर्म, आराधना से ही कटेंगे।

असाता के उदय में ही ज्ञान की कसौटी होती है।

अनित्य का बोध हुए बिना नित्य की यात्रा असंभव है।

द्रव्य त्रिकाल शक्तिमान है, गुण शक्ति है और पर्याय एक समय की योग्यता है।

- डॉ. संजीवकुमार गोधा

5

कालचक्र

'काल' बहुत प्रचलित शब्द है। इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। यहाँ हम जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में काल द्रव्य की चर्चा करते हुये षट् काल रूप चक्र का विस्तृत निरूपण करेंगे। यद्यपि नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध, सांख्य, योग आदि भारतीय दर्शनों के अतिरिक्त पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी किसी न किसी रूप में काल को स्वीकार किया है; किन्तु जैसा सूक्ष्म एवं विशद विवेचन जैन दार्शनिकों ने किया है, वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

जैन दर्शनानुसार काल का क्या स्वरूप है, उसके कितने भेद-प्रभेद हैं? अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप कालचक्र किस प्रकार बदलता रहता है? कौन-से क्षेत्रों में कौन-सा काल वर्तता है? विभिन्न कालों में मनुष्यादि की ऊँचाई, आयु आदि की विविधता के साथ-साथ उन कालों की विशिष्ट परिस्थितियाँ, भोगभूमि, कर्मभूमि, कल्पवृक्षों का स्वरूप, कुलकर व्यवस्था, युग प्रवर्तक तीर्थंकर-चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुष, धर्म विध्वंस की चेष्टा करने वाले कल्की एवं उपकल्की, सृष्टि प्रलय का स्वरूप, पुनः सृष्टि सृजन, हुण्डावसर्पिणी काल की विचित्रतायें आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों को यहाँ रोचक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अंत में विविध जिज्ञासाओं का समुचित समाधान खोजते हुये दृष्टि को स्वभाव सन्मुख करने की प्रेरणा दी है; यही उपादेय है।

'कालचक्र' दो शब्दों का समुदाय है। काल का अर्थ है 'समय' और चक्र का अर्थ है 'परिवर्तन' - इस प्रकार समय का परिवर्तन/ फेर ही कालचक्र है।

हम यहाँ सर्वप्रथम काल की चर्चा कर रहे हैं; फिर चक्र/परिवर्तन की चर्चा अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी काल के रूप में आगे विस्तार से करेंगे।

काल की परिभाषा/स्वरूप -

जैन दर्शनानुसार लोक षट्द्रव्यात्मक है।[1] छह द्रव्यों में काल भी एक द्रव्य है[2], जो कि स्वतंत्र पदार्थ है। विभिन्न ग्रन्थों में काल का स्वरूप निम्नानुसार बताया है-

1. षड्दर्शनसमुच्चय, 4/49/171/पृ.250
2. 'कालश्च' - तत्त्वार्थसूत्र, 5/39

(1) स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित, अगुरुलघुत्व आदि गुण सहित और वर्तना लक्षण से युक्त काल द्रव्य है।[1]

(2) **जीवादीदव्वाणं परिवट्टणकारणं हवे कालो।**[2] अर्थात् जीवादि द्रव्यों के परिवर्तन का कारण काल द्रव्य है।

(3) **वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य।**[3] अर्थात् वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व काल के उपकार हैं।

(4) जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान भिन्न-भिन्न रूप से एक-एक स्थित हैं, ऐसे कालाणु असंख्य द्रव्य हैं।[4]

(5) प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव में सदा ही वर्तता है, उसकी यह वर्तना किसी बाह्य सहकारी कारण के बिना नहीं हो सकती, अतः इसको वर्तानेवाला सहकारी कारणरूप वर्तना लक्षण जिसमें पाया जाता है, उसे काल कहते हैं। काल के आधार से ही समस्त द्रव्य वर्तते हैं।[5]

(6) काल द्रव्य अनादिनिधन है, वर्तना उसका लक्षण माना गया है। यह कालद्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म, परमाणु बराबर है तथा असंख्यात होने के कारण सम्पूर्ण लोकाकाश में भरा हुआ है। इसमें अनन्त पदार्थों के परिणमन कराने की सामर्थ्य है, अतः स्वयं असंख्यात होकर भी अनन्त पदार्थों के परिणमन में सहकारी होता है।[6]

जिसप्रकार छह द्रव्यों में धर्मास्तिकाय जीव-पुद्गलों के गमन में तथा अधर्मास्तिकाय उनकी स्थिति में निमित्त होता है[7], आकाश द्रव्य सब द्रव्यों को अवगाहना[8] देने का कार्य करता है, उसीप्रकार काल द्रव्य सभी द्रव्यों के वर्तना/परिणमन में निमित्त होता है।

लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं। प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित होने से काल द्रव्य भी असंख्यात हैं। सभी कालाणु एक-दूसरे से भिन्न हैं, स्वतंत्र हैं और एक प्रदेशी हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी होने से अस्तिकाय में शामिल नहीं है। जिनागम में बहुप्रदेशी द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है; अतः काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय[9] कहलाते हैं।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/281
2. नियमसार, गाथा-33
3. तत्त्वार्थसूत्र, 5/22
4. द्रव्यसंग्रह, गाथा-22
5. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा-568
6. आदिपुराण भाग-1, 3/2-3
7. 'गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः।' - तत्त्वार्थसूत्र, 5/17
8. 'आकाशस्यावगाहः।' - वहीं, 5/18
9. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-23

काल को धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के समान लोकव्यापी एक अखण्ड द्रव्य नहीं माना जा सकता है; क्योंकि इसे अनेक द्रव्य माने बिना जगत के विभिन्न क्षेत्रों में काल भेद संभव नहीं है। आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर समय भेद इसे अनेक द्रव्य माने बिना नहीं बन सकता। भरत-ऐरावत क्षेत्र में दिन एवं उसी समय विदेह क्षेत्र में रात्रि रूप व्यवहार से भी काल द्रव्य की अनेकता सिद्ध होती है।

सूर्य-चन्द्रादि मनुष्य क्षेत्र में निरन्तर सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा[1] देते रहते हैं, इसी के कारण काल का विभाग[2] अर्थात् दिन-रात की व्यवस्था बनती है। मनुष्य लोक अर्थात् ढाई द्वीप के बाहर सूर्य-चन्द्रादि गमन नहीं करते; अतः बाहर दिन-रात का परिवर्तन भी नहीं होता। वहाँ सदैव एकसमान परिस्थिति रहती है। यही कारण है कि आचार्य हरिभद्रसूरि काल द्रव्य का सद्भाव मनुष्य लोक में ही मानते हैं। उनका कहना है **'मनुष्यलोकाद्बहिः कालद्रव्यं नास्ति'**[3] अर्थात् मनुष्य लोक के बाहर काल द्रव्य नहीं है। उनके इस कथन को ज्योतिष विमानों के गमन की अपेक्षा उपचार मात्र ही समझना चाहिये।

काल को जब आकाश प्रदेशों पर **'रयणाणं रासी इव'**[4] अर्थात् बिखरी हुई रत्नराशि के समान देखते हैं तो वह निश्चय काल अर्थात् कालाणु सम्पूर्ण लोकाकाश में मौजूद हैं; किन्तु जब काल को दिवस-रात्रि के कारण की दृष्टि से देखते हैं तो उस (व्यवहारकाल) का सद्भाव मात्र ढाई द्वीप में कहा जा सकता है।

यह सापेक्ष कथन है, वस्तुतः तो व्यवहारकाल का सद्भाव भी सम्पूर्ण लोक में है।

काल के भेद –

काल एक द्रव्य होने से उत्पाद-व्यय-ध्रुवता से युक्त है। उस द्रव्य में भी गुण-पर्यायें पायी जाती हैं। यद्यपि काल में प्रतिक्षण परिणमन होने से उत्पाद-व्यय होते रहते हैं, तथापि वस्तु स्वरूप (द्रव्य) की दृष्टि से वह जैसा का तैसा रहता है, उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, वह कभी भी कालान्तर रूप या अकालरूप नहीं हो जाता। अतीत, वर्तमान या भविष्य कोई भी अवस्था क्यों न हो – सभी में 'काल, काल, काल...' यह साधारण

1. 'मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके।' – तत्त्वार्थसूत्र, 4/13
2. 'तत्कृतः कालविभागः।' वहीं, 4/14
3. षड्दर्शनसमुच्चय, 4/49/177/पृ. 253
4. द्रव्यसंग्रह, गाथा-22

व्यवहार पाया ही जाता है। अविरल प्रवाहमान उस काल द्रव्य के विविध अपेक्षाओं से अनेक भेद मिलते हैं। जैसे- व्यवहारकाल, निश्चयकाल, भूत-वर्तमान-भविष्य काल, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल आदि।

1. व्यवहार और निश्चयकाल – काल द्रव्य के मुख्य (निश्चय) और अमुख्य (व्यवहार) – ऐसे दो भेद हैं, इनमें से मुख्य काल के आश्रय से अमुख्य काल की प्रवृत्ति होती है।[1] जो दूसरे द्रव्यों के परिवर्तनरूप है, वह व्यवहारकाल है तथा स्वयं वर्तना लक्षणयुक्त निश्चयकाल है।[2] आचार्य पूज्यपाद कहते हैं कि **'परमार्थकालो वर्तनालक्षणः, परिणामादि लक्षणो व्यवहारकालः'**[3] अर्थात् परमार्थ काल वर्तना लक्षण वाला और व्यवहारकाल परिणाम आदि लक्षण वाला है।

व्यंजन पर्याय के वर्तमानरूप में ठहरने जितने काल को व्यवहारकाल कहते हैं।[4] यह समय, आवली, उच्छ्वास, नाड़ी आदि अनेक प्रकार का होता है, इसकी गणना सूर्यादि ज्योतिषचक्र के घूमने से होती है।[5] आचार्य पूज्यपाद भी इसीप्रकार की बात कहते हैं कि – समय और आवली आदि रूप व्यवहारकाल विभाग गतिवाले ज्योतिषी देवों के कारण किया गया है।[6] आचार्य अकलंकदेव ने भी व्यवहारकाल का कारण ज्योतिषी देवों का गमन ही बताया है।[7]

व्यवहारकाल का क्षेत्र बताते हुये आचार्य नेमीचन्द्र लिखते हैं कि – **'माणुसखेत्तम्हि'**[8] अर्थात् यह मनुष्य क्षेत्र में ही होता है। वस्तुतः व्यवहारकाल का संबंध सूर्य, चन्द्रादि विमानों के गमन से है। ये सभी विमान मनुष्य लोक (ढाई द्वीप) में ही गमन करते हैं, अतः इस अपेक्षा से व्यवहारकाल भी मनुष्य क्षेत्र में ही प्रवर्तता है। ढाई द्वीप के बाहर समस्त द्वीप-समुद्रों में तथा ऊर्ध्व-अधोलोक में सर्वत्र मनुष्य लोक की अपेक्षा से ही काल की गणना होती है।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/282
2. द्रव्यसंग्रह, गाथा-21
3. सर्वार्थसिद्धि, 5/22/569/ पृ. 223
4. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा-572
5. आदिपुराण, 3/12
6. सर्वार्थसिद्धि, 4/14/469/पृ. 185
7. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 4/14
8. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा-577

आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय[1] में कहते हैं कि - समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिन-रात, मास, ऋतु, अयन और वर्ष इनमें पराश्रितपना अर्थात् पर की अपेक्षा होने से इन्हें व्यवहारकाल कहा जाता है।

निश्चयकाल का स्वरूप बताते हुये आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं- काल द्रव्य पाँच वर्ण व पाँच रस से रहित, दो गन्ध व आठ स्पर्श से रहित, अगुरुलघु, अमूर्त और वर्तना लक्षणवाला है।[2] आचार्य अमृतचन्द्र क्रम से होने वाली समयरूप पर्यायों को व्यवहारकाल तथा उसके आधारभूत द्रव्य को निश्चय काल कहते हैं। उनका मूल कथन इसप्रकार है-

'क्रमानुपाती समयाख्यः पर्यायो व्यवहारकालः, तदाधारभूतं द्रव्यं निश्चयकालः।'[3]

इसीप्रकार का भाव वे आगे भी व्यक्त करते हैं - **'निश्चय-कालो नित्यः द्रव्यरूपत्वात्, व्यवहारकालः क्षणिकः पर्याय रूपत्वादिति'**[4] अर्थात् निश्चयकाल द्रव्यरूप होने से नित्य है तथा व्यवहारकाल पर्यायरूप होने से क्षणिक है।

उक्त सम्पूर्ण आगम प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वर्तना लक्षण युक्त कालाणु निश्चयकाल द्रव्य है तथा जो दूसरे द्रव्यों के परिणमन में निमित्त हो वह व्यवहारकाल है तथा जब द्रव्यों के परिणमन में सहयोगी होने को निश्चयकाल कहा जाता है, तब घड़ी-घण्टा, दिन-रात आदि को व्यवहारकाल कहते हैं।

2. व्यवहारकाल के विविध मापदण्ड - व्यवहारकाल को प्रदर्शित करने के लिये जैनाचार्यों ने अनेक मापदण्ड निर्धारित किये हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड[5] एवं लोकविभाग[6] में दिये गये विविध घटकों को निम्नानुसार देखा जा सकता है-

काल का अविभागी अंश	=	1 समय
जघन्य युक्तासंख्यात समय	=	1 आवली
संख्यात आवली	=	1 उच्छ्वास

1. पंचास्तिकाय, गाथा-25
2. वहीं, गाथा-24
3. वहीं, गाथा-100 की टीका
4. वहीं, गाथा-101 की टीका
5. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 573 से 576
6. लोकविभाग, 6/201-204

7 उच्छ्वास	=	1 स्तोक
7 स्तोक	=	1 लव
38.5 लव (24 मिनिट)	=	1 नाली (घड़ी / घटी)
2 नाली	=	1 मुहूर्त
1 मुहूर्त में 1 समय कम	=	भिन्नमुहूर्त/उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त
30 मुहूर्त (24 घण्टा)	=	1 दिनरात
15 दिन	=	1 पक्ष
2 पक्ष	=	1 मास
2 मास	=	1 ऋतु
3 ऋतु	=	1 अयन (छः मास)
2 अयन	=	1 वर्ष

व्यवहारकाल सूचक इसीप्रकार के विविध घटकों की चर्चा किंचित् शब्द भेद करते हुये आचार्य यतिवृषभस्वामी[1] ने तथा आचार्य अमृतचन्द्र[2] ने निम्नानुसार की है –

असंख्य समय	=	1 निमिष
8 निमिष	=	1 काष्ठा
16 काष्ठा	=	1 कला
32 कला	=	1 घड़ी
60 घड़ी	=	1 अहोरात्र
30 अहोरात्र	=	1 मास
2 मास	=	1 ऋतु
3 ऋतु	=	1 अयन (छः मास)
2 अयन	=	1 वर्ष

काल का सबसे छोटा अविभागी अंश समय के नाम से जाना जाता है, इसका परिमाण बताते हुये कहा है कि पुद्गल के परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर मंदगति

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/289-292
2. नियमसार, गाथा-31 टीका

से गमन में जो अविभागी काल लगता है, वह **समय** है।[1] लोक विभाग में एक परमाणु द्वारा दूसरे परमाणु को लाँघने में लगे काल को समय कहा है।[2] जैनाचार्यों ने 150 अंक प्रमाण वर्षों के काल को उत्कृष्ट संख्यात काल कहा है और इसे **अचलात्म**[3] संज्ञा से संबोधित किया है। वर्ष से लेकर अचलात्म तक के कालांशों की चर्चा को आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ती[4] में विस्तार से बताया है।

3. संख्यात, असंख्यात और अनन्त काल – जैन आगमों[5,6] में दो को जघन्य संख्यात तथा अचलात्म को उत्कृष्ट संख्यात कहा है। इन दोनों के बीच की संख्याओं को मध्यम संख्यात कहा गया है। उत्कृष्ट संख्यात काल का 150 अंक प्रमाण माप निकालने के लिये बुद्धि कल्पित एक लाख योजन विस्तारवाले और एक हजार योजन गहरे – शलाका, प्रतिशलाका, महाशलाका तथा अनवस्था नामक चार कुण्ड स्थापित कर उनमें सरसों के दानों को आधार बनाकर विस्तार से समझाया है। **यह 150 अंक प्रमाण उत्कृष्ट संख्यात चौदह पूर्व के ज्ञाता श्रुतकेवली के ज्ञान का विषय है।**

उत्कृष्ट संख्यात में एक जोड़ देने पर जघन्य असंख्यात हो जाता है। यहाँ असंख्यात के भी नौ भेद बताये गये हैं। जघन्य परीतासंख्यात, मध्यम परीतासंख्यात, उत्कृष्ट परीतासंख्यात, जघन्य युक्तासंख्यात, मध्यम युक्तासंख्यात, उत्कृष्ट युक्तासंख्यात, जघन्य असंख्यातासंख्यात, मध्यम असंख्यातासंख्यात और उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात। यह **उत्कृष्ट असंख्यात तक अवधिज्ञान का विषय है।**[7]

उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात में एक जोड़ देने पर जघन्य अनन्त होता है। इसके भी नौ भेद बताये गये हैं। जघन्य परीतानंत, मध्यम परीतानंत, उत्कृष्ट परीतानंत, जघन्य युक्तानंत, मध्यम युक्तानंत, उत्कृष्ट युक्तानंत, जघन्य अनंतानंत, मध्यम अनंतानंत और उत्कृष्ट अनंतानंत। **ये सभी प्रकार के अनन्त केवलज्ञान के विषय हैं।**[8] छद्मस्थ के ज्ञान के विषय नहीं हैं।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/288
2. लोकविभाग, 6/201
3. तिलोयपण्णत्ती, 4/312
4. वहीं, 4/294 से 312 का सार
5. तिलोयपण्णत्ती, 4/313 व टीका का सार
6. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/38, पृ.–206
7. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/314 एवं टीका से (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/38/ पृ. 206 / पं. 30
8. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/315 एवं टीका से (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/38/ पृ. 206/पं. 31

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के माध्यम से जहाँ तक की गणना को जाना जा सके, वह संख्यात है। इससे अधिक जहाँ तक की गणना अवधिज्ञान-मनःपर्यय ज्ञान का विषय बने, वह असंख्यात है। इससे अधिक जिसे सिर्फ केवलज्ञान के माध्यम से जाना जा सके, वह अनंत है।

इसप्रकार आत्मा के ज्ञान नामक एक गुण की एक समय की पर्याय में अपरिमित अनंत काल को जानने की सामर्थ्य है। इससे ज्ञान गुण की सामर्थ्य एवं ज्ञान जैसे अनंत गुण जिस आत्मा में हैं – ऐसे आत्मा की सामर्थ्य का अनुमान लगाया जा सकता है। अनंत सामर्थ्यवान् होकर भी यह जीव अपनी प्रभुता को न पहिचानने के कारण ही अनंत दुःख भोग रहा है।

4. भूत, वर्तमान और भविष्य काल – व्यवहारकाल के भूत, वर्तमान, और भविष्य के रूप में तीन भेद भी किये गये हैं। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं – **'स त्रिधा व्यवतिष्ठते–भूतो वर्तमानो भविष्यन्निति। तत्र परमार्थकाले कालव्यपदेशो मुख्यः भूतादिव्यपदेशो गौणः। व्यवहारकाले भूतादिव्यपदेशो मुख्यः, कालव्यपदेशो गौणः।**[1] अर्थात् वह काल – भूत, वर्तमान और भविष्यत् के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। निश्चय काल का कथन करने पर काल संज्ञा मुख्य तथा भूतकाल आदि का व्यपदेश (कथन) गौण रहता है तथा व्यवहारकाल का कथन करने पर भूतकाल आदिरूप संज्ञा मुख्य है और काल संज्ञा गौण है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी **'अतीतानागतवर्तमान भेदात् त्रिधा वा'**[2] कहकर व्यवहारकाल को तीन भेद वाला बताया है। आदिपुराण में कहा है कि संसार का व्यवहार चलाने में समर्थ होने से भूत, भविष्यत् और वर्तमान रूप से व्यवहारकाल की कल्पना की है।[3]

इन तीनों कालों की परिभाषा बताते हुये आचार्य नेमीचन्द्र[4] कहते हैं कि सिद्ध राशि को संख्यात आवली के प्रमाण से गुणा करने पर जो प्रमाण हो, उतना ही अतीत/**भूतकाल** का प्रमाण है। वस्तुतः हर छह महीने आठ समय में छह सौ आठ जीव मुक्ति/सिद्धदशा प्राप्त करते हैं। अतः सिद्ध राशि को छह महीना आठ समय से गुणा करके 608 का भाग देने पर अतीत काल का प्रमाण संख्यात आवली गुणित सिद्धराशि प्राप्त होती है।

---

1. सर्वार्थसिद्धि, 5/22/569/पृ. 223
2. नियमसार, गाथा-31 टीका
3. आदिपुराण, 3/11
4. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा-578-580

वर्तमान काल का प्रमाण एक समय मात्र है। तथा सम्पूर्ण जीव राशि व समस्त पुद्गलद्रव्य राशि से भी अनंतगुणा **भविष्यत् काल** का प्रमाण है। यह व्यवहारकाल वर्तमान की अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी और भूत-भविष्यत् की अपेक्षा दीर्घान्तरस्थायी अर्थात् लम्बे समय तक रहने वाला है।

5. उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल – जैन परम्परा के अनुसार कालचक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के रूप में क्रमशः निरन्तर परिवर्तन किया करता है। उत्सर्पिणी काल उत्थान का काल है, इस काल में विकास देखा जाता है तथा अवसर्पिणी काल ह्रास का काल है, इसमें निरन्तर गिरावट/कमी देखी जाती है। इन दोनों का स्वरूप स्पष्ट करनेवाले कतिपय शास्त्रीय उद्धरण निम्नानुसार है, किंचित् शब्द भेद से लगभग सभी में एक-सी बात कही गई है –

(1) **णर-तिरियाणं आऊ, उच्छेह-विभूदि-पहुदियं सव्वं।**
अवसप्पिणिए हायदि, उस्सप्पिणियासु वड्ढेदि।।[1]

अवसर्पिणी काल में मनुष्य एवं तिर्यंचों की आयु, शरीर की ऊँचाई एवं विभूति आदि सब ही घटते रहते हैं तथा उत्सर्पिणी काल में बढ़ते रहते हैं।

(2) **भरते ऐरावते च मनुष्याणां वृद्धिह्रासाविति... अनुभवायुः प्रमाणादिकृतौ।**[2] जिसमें भरत और ऐरावत क्षेत्र में मनुष्यों के अनुभव, आयु, प्रमाण आदि की वृद्धि होती है, वह उत्सर्पिणी काल है और जिसमें इनका ह्रास होता है, वह अवसर्पिणी काल है।

(3) **अनुभवादिभिरवसर्पणशीला अवसर्पिणी।**
तद्विपरीतोत्सर्पिणी।[3]

जिसमें अनुभव, आयु, शरीरादि की उत्तरोत्तर उन्नति हो, वह उत्सर्पिणी और जिसमें अवनति हो, वह अवसर्पिणी है।

(4) **उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ द्वौ भेदौ तस्य कीर्तितौ।**
उत्सर्पादवसंपच्चि बलायुर्देहवर्ष्मणाम्।।[4]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/318
2. सर्वार्थसिद्धि, 3/27/418/पृ. 166
3. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/27/4-5/ पृ. 191
4. आदिपुराण, 3/14

जिसमें मनुष्यों के बल, आयु और शरीर का प्रमाण क्रम-क्रम से बढ़ता जाये, उसे उत्सर्पिणी कहते हैं और जिसमें ये क्रम-क्रम से घटते जायें, उसे अवसर्पिणी कहते हैं।

(5) जब बाहुबल, वैभव, मनुष्य शरीर, धर्म, ज्ञान, गाम्भीर्य और धैर्य बढ़ते हैं तो उत्सर्पिणी काल होता है, और जब ये घटते हैं, तब अवसर्पिणी काल होता है।[1]

(6) पंचमेरू संबंधी पंच भरत एवं पंच ऐरावत क्षेत्रों में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नाम के दो काल वर्तते हैं। इन क्षेत्रों में स्थित जीवों के शरीर की ऊँचाई, आयु और बल की क्रमशः अवसर्पिणी में हानि और उत्सर्पिणी काल में वृद्धि होती है।[2]

अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी कालों का प्रमाण

दोनों ही काल छह-छह प्रकार के हैं। **अवसर्पिणी काल** – सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादुःषमा, दुःषमासुषमा, दुःषमा और अतिदुषमा (दुषमादुषमा) के भेद से छह प्रकार का है तथा **उत्सर्पिणी काल** अतिदुषमा से प्रारंभ करके क्रमशः बढ़ता हुआ सुषमासुषमा तक जाता है। दोनों ही कालों का प्रमाण दस-दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। दोनों को मिलाकर एक **कल्पकाल** होता है।[3] कोड़ाकोड़ी का अर्थ करोड़ गुना करोड़ होता है। वर्तमान में कुछ विचारक गणनाओं में सामंजस्य बैठाने के लिये कोड़ी शब्द का अर्थ 20 अथवा 10 भी बताने लगे हैं। लौकिक में पतंग आदि कुछ वस्तुयें कोड़ी की गणनानुसार बिकती हैं; परन्तु अलौकिक गणनाओं में यह अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता।

सागरोपम – यह काल का एक नाप है, जिसका अर्थ मानव को ज्ञात समस्त संख्याओं से अधिक काल वाले काल खण्ड का उपमा द्वारा प्रदर्शित परिमाण होता है। दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है।[4] पल्योपम की चर्चा तिलोयपण्णत्ती[5] सर्वार्थसिद्धि[6] राजवार्तिक[7] त्रिलोकसार[8] कार्तिकेयानुप्रेक्षा[9] आदि अनेक आगम ग्रन्थों में विस्तार से की गई है।

---

1. आचार्य पुष्पदन्त : महापुराण, भाग-1, संधि - 2/8/पृ.31
2. त्रिलोकसार, गाथा-779
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/319 व 320 (पूर्वार्द्ध) (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/27/पृ. 388
   (3) आदिपुराण, 3/15/पृ. 47
4. तिलोयपण्णत्ती, 1/130
5. तिलोयपण्णत्ती, 1/119-130 का सार
6. सर्वार्थसिद्धि, 3/38/439 / पृ.174 का सार
7. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/38/7/ पृ. 208 का सार
8. त्रिलोकसार, गाथा-102
9. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, लोकानुप्रेक्षा, भावार्थ पृ. 56-57

वहाँ इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुये कहा है कि – एक प्रमाण योजन विस्तार वाले और इतने ही गहरे गड्ढे को उत्तम भोगभूमि में एक दिन से लेकर सात दिन तक के उत्पन्न हुये मेढ़े के करोड़ों रोमों के अविभागी खण्डों से भरकर सौ-सौ वर्षों में एक-एक बाल निकालें। जब वह गड्ढा पूरा खाली हो जाये तब एक व्यवहार पल्य (पल्योपम) होता है। असंख्य व्यवहार पल्य का एक उद्धारपल्य तथा असंख्य उद्धारपल्य का एक अद्धापल्य होता है। दस कोड़ाकोडी अद्धापल्योपम का एक **सागरोपम** होता है। ऐसे बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक कल्पकाल कहा गया है।

अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी के विभाग – तिलोयपण्णत्ती[1], सर्वार्थसिद्धि[2], राजवार्तिक[3], त्रिलोकसार[4] एवं लोकविभाग[5] में अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी के दस-दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण काल को उनके छह भेदों में विभाजित किया है। अवसर्पिणी के छह विभाग/काल निम्नानुसार हैं –

(1) सुषमा-सुषमा	–	4 कोड़ाकोड़ी सागर
(2) सुषमा	–	3 कोड़ाकोड़ी सागर
(3) सुषमा-दुषमा	–	2 कोड़ाकोड़ी सागर
(4) दुषमा-सुषमा	–	1 कोड़ाकोड़ी सागर में 42,000 वर्ष कम
(5) दुषमा	–	21,000 वर्ष
(6) अतिदुषमा	–	21,000 वर्ष

उत्सर्पिणी के छह विभाग[6] इसके विपरीत क्रम में हैं, जो कि निम्नानुसार हैं –

(1) अतिदुषमा	–	21,000 वर्ष
(2) दुषमा	–	21,000 वर्ष
(3) दुषमा-सुषमा	–	1 कोड़ाकोड़ी सागर में 42,000 वर्ष कम
(4) सुषमा-दुषमा	–	2 कोड़ाकोड़ी सागर
(5) सुषमा	–	3 कोड़ाकोड़ी सागर
(6) सुषमा-सुषमा	–	4 कोड़ाकोड़ी सागर

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/320-323
2. सर्वार्थसिद्धि, 3/27/418/पृ. 166-167
3. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/27/पृ. 388
4. त्रिलोकसार, 781
5. लोकविभाग, 5/5-7
6. तिलोयपण्णत्ती, 4/1576-77

उक्त नामों में काल अथवा समय सूचक **'समा'** शब्द में **'सु'** एवं **'दुर्'** उपसर्गों का प्रयोग उनके शुभ और अशुभ का सूचक है। इन उपसर्गों से छहों कालों के नाम की सार्थकता बताते हुये **आचार्य जिनसेन** लिखते हैं –

समा कालविभागः स्यात् सुदुसावर्हगर्हयोः।
सुषमा दुःषमेत्येवमतोऽन्वर्थत्वमेतयोः।।[1]

समा काल के विभाग को कहते हैं। तथा **'सु'** और **'दुर्'** उपसर्ग क्रम से अच्छे और बुरे अर्थ में आते हैं। **'सु'** और **'दुर्'** उपसर्गों को पृथक्-पृथक् समा के साथ जोड़ देने तथा व्याकरण के नियमानुसार **'स'** को **'ष'** कर देने से **सुषमा** और **दुषमा** शब्दों की सिद्धि होती है, जिनका अर्थ क्रम से अच्छा काल और बुरा काल होता है। इस तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छहों भेद सार्थक नाम वाले हैं।

ये उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक दोनों ही भेद कालचक्र के परिभ्रमण से अपने छहों कालों के साथ-साथ **कृष्ण पक्ष** और **शुक्ल पक्ष** की तरह घूमते रहते हैं[2] अर्थात् जिस तरह कृष्ण पक्ष के बाद शुक्ल पक्ष और शुक्ल पक्ष के बाद कृष्ण पक्ष आता है, उसीतरह अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी काल आता है। कृष्ण एवं शुक्ल पक्ष के समान कालचक्र परिवर्तन की बात रविषेणाचार्य ने **पद्म पुराण**[3] में भी की है। तिलोयपण्णत्ती में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में रँहट-घटिका न्याय[4] की तरह अनन्तानन्त[5] उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी होने का उल्लेख है। ये क्रम सदा चलता ही रहता है।

---

1. आदिपुराण, 3/19
2. वहीं, 3/21
3. पद्मपुराण, प्रथम भाग 3/73
4. **रँहट घटिका न्याय** – जैसे रँहट की घड़ियाँ चक्रवत् घूमती हुई बार-बार ऊपर एवं नीचे आती-जाती हैं, उसीप्रकार अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी – इन कालों का परिवर्तन होता ही रहता है।
5. तिलोयपण्णत्ती, 4/1636

इस कालचक्र के क्रम को चित्र द्वारा निम्नानुसार देखा जा सकता है –

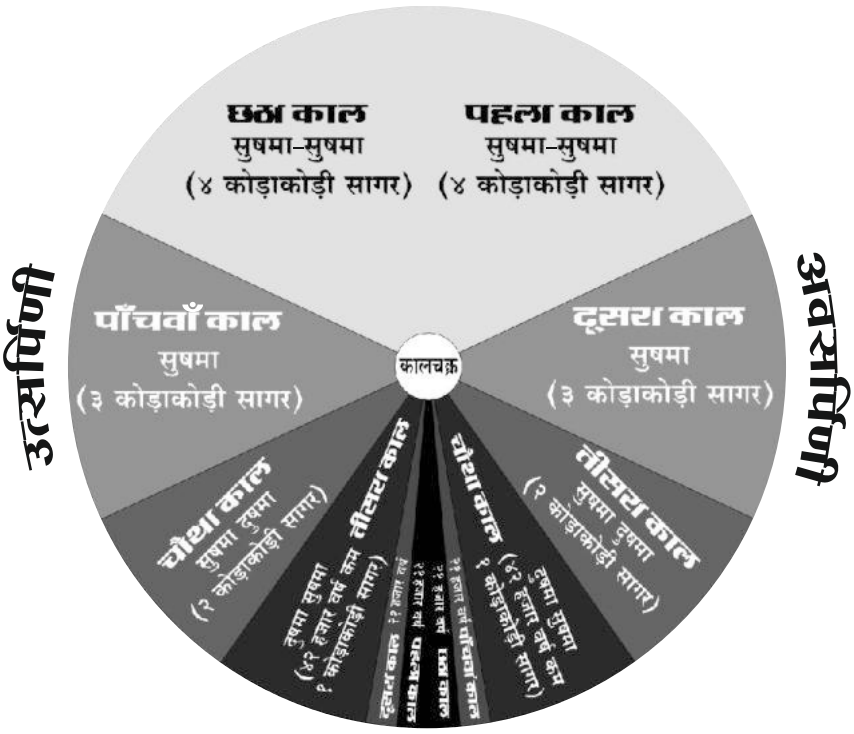

अवसर्पिणी के प्रथम तीन काल (भोगभूमि) –

भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में अवसर्पिणी के प्रथम तीन कालों में भोग भूमि रहती है। इन कालों में भोगों की प्रधानता होती है, इसीलिये जहाँ ये काल वर्तते हैं, उन्हें भोगभूमि कहते हैं। यहाँ सभी बाह्य सामग्रियाँ विविध प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त होती हैं। यहाँ सभी **युगलिया**[1] जन्म लेते हैं, और वे जीवनपर्यंत पति-पत्नी के समान रहते हैं। इन मनुष्यों की आयु के नौ मास शेष रहने पर ही स्त्री के गर्भ धारण होता है, शेष काल में किसी के भी गर्भ नहीं रहता, फिर नौ मास पूर्ण होने पर युगल (नर-नारी) भूशय्या पर सोकर गर्भ से युगल (पुत्र-पुत्री) के निकलने पर तत्काल ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं।[2] अंतिम समय में पुरुष को छींक और स्त्री को जँभाई आने से मृत्यु होती है[3] अथवा आदिपुराण[4] एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[5] के अनुसार आयु के अन्त में पुरुष को जम्हाई और स्त्री को छींक आने से मृत्यु होती है।

---

1. **युगलिया** = बालक-बालिका युगल रूप में
2. तिलोयपण्णत्ती, 4/379-380
3. वहीं, 4/381
4. आदिपुराण, 3/42
5. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, भाग - 5, 3/31/पृ. 351/पं. 4

भोगभूमि में नर-नारी दोनों के शरीर शरद ऋतु के मेघों समान स्वयं ही आमूल विलीन हो जाते हैं।[1] तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक[2] के अनुसार उनके शरीर विद्युत के समान विघट जाते हैं। यहाँ उत्पन्न हुये जीवों का कदलीघात मरण अथवा आयु का अपवर्तन नहीं होता।[3] इनका शरीर सप्त धातुमय होते हुये भी छेदा-भेदा नहीं जा सकता। अशुचिता से रहित होने के कारण उनके शरीर से मूत्र तथा विष्टा का आस्रव नहीं होता।[4] आदिपुराण के अनुसार उन लोगों को पसीना भी नहीं आता।[5] यहाँ शरीर में रोग भी नहीं होते, कोई किसी का शत्रु नहीं होता, सिंह और हाथी भी साथ रहते हैं, लोगों का लावण्य रंग और विलास से परिपूर्ण वय और यौवन भी नष्ट नहीं होते।[6]

देखो! पुण्योदय का यह ठाठ देखकर हमारा मन ललचाता है; किन्तु भाई ! हमने भी आत्मज्ञान के अभाव में इस पंच परावर्तन रूप संसार में परिभ्रमण करते हुये भोगभूमि में अनन्त बार जन्म लिया है। उत्तम, मध्यम और जघन्य सभी भोगभूमियों में हम अनन्त बार जन्म-मरण कर चुके हैं।

अनेक बार भावलिंगी मुनिराजों को आहार दान देने के बाद भोगभूमि में जन्म लेकर भी यह जीव स्वयं सम्यक्त्व से शून्य रहा। वहाँ अनंत बार तीन पल्य की आयु तक बाह्य अनुकूलतामय जीवन भी पारमार्थिक सुख के बिना दु:ख से ही बीता।

भोगभूमियों के सभी जीव स्वभाव से ही कोमल परिणामी होते हैं, इसलिये मरकर देवपर्याय में ही जाते हैं, इनकी देव के सिवाय और कोई गति नहीं होती।[7] यहाँ के मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यंच मरकर भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में तथा सम्यग्दृष्टि मनुष्य-तिर्यंच मरकर सौधर्म युगल में उत्पन्न होते हैं।[8] इससे ऊपर नहीं जाते।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/381
2. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, भाग - 5, 3/31/पृ. 351/पं. 5
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/361 (2) तत्त्वार्थसूत्र, 2/53 (3) सर्वार्थसिद्धि, 2/53/365/पृ. 148
4. तिलोयपण्णत्ती, 4/387
5. आदिपुराण, 3/31
6. आचार्य पुष्पदन्त कृत महापुराण भाग-1, सन्धि-2/8, पृ. 31
7. आदिपुराण, 3/43
8. तिलोयपण्णत्ती, 4/382

इन कालखण्डों में जन्म लेने वाले मनुष्यादि प्राणियों का जीवन भोग प्रधान रहता है। इस समय प्रकृति इतनी सम्पन्न होती है कि उसके निवासियों को जीवनयापन के लिये किसी भी प्रकार के कृषि, मसि, व्यापार, उद्योग, शिल्प अथवा असि आदि कर्म की आवश्यकता नहीं होती। प्रकृति से सहजरूप से प्राप्त भोग्य सामग्री का उपभोग करना ही उनका कार्य रहता है। सभी सामग्री उनको संकल्प मात्र से **कल्पवृक्षों** द्वारा प्राप्त हो जाती है।

कल्पवृक्षों का स्वरूप –

भोगभूमि में उत्पन्न हुये जीवों को मनवांछित पदार्थ कल्पवृक्ष से प्राप्त हो जाते हैं। पुण्यात्मा पुरुषों को मनचाहे भोग देने में समर्थ होने से ही ज्ञानियों ने इसकी कल्पवृक्ष संज्ञा सार्थक कही है।[1] इन भोगभूमियों में जन्मे युगल, कल्पवृक्षों द्वारा दी गई वस्तुओं को ग्रहण करके और विक्रिया द्वारा बहुत प्रकार के शरीर बनाकर अनेक भोग भोगते हैं।[2] इनके भोगों की बाहुल्यता बताते हुये आचार्य यतिवृषभदेव लिखते हैं –

'जुगलाणि अणंतगुणं, भोगं चक्कहर भोग लाहादो।'[3]

अर्थात् ये युगलिया जीव चक्रवर्ती के भोग-लाभ की अपेक्षा अनंत गुणे भोग भोगते हैं। चक्रवर्ती तो कर्मभूमि में होते हैं, उन्हें विशेष कर्म करना पड़ता है, जबकि भोगभूमियाँ जीवों को सर्व सुविधायें कल्पवृक्षों से प्राप्त होती हैं, उन्हें मनवांछित समस्त भोग सामग्री प्राप्त होती है; फिर भी आचार्य नेमीचन्द्र लिखते हैं कि –

'सुलहेसु वि णो तित्ती तेसिं पंचक्खविसएसु'[4]

अर्थात् पंचेन्द्रिय भोगों की अतिसुलभता भी उन्हें तृप्ति प्रदान नहीं करती। कहने का तात्पर्य यह है कि भोगों की बाहुल्यता इस जीव को सुखी करने में समर्थ नहीं है।

भोग सामग्री इकट्ठी करने के पहले हमें भी यह विचार करना चाहिये कि भोगों में सुख है भी या नहीं? ''इनमें सुख है ही नहीं'' – यदि ऐसी प्रतीति हो जाये तो भोगों की वासना मिटे बिना न रहे। वर्तमान में हम कितनी भी भोग सामग्री एकत्रित कर लें, वह भोगभूमि की तुलना में अत्यल्प ही होगी; अतः विचार करना कि भोगभूमि में इतनी अनुकूल सामग्री में

1. आदिपुराण, 3/38
2. तिलोयपण्णत्ती, 4/362
3. वहीं, 4/361 (पूर्वार्द्ध)
4. त्रिलोकसार, गाथा-790 (उत्तरार्द्ध)

भी तृप्ति नहीं हुई तो अब इस अल्प सामग्री से तृप्ति कैसे होगी? अतः भोग सामग्री से दृष्टि हटाकर अपने स्वभाव को देखने का प्रयत्न करना चाहिये।

जीवनपर्यंत भोगी जाने वाली ये समस्त भोग सामग्रियाँ उनको दस प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त होती हैं। जैन आगमों में इनकी **10 जातियाँ** बताई गई हैं, उनके नाम निम्नानुसार हैं –

1. पानांग 2. तूर्यांग 3. भूषणांग 4. वस्त्रांग 5. भोजनांग 6. आलयांग 7. दीपांग 8. भाजनांग 9. मालांग और 10. तेजांग।[1] इनके नाम किंचित् शब्द भेद से आदिपुराण[2] में निम्नानुसार मिलते हैं – 1. मद्यांग 2. तूर्यांग 3. विभूषांग 4. स्रगांग 5. ज्योतिरंग 6. दीपांग 7. गृहांग 8. भोजनांग 9. पात्रांग और 10. वस्त्रांग।

ये सभी वृक्ष अपने-अपने नाम के अनुसार ही फल प्रदान करने वाले हैं। तिलोयपण्णत्ती[3], लोकविभाग[4] आदि ग्रन्थों में इनका स्वरूप इसप्रकार बताया गया –

1. पानांग – इस जाति के कल्पवृक्ष भोगभूमिया जीवों को मधुर, सुस्वाद, छह रसों से युक्त, प्रशस्त, अतिशीतल तथा तुष्टि और पुष्टिकारक बत्तीस प्रकार के पेय दिया करते हैं।

2. तूर्यांग – इस जाति के कल्पवृक्ष उत्तम वीणा, पटु पटह, मृदंग, झालर, शंख, दुन्दुभि, भम्भा, भेरी और काहल इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार के बाजे देते हैं।

3. भूषणांग/रत्नांग – इस जाति के कल्पवृक्ष पुरुषों को 16 प्रकार के और स्त्रियों को 14 प्रकार के कंकण, कटिसूत्र, हार, केयूर, मंजीर, कटक, कुण्डल, किरीट और मुकुट इत्यादि विविध उत्तम आभूषण प्रदान करते हैं।

4. वस्त्रांग – इस जाति के कल्पवृक्ष नित्य चीनपट (सूती वस्त्र) एवं उत्तम क्षौम (रेशमी) वस्त्र तथा मन और नेत्रों को आनन्दित करने वाले नाना प्रकार के अन्य वस्त्र देते हैं।

5. भोजनांग – इस जाति के कल्पवृक्ष सोलह प्रकार का आहार, सोलह प्रकार के व्यंजन, चौदह प्रकार के सूप (दाल आदि) चौवन के दुगुने (108) प्रकार के खाद्य पदार्थ, तीन सौ तिरेसठ प्रकार के स्वाद्य पदार्थ एवं तिरेसठ प्रकार के रस भेद पृथक्-पृथक् दिया करते हैं।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/346
2. आदिपुराण, 3/39-40
3. तिलोयपण्णत्ती, 4/347-357
4. लोकविभाग, 5/14-23

6. आलयांग – इस जाति के कल्पवृक्ष स्वस्तिक एवं नन्द्यावर्त आदि सोलह प्रकार के रत्नमय और सुवर्णमय रमणीय दिव्य भवन दिया करते हैं।

7. दीपांग – इस जाति के कल्पवृक्ष प्रासादों में शाखा, प्रवाल, फल, फूल और अंकुरादि के द्वारा जलते हुये दीपकों के सदृश प्रकाश देते हैं।

8. भाजनांग – इस जाति के कल्पवृक्ष स्वर्ण एवं बहुत प्रकार के रत्नों से निर्मित थाल, झारी, कलश, गागर, चामर और आसनादिक प्रदान करते हैं।

9. मालांग – इस जाति के कल्पवृक्ष बल्ली, तरु, गुच्छों और लताओं से उत्पन्न हुए सोलह हजार भेदरूप पुष्पों की विविध मालायें देते हैं।

10. तेजांग/ज्योतिरंग – इस जाति के कल्पवृक्ष मध्य दिन के करोड़ों सूर्यों की किरणों के सदृश होते हुए नक्षत्र, चन्द्र और सूर्यादि की कान्ति का संहरण करते हैं।

ये कल्पवृक्ष वनस्पति रूप नहीं होते और इनका स्वरूप किसी व्यन्तर के समान भी नहीं होता। ये पृथ्वीरूप होते हुये भी जीवों को उनके पुण्य का फल प्रदान करने में समर्थ होते हैं। इनके माध्यम से भोगभूमि के जीव निरन्तर इन्द्रियजनित उत्तम सुखों को भोगते हैं और अत्यन्त संतोषपूर्वक अपना जीवनयापन करते हैं; किन्तु तृप्त नहीं होते।

भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में अवसर्पिणी के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय काल में जीवों को प्राप्त सभी अनुकूलतायें इन कल्पवृक्षों के द्वारा ही प्राप्त होती हैं। सामान्यरूप में तीनों भोगभूमियों में भोग सामग्री की बाहुल्यता है, भोगों की ही प्रधानता रहती है, फिर भी तीनों के स्वरूप एवं परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तन को हम पृथक्-पृथक् देखते हैं –

अवसर्पिणी का पहला काल (सुषमा-सुषमा) –

यह काल उत्तम भोगभूमि का काल कहलाता है। इस काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों की परिस्थितियाँ उत्तरकुरु एवं देवकुरु नामक शाश्वत भोगभूमियों के समान होती हैं। ध्यान रहे, **षट् कालों का परिवर्तन भरत एवं ऐरावत क्षेत्र के भी सभी खण्डों में नहीं होता, यह परिवर्तन इन क्षेत्रों के मात्र आर्यखण्डों में ही होता है।** म्लेच्छ खण्डों की व्यवस्था को आगे ''काल अपरिवर्तन वाले क्षेत्र'' शीर्षक में बताया गया है।

यह सुषमा-सुषमा नामक पहला काल चार कोड़ाकोड़ी सागर का कहा गया है। इस काल में भूमि रज, धूम, दाह और हिम से रहित साफ-सुथरी, ओलावृष्टि तथा बिच्छू आदि कीड़ों के उपसर्ग से रहित, निर्मल दर्पण के समान, निन्द्यपदार्थों से रहित दिव्य बालुकामय

होती है, जो तन-मन और नेत्रों को सुख उत्पन्न करती है।[1] चारों ओर पंच वर्ण युक्त, मृदुल एवं सुगन्ध से परिपूर्ण सुन्दर छोटे-छोटे घास के मैदान होते हैं। झील, तालाब, वापिका तथा नदियाँ स्वच्छ शीतल जल से परिपूर्ण तथा मकरादि जलचर जीवों से रहित होती हैं और उन्हीं जलाशयों के किनारे रत्नों की सीढ़ियों से युक्त शैय्या एवं आसनों के समूह से परिपूर्ण भोगभूमियों के प्राकृतिक भवन, प्रासाद आदि आवास-स्थल बने होते हैं।[2]

इस काल में शंख, चींटी, खटमल, गोमक्षिका, डाँस, मच्छर और कृमि आदि विकलेन्द्रिय जीव नियम से नहीं होते। यहाँ असंज्ञी भी नहीं होते, स्वामी और भृत्य का भेद भी नहीं होता, कलह एवं भीषण युद्ध आदि तथा ईर्ष्या और रोग आदि भी नहीं होते। यहाँ अन्धकार नहीं होने से दिन-रात का भेद नहीं है। गर्मी और सर्दी की वेदना भी नहीं है। निन्दा, परस्त्री रमण और परधन हरण आदि दुष्कृत्य भी यहाँ नहीं होते हैं।[3]

इस काल में उत्पन्न हुये युगल चौथे दिन बेर के बराबर आहार ग्रहण करते हैं।[4] इनके शरीर की उत्कृष्ट ऊँचाई 6000 धनुष (तीन कोस) एवं आयु तीन पल्य प्रमाण होती है। पुरुष एवं स्त्री दोनों के पृष्ठ भाग में दो सौ छप्पन हड्डियाँ[5] होती है। यहाँ जन्मे पुरुषों के लिये लोकविभाग में **'नवसहस्रेभविक्रमा'**[6] शब्द का प्रयोग करके नौ हजार हाथियों के सदृश बल की बात कही है।

ये किंचित् लाल हाथ-पैर वाले, नव चम्पक के फूलों की सुगन्ध से व्याप्त, मार्दव और आर्जव गुणों से संयुक्त, मन्दकषायी, सुशील होते हैं। इनका शरीर वज्रवृषभनाराच संहनन से युक्त और समचतुरस्र संस्थान वाला होता है। ये उदित होते हुये सूर्य सदृश तेजस्वी, कवलाहार करते हुये भी मल-मूत्र से रहित होते हैं। नर-नारी के अतिरिक्त इनका और कोई परिवार नहीं होता।[7]

उत्तम मुकुट को धारण करने वाले यहाँ के पुरुष इन्द्र से भी अधिक सुन्दराकार होते हैं और मणिमय कुण्डलों से विभूषित कपोलों वाली स्त्रियाँ अप्सराओं के सदृश अत्यन्त सुन्दर होती हैं।[8]

---

1. तिलोयपण्णत्ती 4/324-325
2. वहीं, 4/326, 328-329
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/335-337 (2) लोकविभाग 5/29-30
4. आदिपुराण, 3/30
5. लोकविभाग, 5/11
6. लोकविभाग, 5/26
7. तिलोयपण्णत्ती, 4/338-344
8. वहीं, 4/363

ऐसे उत्तम अनुकूलताओं वाले काल में भी हम अनन्त बार जन्म-मरण कर चुके हैं; किन्तु आत्मभान बिना अशान्त ही रहे।

इस काल में आयु पूर्ण होने से 9 माह पूर्व ही स्त्री को गर्भ धारण होता है तथा युगल पुत्र-पुत्री को जन्म देकर स्त्री-पुरुष दोनों का मरण हो जाता है। नवजात बालक-बालिका के शैय्या पर सोते हुये अपना अंगूठा चूसने में तीन दिन व्यतीत हो जाते हैं, पश्चात् तीन दिन में वे बैठना सीख जाते हैं, फिर तीन दिन तक अस्थिर गमन और अगले तीन दिनों में दौड़ने लगते हैं। फिर क्रमशः कलागुणों की प्राप्ति, तरुण अवस्था और सम्यक्त्व प्राप्ति की योग्यता में तीन-तीन दिन व्यतीत होते हैं।[1] इसप्रकार उत्तम भोगभूमि में जन्मे मनुष्य मात्र 21 दिनों में यौवन से परिपूर्ण[2] होकर सम्यग्दर्शन प्राप्ति के योग्य हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के कारणों की चर्चा करते हुये आचार्य यतिवृषभ[3] ने तीन कारण बताये हैं - (1) जाति स्मरण ज्ञान (2) देवों द्वारा प्रतिबोध (3) चारणऋद्धि धारी मुनिराज का सदुपदेश।

ये सब उत्तम युगल पारस्परिक प्रेम में अत्यन्त मुग्ध रहा करते हैं, इसलिये उनके श्रावकोचित व्रत संयम नहीं होते।[4]

जैसे-जैसे सुषमा-सुषमा नामक प्रथम काल व्यतीत होता जाता है, वैसे-वैसे मनुष्य, तिर्यंचों का शरीर, आयु, बल, ऋद्धि आदि भी कम होते जाते हैं। इसप्रकार चार कोड़ाकोड़ी सागर में यह काल पूर्ण हो जाता है। हमने अतीत में अनंत बार इस प्रकार का काल अतीन्द्रिय सुख से दूर रहकर ही बिताया है।

अवसर्पिणी का दूसरा काल (सुषमा) -

यह काल मध्यम भोगभूमि का काल कहलाता है। इस काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों की परिस्थितियाँ हरि क्षेत्र[5] एवं रम्यक् क्षेत्र नामक शाश्वत भोगभूमियों के समान होती हैं।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/383-384
2. 'दिवसैरेकविंशत्या पूर्यन्ते यौवनेन च।' - लोकविभाग, 5/25 (पूर्वार्द्ध)
3. तिलोयपण्णत्ती, 4/385
4. 'तेसुं सावय वद संजमो णत्थि' - वहीं, 4/390
5. 'शेषो विधिस्तु निश्शेषो हरिवर्षसमो मतः' - आदिपुराण 3/50

तीन कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण सुषमा नामक इस दूसरे काल के प्रारंभ में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई 4000 धनुष (दो कोस), आयु दो पल्य और शरीर की प्रभा पूर्णचन्द्र सदृश होती है। इनके पृष्ठभाग में एक सौ अट्ठाईस हड्डियाँ होती हैं। स्त्रियाँ अप्सराओं सदृश और पुरुष देवों सदृश होते हैं। इस काल में मनुष्य समचतुरस्र संस्थान से युक्त होते हुए दो दिन बाद तीसरे दिन बहेड़ा फल बराबर अमृतमय आहार करते हैं।[1]

जन्म के उपरान्त युवा होने तक का जो क्रम उत्तम भोगभूमि में 3-3 दिन के अन्तराल से सात चरणों में बताया गया था, वही क्रम यहाँ मध्यम भोगभूमि (सुषमा नामक दूसरे काल) में 5-5 दिन के विकास-क्रम में होता है अर्थात् बालकों के शैय्या पर सोते हुए अपना अंगूठा चूसने, बैठने, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कलागुणों की प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता - इनमें प्रत्येक अवस्था में पाँच-पाँच दिन लगते हैं।[2] इस प्रकार यहाँ के जीव जन्म के पश्चात् मात्र **35 दिन** में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के योग्य हो जाते हैं।

भोगभूमि संबंधी शेष वर्णन उत्तम भोगभूमि के समान ही है। इस काल के प्रारंभ से अंत तक की परिस्थितियों में भी अवसर्पिणी काल होने से बल, आयु, शरीर आदि का ह्रास देखा जाता है। इस प्रकार तीन कोड़ाकोड़ी सागर व्यतीत होने पर यह काल समाप्त हो जाता है।

अवसर्पिणी का तीसरा काल (सुषमा-दुषमा)

यह काल जघन्य भोगभूमि का काल कहलाता है। इस काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों की परिस्थितियाँ हैमवत क्षेत्र एवं हैरण्यवत क्षेत्र नामक शाश्वत भोगभूमियों के समान होती हैं। यहाँ भी सम्पूर्ण कार्य कल्पवृक्षों से ही सम्पन्न होते हैं।

तिलोयपण्णत्ती[3] एवं आदिपुराण[4] में इस काल का स्वरूप स्पष्ट करते हुये लिखा है कि सुषमा-दुषमा नामक यह काल दो कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। इसके प्रारंभ में मनुष्यों की **ऊँचाई** दो हजार धनुष (एक कोस), **आयु** एक पल्य और वर्ण प्रियंगु फल सदृश होता है। इस काल में स्त्री-पुरुषों के पृष्ठ भाग में चौंसठ **हड्डियाँ** होती हैं। यहाँ के मनुष्य एक दिन के अन्तराल से आँवले बराबर अमृतमय आहार ग्रहण करते हैं।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/400-402
2. वहीं, 4/403 -404
3. वहीं, 4/407-410
4. आदिपुराण, 3/53-54

इस काल में जन्मे युगल का शैय्या पर अंगूठा चूसने में 7 दिन का काल व्यतीत हो जाता है। शेष परिस्थितियाँ - बैठना, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कला गुणों की प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता - इन सब अवस्थाओं में भी क्रमशः सात-सात दिन लगते हैं।[1] इस प्रकार इस काल में उत्पन्न हुये जीवों में मात्र **49 दिन** में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता हो जाती है।

यहाँ सभी जीवों को अपने पुण्य प्रमाण कल्पवृक्षों से अनुकूलताओं की प्राप्ति होने के कारण कोई चोर नहीं होता। यहाँ किसी की किसी से दुश्मनी नहीं होती। यहाँ शीत, आताप, प्रचण्ड वायु एवं वर्षा नहीं होती, इसलिये प्राकृतिक वातावरण मनोरम रहता है।

अवसर्पिणी के प्रारंभिक 3 काल (भोगभूमि) एक नजर में -

विषय	सुषमा-सुषमा	सुषमा	सुषमा-दुषमा
भूमि रचना	उत्तम भोगभूमि	मध्यम भोगभूमि	जघन्य भोगभूमि
काल प्रमाण	4 कोड़ाकोड़ी सागर	3 कोड़ाकोड़ी सागर	2 कोड़ाकोड़ी सागर
उत्कृष्ट आयु	3 पल्योपम	2 पल्योपम	1 पल्योपम
जघन्य आयु	2 पल्योपम	1 पल्योपम	1 कोटिपूर्व+1 समय
उत्कृष्ट ऊँचाई	3 कोस	2 कोस	1 कोस
जघन्य ऊँचाई	2 कोस	1 कोस	500 धनुष
पृष्ठ हड्डियाँ	256	128	64
आहार प्रमाण	बेर बराबर	बहेड़ा बराबर	आँवला प्रमाण
आहार अंतराल	3 दिन बाद	2 दिन बाद	1 दिन बाद
शरीर का रंग	सूर्यप्रभा सदृश	पूर्ण चन्द्रप्रभा	प्रियंगु फल सदृश
सम्यक्त्व पात्रता	21 दिन बाद	35 दिन बाद	49 दिन बाद

भोगभूमि के तीनों कालों में जिसप्रकार मनुष्यों के युगल कल्पवृक्ष सम्बन्धी आहारों से सन्तुष्ट होकर प्रेमपूर्वक क्रीड़ा करते हैं, उसीप्रकार सन्तुष्ट चित्त के धारक **तिर्यंचों के जोड़े** भी प्रेमपूर्वक क्रीड़ा करते हैं। उस समय कहीं सिंहों के युगल, कहीं हाथियों के युगल, कहीं ऊँटों के युगल, कहीं शूकरों के युगल और कहीं मद से धीमी चाल चलने वाले व्याघ्रों के

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/411-412

युगल क्रीड़ा करते हैं। कहीं मनुष्यों के बराबर आयु को धारण करने वाले गाय, घोड़े और भैंसों के जोड़े अपनी इच्छानुसार अत्यधिक क्रीड़ा करते हैं।[1] वहाँ रहने वाले व्याघ्रादि भूमिचर और काक आदि नभचर तिर्यंच मांसाहार के बिना कल्पवृक्षों के मधुर फल भोगते हैं। मनुष्यों के समान तिर्यंचों के भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार फल, कन्द, तृण और अंकुरादि के भोग होते हैं।[2]

इन कालों में पुरुष स्त्री को **आर्या** कहकर और स्त्री पुरुष को **आर्य** कहकर पुकारती है। आर्या और आर्य भोगभूमिज स्त्री-पुरुषों के साधारण नाम हैं। उस समय सबकी एक ही उत्तम जाति होती है। वहाँ ब्राह्मण आदि चार वर्ण नहीं होते और न ही असि-मसि आदि षट्कर्म होते हैं। वहाँ न सेवक-स्वामी का सम्बन्ध होता है और न ही वेषधारी साधु होते हैं। वहाँ के प्राणी सब विषयों में मध्यस्थ रहते हैं, वहाँ न मित्र होते हैं और न शत्रु। वे सभी स्वभाव से ही अल्पकषायी होते हैं।[3]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भोगभूमि का काल उत्तम काल है, जहाँ प्राणियों को सर्वप्रकार की बाह्य अनुकूलतायें मिलती हैं, किन्तु यह प्रसिद्ध कहावत है कि **'सबै दिन जात न एकसमाना'** अर्थात् सभी दिन एकसमान नहीं रहते। भोगभूमि का काल भी भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में एकसमान नहीं रहता, समय के साथ-साथ परिवर्तन होता है। भोगभूमि का काल उत्तम से मध्यम एवं जघन्य होकर अब समापन की ओर बढ़ता है। इसमें लगभग 9 कोड़ाकोड़ी सागर का काल व्यतीत हो जाता है।

तृतीय काल के अन्त में धीरे-धीरे कल्पवृक्षों की फलदान सामर्थ्य कम होने लगती है। अब युग परिवर्तन होना है, भोगभूमि समाप्त होगी और कर्मभूमि का प्रारंभ होगा। इस संधि काल में सृष्टि में बहुत बड़े प्राकृतिक परिवर्तन होने लगते हैं, इनसे भयभीत प्रजा की समस्याओं को दूर करने के लिये कुल परम्परा से धरातल पर विशिष्ट पुण्यशाली महापुरुषों का जन्म होता है, जिन्हें जैन परम्परा में कुलकरों के नाम से जाना जाता है।

कुलकर व्यवस्था –

भोगभूमि के अंतिम चरण में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों के आर्य खण्डों की भूमि पर अत्यन्त युगान्तरकारी प्राकृतिक एवं जैविक परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों से अनभिज्ञ एवं

1. हरिवंश पुराण, 7/99-101
2. तिलोयपण्णत्ती, 4/396-395
3. हरिवंश पुराण, 7/102-104

भयभीत मानव जाति को, इन परिवर्तनों के अनुकूल सामंजित होने का उपदेश देने वाले कुछ महापुरुषों का जन्म तृतीय काल के अंत में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में होता है, जिन्हें जैन ग्रन्थों में मुख्यरूप से कुलकर कहकर पुकारा है, **हिन्दू पुराणों** में इनके लिये **मनु** शब्द का प्रयोग मिलता है। जैन शास्त्रों में कहा है कि जब चतुर्थ काल प्रारंभ होने में पल्य का आठवाँ भाग शेष रहता है, तब क्रम से 14 कुलकर उत्पन्न होते हैं।

सुषमादुषमा नामक तीसरा काल समाप्त होने में जब पल्य का आठवाँ भाग प्रमाण काल शेष रह गया तथा कल्पवृक्ष भी क्रम-क्रम से कम होने लगे तब इस भरत क्षेत्र की दक्षिण दिशा में गंगा और सिन्धु नदियों के बीच आर्यखण्ड में 14 **कुलकरों** की उत्पत्ति हुई।[1] ये प्रजा के जीवन जीने के उपाय का मनन करने अर्थात् जानने से **मनु** तथा आर्य पुरुषों के कुलों की रचना करने से **कुलकर** कहलाते हैं, इन्होंने अनेक वंश (कुल) स्थापित किये थे, अतः कुलों को धारण करने से **कुलधर** हैं तथा युग के आदि में होने से ये **युगादिपुरुष** भी कहे जाते हैं।[2] आचार्य यतिवृषभ[3] कहते हैं - ये सब कुलों के धारण करने से **कुलधर** नाम से और कुलों के करने में कुशल होने से **कुलकर** नाम से भी लोक में प्रसिद्ध हैं। वे इनकी मनुसंज्ञा की सार्थकता बताते हुये कहते हैं - ये अपने अवधिज्ञान एवं जातिस्मरण ज्ञान से भोगभूमिज मनुष्यों को जीवन के उपाय बताते हैं, इसलिये मुनीन्द्रों द्वारा मनु कहे जाते हैं।[4] स्थानांग सूत्र की वृत्ति में आचार्य अभयदेव[5] ने लिखा है कि कुल की व्यवस्था का संचालन करने वाला प्रकृष्ट प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति **कुलकर** कहलाता था।

चौदह कुलकरों के नाम त्रिलोकसार[6] एवं आदिपुराण[7] के अनुसार इसप्रकार हैं - प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमन्धर, सीमंकर, सीमन्धर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित्, नाभिराय।

---

1. हरिवंशपुराण, 7/122-124
2. (1) आदिपुराण, 3/211-212 (2) लोकविभाग, 5/120-121
3. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 516
4. वहीं, 4/515
5. स्थानांगवृत्ति, 767/518/1 (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र, प्रस्तावना, पृ. 28 से साभार)
6. त्रिलोकसार, गाथा-792-793
7. आदिपुराण, 3/229 से 232

त्रिलोकसार[1] एवं जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र[2] में नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव को पन्द्रहवाँ कुलकर बताया है। लोकविभाग[3] एवं आदिपुराण[4] में नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव एवं उनके पुत्र भरत को भी क्रमश: पन्द्रहवें एवं सोलहवें कुलकर के रूप में स्वीकार किया है, इन सभी **कुलकरों** के लिये आदिपुराण में **मनु** शब्द का प्रयोग भी किया गया है।

ये सभी कुलकर पूर्वभव में विदेह क्षेत्रों में उच्चकुलीन महापुरुष थे, वहाँ पर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पहले ही भोगभूमि की आयु बाँधकर तीसरे काल में भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुये।[5] इन 14 कुलकरों में से कितने ही कुलकरों को जातिस्मरण था और कितने ही अवधिज्ञान के धारक थे।[6] अतः अपने विशिष्ट ज्ञान की सामर्थ्य से प्रजा की विभिन्न समस्याओं का समाधान किया करते थे।

भोगभूमि में सदैव कल्पवृक्षों का प्रकाश रहता था; अतः सूर्यचन्द्रादि विमान दिखाई नहीं देते थे। अब कल्पवृक्ष समाप्त हो जाने से वे सूर्यचन्द्रादि दिखाई देने लगे, उन्हें देखकर लोगों को भयंकर भय उत्पन्न हुआ। भोगभूमि में पुत्र-पुत्री का जन्म होते ही माता-पिता का मरण हो जाता था, वे लोग बच्चों का मुख नहीं देख पाते थे, अब बच्चों का मुख देखकर डरने लगे - इसप्रकार की अनेक समस्याएँ भोगभूमि के समापन के समय उत्पन्न होने लगती हैं, जिनका समुचित समाधान कुलकरों के माध्यम से किया जाता है।

उस समय अपराधी को यदि इतना कह दिया जाता था कि **'हा'** अर्थात् ये क्या किया? बस इतना शब्द मात्र अपराधी के लिये सजा का कार्य करता था। इससे बड़ी सजा के रूप में मकार दण्ड व्यवस्था प्रचलित हुई। जिसमें अपराधी को 'हा' के अतिरिक्त 'मा' कहा जाता था। **'मा'** अर्थात् अब मत करना। सबसे बड़ी सजा थी **'धिक्'** अर्थात् धिक्कार है। इसप्रकार कुलकरों के समय हकार, मकार और धिक्कार (हा-मा-धिक्) - ये तीन नीतियाँ दण्ड के रूप में प्रचलित हुईं। ज्यों-ज्यों काल व्यतीत होता चला गया, त्यों-त्यों मानव के अन्तर्मानस में परिवर्तन होता गया और अधिकाधिक कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई।

---

1. त्रिलोकसार, गाथा-793
2. इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जित्था - जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र/2/35/पृ. 54
3. लोकविभाग, 5/122
4. वृषभो भरतेशश्च तीर्थचक्रभृतौ मनू। - आदिपुराण, 3/232
5. आदिपुराण, 3/207-209
6. वहीं, 3/210

कुल परम्परा से हुये चौदह कुलकरों के सामने उपस्थित विविध प्रकार की समस्याओं/परिस्थितियों और उनके उपदेश द्वारा दिये गये विशिष्ट समाधान को तिलोयपण्णत्ती[1] में 83 गाथाओं में, हरिवंशपुराण[2] में 46 श्लोकों में तथा आदिपुराण[3] में लगभग 100 श्लोकों में बहुत विस्तार से बताया है, यहाँ उस सम्पूर्ण विषय-वस्तु को **संक्षिप्त तालिका** के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

क्रम	नाम	समस्या / परिस्थिति	उपदेश / समाधान
1.	प्रतिश्रुति	आकाश में चन्द्र-सूर्य को देखकर प्रजा भयभीत थी।	ये चन्द्र-सूर्य नित्य ही हैं, तेजांग जाति के कल्पवृक्षों का तेज मंद पड़ने से अब प्रगट हुये हैं, इसप्रकार सूर्य-चन्द्र का परिचय देकर प्रजा का भय दूर किया।
2.	सन्मति	सूर्य के अस्त होने पर अंधकार और तारा पंक्तियों को देखने से प्रजा में उत्पन्न भय।	तेजांग कल्पवृक्ष सर्वथा नष्ट हो चुके हैं, ऐसा ज्ञान कराकर अंधकार और तारागणों का परिचय देकर भय दूर किया।
3.	क्षेमंकर	व्याघ्रादि तिर्यंचों के क्रूर परिणामों को देखकर प्रजा में भय व व्याकुलता।	काल के विकार से ये तिर्यंच क्रूरता को प्राप्त हुये हैं, अतः अब इनका विश्वास कदापि नहीं करना, ऐसा दिव्य उपदेश दिया।
4.	क्षेमन्धर	क्रूरता को प्राप्त सिंहादि तिर्यंचों द्वारा मनुष्यों का भक्षण ।	उन क्रूर तिर्यंचों से अपनी सुरक्षा के उपायभूत दण्डादि रखने का उपदेश दिया ।
5.	सीमंकर	कल्पवृक्ष अल्प फलवाले हुये, मनुष्यों में लोभ की वृद्धि होने से उनके स्वामित्व में परस्पर झगड़ा ।	कल्पवृक्षों की सीमाओं के निर्धारण द्वारा पारस्परिक संघर्ष पर रोक ।
6.	सीमन्धर	कल्पवृक्षों की अत्यन्त हानि के कारण कलह में वृद्धि।	कल्पवृक्षों को चिह्नित करके उनके स्वामित्व का विभाजन।
7.	विमलवाहन	गमनागमन में बाधा/पीड़ा का अनुभव।	हाथी, घोड़ा आदि की सवारी तथा वाहनों के प्रयोग का उपदेश ।
8.	चक्षुष्मान्	अबतक सन्तान का मुख देखने से पूर्व ही माता-पिता का मरण हो जाता था, पर अब सन्तान का मुख देखने के बाद मरण होने लगा,अतः अपने ही बालकों को देखकर भयभीत होना ।	सन्तान का परिचय देकर भय दूर किया।

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/428-510 2. हरिवंश पुराण, 7/125 से 170 3. आदिपुराण, 3/55-151, 164

क्रम	नाम	समस्या / परिस्थिति	उपदेश / समाधान
9.	यशस्वी	भोगभूमिज युगल बालकों का नाम रखने तक जीवित रहने लगे।	बालकों के नामकरण की शिक्षा।
10.	अभिचन्द्र	माता-पिता बालकों का बोलना व खेलना देखने तक जीवित रहने लगे।	शिशुओं का रुदन रोकने हेतु उपदेश तथा उन्हें बोलना एवं खेलना सिखाने की शिक्षा।
11.	चन्द्राभ	शीत बढ़ गई, तुषार छाने लगा तथा अतिवायु चलने लगी थी।	सूर्य की किरणों से शीत निवारण की शिक्षा तथा कर्मभूमि की निकटता का ज्ञान।
12.	मरुदेव	मेघ, वर्षा, बिजली, नदी, पर्वत आदि के दर्शन।	नौका, छाता आदि के प्रयोग का उपदेश तथा पर्वत पर सीढ़ियाँ बनाने की शिक्षा।
13.	प्रसेनजित्	वर्तिपटल (जरायु) से वेष्टित युगल शिशु का जन्म देखकर माता-पिता भयभीत।	वर्तिपटल (जरायु) दूर करने का उपदेश।
14.	नाभिराय	बालकों का नाभिनाल अत्यन्त लम्बा होने लगा तथा कल्पवृक्षों का अत्यन्त अभाव हो गया। पृथ्वी पर औषधि, धान्य व फलों की उत्पत्ति होने लगी।	नाभिनाल काटने का एवं आजीविका के उपाय का उपदेश औषधियों व धान्य आदि की पहिचान तथा उनके प्रयोग की शिक्षा।

अवसर्पिणी के अंतिम तीन काल (कर्मभूमि) –

जिस भूमि में असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प, वाणिज्य आदि कर्म की प्रधानता हो, वह **कर्मभूमि** है। इसके अन्तर्गत जिन दुःषमादि तीन काल विभागों की गणना की जाती है, वे विभाग कृषि आदि षट्कर्म प्रधान होने के कारण कर्मभूमि के नाम से अभिहित किये जाते हैं।

जैन परम्परानुसार वर्तमान कल्पार्द्ध में कर्मभूमि की व्यवस्था के आद्य संस्थापक राजा ऋषभदेव थे। उन्होंने ही जीविकोपार्जन के लिये भारतवासियों को सर्वप्रथम षट्कर्मों का उपदेश दिया था। अंतिम कुलकर नाभिराय के पुत्र प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एवं उनके पुत्र प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरत भी सुषमा-दुषमा नामक तीसरे काल के अंत में ही उत्पन्न हुये। इसी काल में ऋषभदेव का निर्वाण भी हो गया। यद्यपि तृतीय काल भोगभूमि का काल है, तथापि हुण्डावसर्पिणी के दोष से इस काल के अंतिम चरणों में ही कर्मभूमि का प्रारंभ हो गया था।

अवसर्पिणी का चतुर्थ काल (दुषमा-सुषमा)

अवसर्पिणी काल के प्रारंभ से 9 कोड़ाकोड़ी सागर तक चलता हुआ भोगभूमि का काल समाप्त होने के पश्चात् 1 कोड़ाकोड़ी सागर में 42,000 वर्ष कम प्रमाण वाला दुषमा-सुषमा नामक चौथा काल प्रारंभ होता है। यह काल ऋषभदेव के निर्वाण जाने के 3 वर्ष, 8 माह 15 दिन पश्चात् प्रारंभ हुआ।[1]

इस काल में कल्पवृक्षों का पूर्णतः अभाव होता है और उनके स्थान पर नाना प्रकार की वनस्पतियाँ स्वयमेव उगने लगती हैं। पहले तो मानव जीवन इन्हीं पर आधारित रहा, किन्तु धीरे-धीरे जब इनका भी अभाव होने लगा तब मानव ने कृषि आदि श्रमपूर्ण कार्यों से अपनी आवश्यकतानुसार उनका उत्पादन आदि प्रारम्भ कर दिया। कृषि आदि षट् कर्मों की मुख्यता से ही इस काल को कर्मभूमि का काल कहा गया है।

इस काल के प्रारंभ में उत्कृष्ट आयु 1 कोटि पूर्व की होती है, शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना (ऊँचाई) 525 धनुष तथा पृष्ठ भाग की हड्डियाँ अड़तालीस होती हैं।[2] लोकविभाग में इनकी उत्कृष्ट ऊँचाई 500 धनुष बताई है।[3] इनकी उत्कृष्ट आयु लगभग एक कोड़ाकोड़ी सागर काल तक क्रमशः घटते-घटते अन्त में 120 वर्ष रह जाती है। कर्म भूमि के सभी मनुष्य, तिर्यंचों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त होती है।[4]

तिरेसठ शलाका पुरुष -

इस चतुर्थ काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में पुण्योदय से मनुष्यों में श्रेष्ठ और सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध 63 शलाका पुरुष - 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलभद्र, 9 नारायण और 9 प्रतिनारायण उत्पन्न होते हैं।[5] ये सभी पदवियाँ सम्यग्दृष्टि जीवों को ही प्राप्त होती हैं। पश्चात् इनमें से नरक जाने वालों के सम्यक्त्व छूट जाता है; किन्तु वे भी भविष्य में कभी न कभी पुनः सम्यक्त्व लेकर मोक्ष अवश्य जाते हैं।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/1287 - युग का प्रारम्भ श्रावण कृष्ण प्रतिपदा (एकम्) से होता है, अतः 8 माह 15 दिन की बात आगम के गहन अध्येताओं के लिये विचारणीय है।
2. तिलोयपण्णत्ती, 4/1288
3. लोकविभाग, 5/143
4. त्रिलोकसार, गाथा-330
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/517-518 (2) लोकविभाग, 5/142

तीर्थंकर – जो धर्मतीर्थ का उपदेश देते हैं, समवशरण आदि विभूतियों से युक्त होते हैं और जिनके तीर्थंकर नामकर्म[1] नाम का महापुण्य का उदय होता है, उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। चार घातिया कर्मों का अभाव होने से इनकी अरिहंत संज्ञा है। इनके जीवन में सर्वोत्कृष्ट पुण्योदय दिखाई देता है; इसलिये आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने इनके लिये **पुण्णफला अरहंता**[2] शब्द का प्रयोग किया है।

प्रत्येक उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल में 24 तीर्थंकर होते हैं। ये सभी जैन धर्म के प्रवर्तक हैं, सिद्धांतों को बताने वाले हैं; बनाने वाले नहीं हैं। ये प्राणी मात्र को समान बताकर सबके प्रति समभाव का उपदेश देते हैं। आचार्य प्रभाचन्द्र, तीर्थंकर का स्वरूप स्पष्ट करते हुये लिखते हैं –

'तीर्थकृतः संसारोत्तरणहेतुभूतत्वात्तीर्थमिव तीर्थमागमः तत्कृतवतः।'[3] अर्थात् संसार से तारने के कारणभूत हो, तीर्थ है; ऐसा तीर्थ आगम है, उसके कर्त्ता तीर्थंकर हैं। धर्मतीर्थ को चलाने वाले होने से ये तीर्थंकर कहलाते हैं। इनकी बहुत बड़ी धर्मसभा होती है, जिसे समवशरण के नाम से जाना जाता है।

आचार्य यतिवृषभ[4] कहते हैं – इसमें पूर्वादि प्रदक्षिणा रूप से 12 कोठे (सभा) होते हैं। जिनमें उनके प्रमुख शिष्य गणधर एवं मुनिराज, चार प्रकार के देव, चार प्रकार की देवियाँ, आर्यिका व स्त्रियाँ, पुरुष एवं तिर्यंच बैठकर धर्मोपदेश का लाभ प्राप्त करते हैं। तिर्यंच गति के हाथी, सिंह, व्याघ्र और हिरणादि भी परस्पर बैर को छोड़कर समवशरण में मैत्री भाव से बैठते हैं।

हम भी अनन्त बार समवशरण में गये, तीर्थंकर परमात्मा की वाणी भी सुनी, उनकी महिमा भी आई; किन्तु फिर भी अपने निज ज्ञायक की महिमा एवं उसका अवलम्बन न होने से संसार-समुद्र से पार होने की राह न मिल सकी।

चक्रवर्ती – प्रत्येक चतुर्थ काल में 12 चक्रवर्ती होते हैं। वर्तमान चतुर्थ काल में भरत क्षेत्र में भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, सुभौम, पद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त – ये 12 चक्रवर्ती[5] छह खण्डरूप पृथ्वीमंडल को जीतने वाले परमप्रतापी पुरुष हुये हैं।

---

1. **तीर्थंकर नामकर्म** – ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों में नामकर्म की एक प्रकृति। इस कर्म के उदय में तीर्थंकरपना होता है।
2. प्रवचनसार, गाथा-45
3. समाधितंत्र, श्लोक-2 संस्कृत टीका
4. तिलोयपण्णत्ती, 4/865-872 का सार
5. वहीं, 4/522-523

इन सभी चक्रवर्तियों का वैभव तिलोयपण्णत्ती में 4/1382 से 1409 तक बहुत विस्तार से बताया है। इनके 96,000 रानियाँ, 84 लाख हाथी, 18 करोड़ घोड़े, कई करोड़ विद्याधर, 88,000 म्लेच्छ राजा, 32,000 मुकुटबद्ध राजा, इतनी ही नाट्यशालायें, इतनी ही संगीत शालायें, 14 रत्न, 9 निधियाँ, 32,000 अंगरक्षक देव, छत्र, 32 चँवर आदि होते हैं। इन समस्त दिव्य वैभव से युक्त होकर वे दशांग भोग भोगते हैं।

ध्यान रहे, चक्रवर्ती यदि राज्य भोग में मरें तो नियम से सातवें नरक में जाते हैं और यदि राज्य का त्याग कर मुनिव्रत अंगीकार करें तो ऊर्ध्वगामी/स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त होते हैं। ये सभी भोग हमें देखने/भोगने में तो बहुत अच्छे लगते हैं; किन्तु हैं बहुत खतरनाक। पंचेन्द्रिय विषय-भोगों को भोगना अथवा भोगने के परिणामों का फल तो अधोगति ही है; अतः सावधान रहकर इनसे विरक्त होने की भावना भाना चाहिये।

बलदेव, नारायण व प्रतिनारायण – वर्तमान अवसर्पिणी के चतुर्थ काल में तीर्थंकर एवं चक्रवर्तियों के समान ही विशिष्ट पुण्यशाली 9 बलदेव, 9 नारायण एवं 9 प्रतिनारायण हुये हैं। तिलोयपण्णत्ती[1] में उन सभी के नामों का उल्लेख निम्नानुसार मिलता है – विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दी, नन्दिमित्र, राम और पद्म – ये नौ **बलदेव** हुये हैं। त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, पुरुषदत्त, नारायण (लक्ष्मण) और कृष्ण – ये नौ नारायण (विष्णु) हैं तथा अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधुकैटभ, निशुंभ, बलि, प्रहरण, रावण और जरासंघ – ये नौ **प्रतिनारायण** (प्रतिशत्रु) हैं। इनके पर्यायान्तर के संबंध में आचार्य यतिवृषभ का मूल कथन निम्नानुसार है –

'उड्ढंगामी सव्वे बलदेवा केसवा अधोगामी'[2] अर्थात् सभी बलदेव नियम से ऊर्ध्वगामी (स्वर्ग या मोक्षगामी) होते हैं और सभी नारायण नियम से अधोगामी (नरक जाने वाले) होते हैं तथा **'तहेव पडिसत्तू'**[3] शब्द का प्रयोग कर वे प्रतिनारायण की भी नियम से अधोगति बताते हैं।

इनमें नारायण नियम से बलदेव के छोटे भाई होते हैं।[4] प्रतिनारायण तीन खण्ड का शासक होता है। जैन शास्त्रों[5] के अनुसार सभी प्रतिनारायणों की मृत्यु नारायणों के द्वारा ही

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/524-526 तथा 4/1423-1425
2. वहीं, 4/1448
3. वहीं, 4/1450
4. पद्मपुराण, भाग-1, 20/214
5. तिलोयपण्णत्ती, 4/1435

होती है। उसे मारकर ही नारायण तीन खण्डों का अधिपति होता है, उसे **अर्द्धचक्री** कहा जाता है। रावण प्रतिनारायण था, अतः उसका वध बलदेव राम ने नहीं, नारायण लक्ष्मण ने किया था। पद्मपुराण[1] में रावण एवं लक्ष्मण के युद्ध का विस्तृत वर्णन किया गया है।

उक्त सभी शलाका पुरुष कर्मभूमि में ही होते हैं; क्योंकि इनके जीवन में विशिष्ट कर्म का उदय होता है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी[2] कर्मभूमि ही उसे कहते हैं, जहाँ शुभ एवं अशुभ कर्मों का आश्रय हो। यद्यपि तीन लोक में सर्वत्र कर्म का आश्रय है, फिर भी इससे कर्मभूमि में उत्कृष्टता का ज्ञान होता है कि इनके प्रकर्ष रूप से कर्म का आश्रय है। सातवें नरक को प्राप्त करने वाले अशुभ कर्म का भरतादि क्षेत्रों में ही अर्जन किया जाता है। इसीप्रकार सर्वार्थसिद्धि आदि स्थान विशेष को प्राप्त करने वाले पुण्य कर्म का उपार्जन तथा पात्रदान आदि के साथ कृषि आदि छह प्रकार के कर्म का आरम्भ भी यहीं पर होता है, इसलिये भरतादि (भरत, ऐरावत, विदेह) की कर्मभूमि संज्ञा सार्थक है।

अवसर्पिणी का पंचम काल (दुषमा) –

भगवान महावीरस्वामी का निर्वाण होने के 3 वर्ष 8 माह 15 दिन पश्चात् पंचम काल का प्रारंभ हुआ।[3] यह काल 21,000 वर्ष प्रमाण है, इसके प्रारंभ में मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु 120 वर्ष, ऊँचाई 7 हाथ और पृष्ठ भाग की हड्डियाँ 24 कही गईं हैं।[4]

भगवान महावीर के निर्वाण के बाद भी इस पंचम काल के प्रारंभ में चतुर्थ काल के जन्मे अनेक लोगों ने मुक्ति प्राप्त की। भगवान महावीर के पश्चात् इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मस्वामी एवं जम्बूस्वामी – ये तीन अनुबद्ध केवली[5] हुये। इस युग में अंतिम मोक्ष जाने वालों में श्रीधर केवली का नाम मिलता है, वे कुण्डलपुर से मोक्ष गये।[6] केवलियों के पश्चात् द्वादशांग के ज्ञाता नन्दी, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन एवं भद्रबाहु नामक पाँच श्रुतकेवली हुये।[7] पाँचों श्रुतकेवली

---

1. पद्मपुराण, भाग – 3, 76/28-34 /पृ. 69
2. सर्वार्थसिद्धि, 3/37/437/पृ. 173
3. तिलोयपण्णत्ती, 4/1486
4. (1) वहीं, 4/1487 (2) लोकविभाग, 5/146 (पूर्वार्द्ध)
5. वहीं, 4/1488-89
6. 'कुंडलगिरिम्मि चरिमो, केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो।' – तिलोयपण्णत्ती, 4/1491
7. तिलोयपण्णत्ती, 4/1494

अभी वर्तमान में स्वर्ग में ही हैं, इनमें से कोई भी मुक्त नहीं हुये। अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी से प्रसिद्ध ऐतिहासिक सम्राट **चन्द्रगुप्त मौर्य** जिनदीक्षा अंगीकार करने वाले अंतिम मुकुटबद्ध शासक थे। भारतीय इतिहास में भी चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक आदि का उल्लेख तो मिलता है, परन्तु इनकी मृत्यु कहाँ/कैसे हुई, इस विषय में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।[1]

वीर निर्वाण के बाद 683 वर्ष तक अंग एवं पूर्वों के ज्ञाता मुनिराजों द्वारा श्रुत परम्परा चलती रही, आचार्य लोहार्य के पश्चात् कोई आचारांग के धारक नहीं हुये। किन्तु फिर भी आगे 20,317 वर्ष (21000 - 683) तक श्रुततीर्थ परम्परा हीयमानरूप से चलती रहेगी। तत्पश्चात् पंचम काल की समाप्ति पर श्रुत का व्युच्छेद हो जायेगा।[2] बीच-बीच में भी धर्म को विध्वंस करने की चेष्टा करने वाले कल्की एवं उपकल्की होते रहेंगे।

कल्की एवं उपकल्की -

जैनागम में कल्की नाम के राजा का उल्लेख जैन यतियों पर अत्याचार करने के लिये बहुत प्रसिद्ध है। तिलोयपण्णत्ती में इस पंचम काल में 21 कल्की एवं 21 उपकल्की होने का उल्लेख मिलता है। प्रत्येक कल्की 1000 वर्ष के अन्तराल से तथा उसके 500 वर्ष पश्चात् उपकल्की होता है।[3] वीरनिर्वाण के 1000 वर्ष पश्चात् इन्द्रपुर में कल्की उत्पन्न हुआ। इसका नाम चतुर्मुख, आयु 70 वर्ष एवं राज्यकाल 42 वर्ष रहा।[4] वह अपने राज्यकाल में अतिलोभी होकर मुनिराजों के आहार में से भी प्रथम ग्रास शुल्क स्वरूप मांगने लगा। मुनिराज अन्तराय जानकर निराहार चले जाते हैं। उनमें से किसी मुनि को अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

इस घटना को कोई असुरदेव अपने अवधिज्ञान से देखकर धर्मद्रोही कल्की को मार डालता है। उस कल्की का पुत्र अजितंजय अपनी पत्नी चेलका सहित 'रक्षा करो.. रक्षा करो.. कहकर' देव के चरणों में नमस्कार करता है, और वह देव उसकी रक्षा करके जिनधर्म की महिमा बताकर धर्मपूर्वक राज्य करने का उपदेश देता है। इसके पश्चात् कुछ वर्षों तक लोगों में धर्म की वृत्ति होती है, फिर वह पुन: हीन होती जाती है।[5] ऐसी ही परिस्थिति प्रत्येक कल्की एवं उपकल्की के काल में बनती है। प्रत्येक कल्की के प्रति दुषमा (पंचम) कालवर्ती एक-एक साधु को अवधिज्ञान होता है। उस समय चतुर्विध संघ भी अल्प रह जाता है।

---

1. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग-1, परिशिष्ट, पृ. 482 सारांश
2. तिलोयपण्णत्ती, 4/1504-1505 का सार
3. वहीं, 4/1528
4. वहीं, 4/1521 (त्रिलोकसार, गाथा-851 में राज्यकाल 40 वर्ष बताया है।)
5. तिलोयपण्णत्ती, 4/1523-1527 (त्रिलोकसार, गाथा-855 में कल्की पुत्र अजितंजय की पत्नी का नामोल्लेख तथा गाथा-856 में अजितंजय के सम्यग्दर्शन ग्रहण करने का उल्लेख भी किया है।)

इस पंचम काल के प्रारंभ से ही विविध वनस्पतियाँ नीरस हो जाती हैं। मनुष्य अपने कुलक्रम से प्राप्त शील, सत्य, बल, तेज तथा यथार्थ ज्ञान आदि गुणों से हीन पुरुषों की सेवा करते हैं, स्वयं मिथ्यात्व और मोह से ग्रस्त रहने के कारण मर्यादा और लज्जा से रहित हो जाते हैं। इस काल के मनुष्य विनय-विहीन, चिन्तायुक्त, दम्भ, मद, क्रोध, लोभ एवं निर्दयता की मूर्ति दिखते हैं। इस काल में जीव पाप करके आते हैं और पापाचरण करते हुये ही जीवनयापन करते हैं।[1]

कुछ जीवों को पूर्व पुण्योदय से कुदान आदि के फल में बाहरी अनुकूलतायें भी प्राप्त होती हुई दिखाई देती हैं, फिर भी चित्त तो अशान्त ही रहता है। कुछ लोगों को जिनवाणी के अवलम्बन से तत्त्वाभ्यास करते हुये किंचित् शान्ति का अनुभव होता है, उनकी संख्या अत्यल्प है, वे विरले हैं।

इस पंचम काल में संयम गुण से विशिष्ट मनुष्यों का अभाव होने के कारण यहाँ चारण ऋद्धिधारी मुनि, देव (वैमानिक) और विद्याधर भी नहीं आते।[2]

अंतिम कल्की –

अभी वर्तमान में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में पंचम काल चल रहा है, धीरे-धीरे यहाँ धर्म, आयु और ऊँचाई आदि कम होते जायेंगे, पश्चात् पंचम काल के अन्त में जलमन्थन नामक इक्कीसवाँ कल्की उत्पन्न होगा। उसी समय इन्द्रराज नामक अंतिम आचार्य के शिष्य वीरांगज नामक एक भावलिंगी मुनिराज, सर्वश्री नाम की आर्यिका, अग्निल और पंगुश्री नामक श्रावक युगल होंगे।

सर्वज्ञ कथित जिनागम में भविष्य की घटनाओं का नामोल्लेख सहित स्पष्ट निरूपण केवलज्ञान की विशिष्ट सामर्थ्य को बताता है। आगमों में प्रत्येक पंचम काल के अन्त में घटने वाली एक घटना का उल्लेख निम्नानुसार किया है –

एक दिन कल्की अपने मंत्री से कहता है कि मंत्रिवर! ऐसा कोई पुरुष तो नहीं है, जो मेरे वश में न हो। तब मंत्री कहता है कि राजन्! एक मुनि आपके वश में नहीं है। तब कल्की राजा की आज्ञा होती है कि तुम उस मुनि के आहार में प्रथम ग्रास को शुल्क के रूप में ग्रहण

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1530-1535 का सार (2) लोक विभाग, 5/147-148
2. तिलोयपण्णत्ती, 4/1537

करो। तत्पश्चात् कल्की की आज्ञा से प्रथम ग्रास माँगे जाने पर मुनीन्द्र तुरंत उसे देकर और अंतराय करके वापस चले जाते हैं और अवधिज्ञान को प्राप्त होकर उसी समय आर्यिका, श्रावक-श्राविका को बुलाकर प्रसन्नचित्त से कहते हैं कि अब दुषमा काल का अंत आ चुका है, तुम्हारी और हमारी तीन दिन की आयु शेष है और यह अंतिम कल्की है।

तब चारों जन, चार प्रकार के आहार आदि का त्याग कर देते हैं और कार्तिक कृष्ण अमावस्या के दिन सूर्य के स्वाति नक्षत्र में रहते समाधि मरण पूर्वक देह त्याग कर **सौधर्म स्वर्ग** में उत्पन्न होते हैं। मुनिराज एक सागरोपम की आयु लेकर तथा अन्य तीनों पल्योपम से कुछ अधिक आयु लेकर जन्मते हैं। इसप्रकार इसी दिन प्रातःकाल से चतुर्विध संघ रूप धर्म का अंत हो जाता है।

उसी दिन मध्याह्न में असुरकुमार जाति का कोई देव कल्की राजा को मार डालता है। सूर्यास्त के समय से अग्नि भी नष्ट हो जाती है। सभी कल्की और उपकल्की धर्म विद्रोह के कारण एक सागरोपम की आयु लेकर प्रथम नरक पृथ्वी पर जन्म लेते हैं।[1]

अवसर्पिणी का छठा काल (अतिदुषमा) –

अंतिम कल्की की मृत्यु के 3 वर्ष 8 माह 15 दिन पश्चात् अतिदुषमा नामक छठा काल प्रारंभ होता है। यह भी 21,000 वर्ष का होता है। इसके **प्रारंभ में** मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई तीन अथवा साढ़े तीन हाथ, पृष्ठ भाग की हड्डियाँ बारह और उत्कृष्ट आयु बीस वर्ष प्रमाण होती है। अवसर्पिणी काल के प्रभाव से इसमें क्रमशः ह्रास होते हुये छठे काल के **अन्त में** मनुष्यों की ऊँचाई मात्र एक हाथ प्रमाण तथा उत्कृष्ट आयु 15-16 वर्ष मात्र रह जाती है।[2]

इस काल में जन्मे जीवों का जीवन अत्यन्त दुःखमय बीतता है। इस काल में अग्नि न होने के कारण जीवों को कच्चा भोजन ही करना पड़ता है। धान्य आदि का उत्पादन बन्द हो जाने से वृक्षादि की मूल और मछली आदि ही उनका मुख्य आहार हो जाता है। इस काल के सभी जीव मांसाहारी होते हैं। ये मनुष्य मकान और वस्त्रों से रहित जंगलों में घूमते रहते हैं। पाप उदय से गूंगे, बहरे, अंधे, काणे, क्रूर, दरिद्री, काले, नंगे, कुबड़े, हुण्डकसंस्थान वाले, अनेक प्रकार के रोगों से ग्रसित, दुर्गंधित शरीर युक्त, पापिष्ठ, परिवाररहित, पशुओं के समान आचरण करने वाले होते हैं। आचार्य यतिवृषभ कहते हैं –

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/1541-1555 (सारांश)
   (अंतिम कल्की एवं अंतिम आचार्य का नाम त्रिलोकसार, गाथा-857-858 में है।)
2. तिलोयपण्णत्ती, 4/1557, 1575

दुक्खाण ताण कहिदुं, को सक्कइ एक्क जीहाए।[1]

अर्थात् उनके दुःखों को एक जिह्वा से कहने में कौन समर्थ है? कोई नहीं।

पाप के फल में ऐसे काल में जन्म होता है और यहाँ रहकर भी निरन्तर पाप करने से पुनः अधोगति की प्राप्ति होती है। इस संदर्भ में तिलोयपण्णत्ती में यह नियम बताया है कि – इस काल में जन्मे सभी जीव नियम से नरक–तिर्यंच गति से ही आते हैं और मरकर भी नरक–तिर्यंच गति में ही जाते हैं।[2]

कल्पान्त काल (प्रलय) –

कल्पकाल का प्रारंभ उत्सर्पिणी से होता है तथा अवसर्पिणी के छठे काल की समाप्ति के साथ ही कल्पकाल भी समाप्त हो जाता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी को मिलाकर एक कल्पकाल होता है। कल्पकाल समाप्त होने में जब 49 दिन शेष बचते हैं, तब यहाँ के सर्व–प्राणियों में भयोत्पादक प्रलय काल[3] प्रारंभ होता है। सर्वप्रथम महागम्भीर, भीषण तूफान प्रारंभ होता है, जो वृक्षों एवं पर्वतों को चूर्ण कर देता है। आचार्य मानतुंगस्वामी कहते हैं कि **कल्पान्तकाल मरुता चलिताचलेन**[4] अर्थात् ये कल्पान्त काल की हवायें अचल (पर्वत) को भी चलित कर देती हैं। ऐसे भयंकर तूफान के समय सभी प्राणी महादुःखी होते हुये सुरक्षा के लिये शरण खोजते रहते हैं, किन्तु उनमें से पृथक्–पृथक् संख्यात एवं सम्पूर्ण 72 युगल[5] ही गंगा–सिन्धु नदियों की वेदी और विजयार्द्ध वन के मध्य गुफाओं आदि में सुरक्षा पाते हैं। इन्हीं स्थानों पर दयालु देवों और विद्याधरों[6] द्वारा भी संख्यात मनुष्य एवं तिर्यंचों को सुरक्षित पहुँचा दिया जाता है।

49 दिन तक चलने वाले इस प्रलय के दौर में भयंकर गर्जना युक्त मेघों द्वारा सात–सात दिन तक निरन्तर क्रमशः बर्फ, क्षारजल, विषजल, धूम्र, धूलि, वज्र और अग्नि की वर्षा होती है, इससे भरत क्षेत्र के आर्य खण्ड में चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित **एक योजन वृद्धिंगत भूमि** जलकर नष्ट हो जाती है।[7]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/1564 (उत्तरार्द्ध)
2. वहीं, 4/1563
3. वहीं, 4/1565
4. भक्तामर स्तोत्र, श्लोक–15
5. (1) 'पुहपुह संखेज्जाइं, बाहत्तरि सयल जुयलाई '–तिलोयपण्णत्ती, 4/1568 (2) लोकविभाग, 5/160
6. 'देवा विज्जाहरया, कारुण्णपरा णराण तिरियाणं' –तिलोयपण्णत्ती, 4/1569
7. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1570–1573 का सार (2) लोक विभाग, 5/161–163

आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा मान्य वर्तमान उपलब्ध दुनिया को जैन मान्यतानुसार आर्यखण्ड की इस वृद्धिंगत भूमि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यह एक योजन अर्थात् लगभग 6000 किलोमीटर मध्य से ऊपर उठी हुई भूमि प्रलय के पश्चात् छठे काल के अन्त में पुनः समतल हो जायेगी।

तिलोयपण्णत्ती में इस वृद्धिंगत भूमि के जलकर नष्ट होकर पुनः समतल होने की बात तो कही है, परन्तु यह भूमि कब और कैसे वृद्धिंगत हुई, इसके कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सके हैं। यह अभी भी शोध का विषय है। **तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक** 4/13 पृष्ठ 563 में लिखा है कि काल के वश से घट-बढ़ होकर पृथ्वी में ऊँचा-नीचापना देखा जाता है। तिलोयपण्णत्ती के प्रमाण अनुसार भी यह तो निश्चित ही है कि आर्यखण्ड की भूमि एक योजन वृद्धिंगत हुई है। यह उठा हुआ भू-भाग ही आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा मान्य पृथ्वी (ग्लोब) है।

हुण्डावसर्पिणी काल –

असंख्यात[1] अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी काल की शलाकाएँ बीत जाने पर प्रसिद्ध एक अपवादस्वरूप हुण्डावसर्पिणी काल आता है। इसमें होने वाली अनेक विचित्रताओं की चर्चा तिलोयपण्णत्ती[2] आदि ग्रन्थों में की है, उनका संक्षिप्त सार इसप्रकार है –

(1) सुषमा-दुषमा नामक भोगभूमि के तृतीय काल में ही वर्षा होना तथा विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होने लग जाना।

(2) जघन्य भोगभूमि में ही कल्पवृक्षों का अंत, कर्मभूमि का प्रारंभ तथा प्रथम तीर्थंकर एवं चक्रवर्ती का भी उत्पन्न हो जाना।

(3) सुषमा-दुषमा काल में ही जीवों का मोक्षगमन प्रारम्भ।

(4) चक्रवर्ती की विजय (मान) भंग होना और उसके द्वारा ब्राह्मण वर्णोत्पत्ति।

(5) शलाका पुरुषों की 63 संख्या में कमी होना।

(6) 9वें से 16वें तीर्थंकरों के बीच धर्म की व्युच्छित्ति होना।

(7) ग्यारह रूद्र और कलह प्रिय नौ नारद उत्पन्न होना।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/1637
2. वहीं, 4/1637-1645

(8) सातवें, तेईसवें एवं अंतिम तीर्थंकर पर उपसर्ग होना।

(9) तीसरे, चौथे एवं पंचम काल में उत्तम धर्म को नष्ट करने वाले विविध प्रकार के दुष्ट, पापिष्ठ, कुदेव और कुलिंगी भी दिखने लगते हैं।

(10) चाण्डाल, शबर, पुलिंद, किरात इत्यादि हीन जातियाँ उत्पन्न होती हैं।

(11) दुषमा नामक काल में 21 कल्की एवं 21 उपकल्की होते हैं।

(12) अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूवृद्धि और वज्राग्नि आदि का गिरना।

प्रत्येक अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी में होने वाले तीर्थंकरों का जन्म नियम से अयोध्या में ही होता है तथा सभी तीर्थंकर नियम से सम्मेदशिखर से ही मुक्ति प्राप्त करते हैं,[1] किन्तु हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव से वर्तमान में 5 ही तीर्थंकर अयोध्या में जन्मे तथा सम्मेदशिखर से भी 20 ही तीर्थंकरों ने निर्वाण की प्राप्ति की। कुछ लोग प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्री होने के पीछे भी काल का ही प्रभाव मानते हैं।

इसप्रकार अनेक प्रकार की विविधतायें, विचित्रतायें, दोष अथवा अपवाद इस हुण्डावसर्पिणी काल में होते हैं।

उत्सर्पिणी के छह काल –

प्राणियों को प्राप्त अनुकूलताओं के ह्रासरूप अवसर्पिणी के छह काल व्यतीत हो जाने के पश्चात् इससे विपरीत क्रम में उत्सर्पिणी काल का प्रारंभ होता है। इसके छह काल अवसर्पिणी से विपरीत क्रम में हैं तथा परिस्थितियाँ भी उसी अनुसार होती हैं। अवसर्पिणी के प्रारंभिक तीन काल भोगभूमि के तथा अंतिम तीन काल कर्मभूमि के होते हैं। जबकि उत्सर्पिणी के प्रारंभिक तीन काल कर्मभूमि के तथा अंतिम तीन काल भोगभूमि के हैं। अवसर्पिणी काल के अंत में 49 दिन तक कुवृष्टियों के माध्यम से सृष्टि में प्रलय होती है तथा उत्सर्पिणी काल में प्रारंभिक 49 दिन तक सुवृष्टियों के माध्यम से पुनः सृष्टि रचना प्रारंभ होती है। यहाँ सात-सात दिन तक पुष्कर, क्षीर, अमृत, रस, औषधि, सुगंध जलादि की वर्षा होने से वज्राग्नि से जली हुई सम्पूर्ण पृथ्वी शीतल हो जाती है।[2]

---

1. शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर, पृ. 9
2. लोकविभाग, 5/167-169

शीतल गंध को ग्रहण कर गुफाओं में छिपे हुये मनुष्य और तिर्यंच बाहर निकलने लगते हैं।[1] अभी इस काल में यहाँ अग्नि नहीं है, अतः उनका खान-पान, रहन-सहन, आचरण आदि सब पशुओं जैसा ही होता है। फिर धीरे-धीरे आयु, तेज, बुद्धि, बाहुबल, क्षमा, धैर्य आदि की वृद्धि होते हुये 21 हजार वर्ष का **दुषमा-दुषमा** काल और उसके बाद जब आगामी दुषमा काल के भी 20 हजार वर्ष व्यतीत होते हैं, तब तक मनुष्यों का आहारादि उसी प्रकार चलता रहता है।

उत्सर्पिणी काल में कुलकर –

जब **दुषमा-सुषमा** काल प्रारंभ होने में 1000 वर्ष शेष रहते हैं, तब इन भरत/ऐरावत क्षेत्रों की पृथ्वी पर पुनः 14 कुलकर उत्पन्न होते हैं।[2] आचार्य नेमिचन्द्र[3] चौदह के स्थान पर सोलह कुलकरों का उल्लेख करते हैं, वहाँ पद्म तथा महापद्म - ये दो नाम अधिक हैं। ये सभी कुलकर जगत के प्राणियों को अग्नि को उत्पन्न करना, भोजन पकाकर खाना, विवाह करना, बन्धु परिवार आदि के साथ शिष्टाचारपूर्वक रहना आदि बातों को शिक्षक की भाँति समझाते हैं।

उत्सर्पिणी काल में भी 24 तीर्थंकर होते हैं। अंतिम कुलकर के पुत्र प्रथम तीर्थंकर होते हैं।[4] तीर्थंकर हमेशा दुषमा- सुषमा काल में ही होते हैं, **यह अवसर्पिणी की अपेक्षा चौथा काल एवं उत्सर्पिणी की अपेक्षा तीसरा काल कहलाता है।**

उत्सर्पिणी में होने वाले 24 तीर्थंकरों के नाम एवं उनके किस भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंधन हो चुका है अथवा किस भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंधन होगा - इसका भी नामोल्लेख सहित विवेचन जैन आगमों में उपलब्ध है। आचार्य यतिवृषभ[5] एवं आचार्य नेमीचन्द्र[6] के अनुसार आगामी चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर होने वाले **महापद्म** ने **राजा श्रेणिक** के भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। **श्रीकृष्ण** का जीव **निर्मल** नाम से 16वाँ तीर्थंकर तथा सात्यकीपुत्र (स्थाणु/ महादेव) अंतिम रुद्र का जीव अनन्तवीर्य के नाम से अंतिम तीर्थंकर होगा।

---

1. (1) 'ततो सीयलगंधं, णादित्ता णिस्सरंति णर तिरिया' - तिलोयपण्णत्ती, 4/1583 (2) लोकविभाग, 5/171
2. 'वास सहस्से सेसे उप्पत्ती कुलकराण भरहम्मि' - तिलोयपण्णत्ती, 4/1590
3. त्रिलोकसार, गाथा-871
4. 'पढम जिणो, अंतिल्ल कुलकर सुदो...' - तिलोयपण्णत्ती, 4/1599
5. 'तित्थयर णामकम्मं बंधंते ताण ते इमे णामा सेणिग....किण्हा...' - ति.प. 4/1605-1606
6. 'सेणियचर पढमतित्थयरो....किण्हचरणिम्मलओ...सच्चइपुत्तचरोऽणंतविरियंतो ।'

- त्रिलोकसार, गाथा-872 व 874, 875

इसप्रकार तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण एवं बलभद्रों के जन्म एवं कर्म सहित तृतीय काल पूर्ण होता है। **उत्सर्पिणी का चौथा काल प्रारंभ होते ही एक ही समय में विकलेन्द्रिय प्राणियों के समूह एवं कुलभेद नष्ट हो जाते हैं तथा प्रथम समय में कल्पवृक्षों की भी उत्पत्ति हो जाती है।**[1]

उत्सर्पिणी के चौथे काल में जघन्य भोगभूमि, पंचम काल में मध्यम भोगभूमि तथा छठे काल में उत्तम भोगभूमि के समान रचना होती है। इन भोगभूमियों की परिस्थितियाँ अवसर्पिणी के तीसरे, दूसरे एवं पहले काल के समान होती है, अन्तर मात्र इतना है कि उत्सर्पिणी उत्तरोत्तर वृद्धि का काल है, जबकि अवसर्पिणी ह्रास का काल है।

इसप्रकार उत्सर्पिणी के छह काल समाप्त होने पर पुनः अवसर्पिणी काल प्रारंभ होता है। यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक यही क्रम चलता रहेगा।

काल अपरिवर्तन वाले क्षेत्र –

इस लोक में बहुत-से क्षेत्र ऐसे हैं, जहाँ सदैव एक जैसा ही काल वर्तता है। षट् काल रूप परिवर्तन मात्र पाँच भरत एवं पाँच ऐरावत क्षेत्रों में ही होता है, वह भी उनके आर्यखण्डों में ही होता है; म्लेच्छ खण्डों में नहीं होता। तिलोयपण्णत्ती[2] एवं त्रिलोकसार[3] में पाँच म्लेच्छ खण्डों और विद्याधर श्रेणियों में अवसर्पिणी के चौथे काल के प्रारंभ से अंत तक हानि तथा उत्सर्पिणी के तीसरे काल के प्रारंभ से अंत तक वृद्धि होना बताया है।

भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों के अतिरिक्त सभी भूमियों में काल परिवर्तन का निषेध करते हुये उमास्वामी आचार्य लिखते हैं **ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिता:**[4] अर्थात् अन्य सभी भूमियाँ षट् काल परिवर्तन से रहित हैं।

देवकुरु[5]**-उत्तरकुरु**[6] में सदैव सुषमा-सुषमा (उत्तम भोग भूमि) नामक प्रथम काल जैसी रचना वर्तती है। **विदेह क्षेत्र** में सदैव दुषमा-सुषमा नामक चौथे काल के प्रारम्भ जैसी

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/1632
2. वहीं, 4/1629
3. त्रिलोकसार गाथा-883
4. तत्त्वार्थसूत्र, 3/28
5. तिलोयपण्णत्ती, 4/2170
6. वहीं, 4/2219

दशा रहती है। यहाँ कभी अतिवृष्टि-अनावृष्टि, अकाल आदि नहीं होता।[1] **हरि क्षेत्र**[2] एवं **रम्यक क्षेत्र** में सदैव सुषमा नामक दूसरे काल के समान मध्यम भोगभूमि की रचना रहती है, जो कि सदा हानि-वृद्धि से रहित है। तथा **हैमवत क्षेत्र**[3] एवं **हैरण्यवत क्षेत्र** में सदा सुषमा-दुषमा नामक तृतीय काल के समान जघन्य भोगभूमि वर्तती है। उक्त पहले से चौथे काल के नियमों को आचार्य नेमीचन्द्र[4] ने एक ही गाथा में प्रस्तुत कर दिया है। लोकविभाग[5] में निषध, नील आदि पर्वतों पर भी काल अपरिवर्तन बताया है।

मध्यलोक में ढाई द्वीप व अंतिम आधे द्वीप व समुद्र को छोड़कर शेष असंख्यात द्वीप-समुद्रों में जघन्य भोगभूमि (सुषमा-दुषमा काल) वर्तती है। अंतिम आधा स्वयंभूरमण द्वीप एवं अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र में कर्मभूमि है, वहाँ पंचम (दुषमा) काल जैसी स्थिति है।[6]

चतुर्गति में काल परिवर्तन के संबंध में आचार्य नेमीचन्द्र लिखते हैं- **'पढमो देवे चरिमो णिरए, तिरिए णरेवि छक्काला'**[7] अर्थात् **देवगति** में सदैव प्रथम (सुषमा-सुषमा) काल जैसा और नरक में सदैव छठे (दुषमा-दुषमा) काल जैसा वातावरण रहता है तथा **मनुष्य-तिर्यंचों** में छहों काल वर्तते हैं। कुभोगभूमि में तीसरा काल वर्तता है। जहाँ देव एवं नारकियों के प्रथम एवं छठे काल की बात कही, वहाँ अनुकूल/ प्रतिकूल परिस्थितियों की अपेक्षा ही बात समझना चाहिये; आयु आदि की अपेक्षा नहीं।

कुछ सहज जिज्ञासायें ?

विविध आगम प्रमाणों के आधार से काल के स्वरूप एवं उसके विविध प्रकार से भेद-प्रभेदों की चर्चा करने के उपरान्त भी इन विषयों को लेकर मन में कुछ जिज्ञासायें शेष रह जाती हैं, यहाँ उनका यथोचित समाधान करने का प्रयास किया जा रहा है।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/2277
2. वहीं, 4/1767
3. वहीं, 4/1726
4. त्रिलोकसार, गाथा-882
5. लोकविभाग, 5/35-38
6. हरिवंश पुराण, 5/732
7. त्रिलोकसार, गाथा-884

• वर्तमान में कौन–सा काल – उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी ?

जैन आगमों के अनुसार वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है।[1] यह काल ह्रास/गिरावट का काल होता है; परन्तु आज मानव जाति हर क्षेत्र में विकासोन्मुख ही नहीं, बल्कि विकासशील दिखाई देती है। ऐसी स्थिति में आगमानुसार वर्तमान काल ह्रास का काल (अवसर्पिणी) है – यह बात स्वीकार करना अथवा गले उतारना सहज नहीं है। इसे आज के भौतिकवादी युग में सिद्ध करना भी एक चुनौतीपूर्ण कार्य है।

अष्टापद रिसर्च इंटरनेशनल फाउण्डेशन द्वारा दिनांक 15–16 दिसम्बर, 2012 को अहमदाबाद में आयोजित सेमीनार में जब मैंने ''अवसर्पिणी काल और वर्तमान दुनिया'' विषय पर अपना शोध–पत्र प्रस्तुत किया तो वहाँ मौजूद नासा एवं इसरो से जुड़े अनेक वैज्ञानिकों ने वर्तमान काल को अवसर्पिणी मानने में आपत्ति व्यक्त की। पत्र–वाचन के उपरान्त अनेक सवाल–जवाब, तर्क–वितर्क हुये। **उनका कहना था** कि –

''वर्तमान में उत्सर्पिणी काल चल रहा है। वर्तमान काल ह्रास का नहीं; विकास का काल है। यह विज्ञान का युग है। नई–नई मशीनें, कैलकुलेटर, कम्प्यूटर, इंटरनेट इत्यादि की खोज मनुष्य की प्रगति की द्योतक हैं। आज से 100 वर्ष पहले लाइटें नहीं थीं। आवागमन के साधन सुलभ नहीं थे। मोबाइल, टेलीविजन, ए.सी आदि सुख–सुविधायें नहीं थीं। पहले के लोगों का रहन–सहन और आज के लोगों की जीवन–शैली में जमीन–आसमान का अंतर है, और यह अंतर विकास की ओर है; ह्रास की ओर नहीं।''

उक्त बातें बौद्धिक स्तर पर सही प्रतीत होने पर भी यदि श्रद्धा के स्तर पर बात की जाये तो आगम की सत्यार्थता पर शंका नहीं की जा सकती; वह हमारे लिये शिरोधार्य है; अतः इस दिशा में गहन चिंतन–मनन की जरूरत है।

आज विज्ञान का विकास हुआ दिखता है; परन्तु इनके द्वारा मनुष्य की शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का ह्रास ही हुआ है। आज कैलकुलेटर से हिसाब लगाना बहुत आसान हो गया है; पर हमारे दिमाग उतने ही कमजोर हो गये हैं; छोटे–छोटे हिसाब के लिये भी हम कैलकुलेटर तलाशते हैं। आज मनोरंजन के साधनों में टेलीविजन ने सर्वोच्च स्थान बना रखा है; पर इससे हमारे सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन का ह्रास ही हुआ है।

---

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ–10

वाशिंग मशीन, मिक्सी आदि अनेक आधुनिक उपकरणों द्वारा घर के कार्यों में यद्यपि सुविधा हो गई है; परन्तु इनके प्रयोग से हाथों से काम करने की क्षमता ही कम हुई है। आज शारीरिक संहनन/बल बहुत क्षीण हो गया है, हड्डियाँ काँच के समान हो गई हैं। यह सब ह्रास ही तो है।

मोबाइल, कम्प्यूटर एवं इंटरनेट यद्यपि आज के समय में बहुत उपयोगी हैं, इनसे कार्य आसान हो गये हैं; पर क्या इनके बिना हम अपने आप को अपाहिज महसूस नहीं करते?

विज्ञान द्वारा जो विकास दिखाई देता है, कहीं यह विकास विनाश की दस्तक तो नहीं है? मार्च 2011 में रेडियेशन की वजह से जापान में हुई तबाही किससे छिपी है।

वस्तुतः अवसर्पिणी काल के सन्दर्भ में ह्रास से तात्पर्य आयु, शरीर का उत्सेध (ऊँचाई), बाहुबल, धर्म, ज्ञान, गाम्भीर्य, धैर्य इत्यादि के ह्रास से है। मात्र भौतिक विकास उन्नति का सूचक नहीं है। वर्तमान में शारीरिक सामर्थ्य आदि की कमी के साथ-साथ नैतिक मूल्यों का भी ह्रास होता जा रहा है। समाज का नैतिक एवं चारित्रिक पतन भी वर्तमान में अवसर्पिणी काल को ही सिद्ध करता है।

इसप्रकार अनेक युक्तियों से वर्तमान काल का अवसर्पिणीपना सिद्ध करने के बावजूद भी तर्कशील युवा वर्ग इसे हृदय से स्वीकार नहीं करता। वह कहता है -

● **आप कुछ भी कहो, हमें तो वर्तमान में सर्वत्र विकास ही होता दिखाई देता है? न केवल भौतिक; अपितु धर्म क्षेत्र में भी विकास कम नहीं हो रहा है। वर्तमान में गाँव-गाँव में शिविर लग रहे हैं। प्रतिवर्ष सैंकड़ों विद्वान् तैयार हो रहे हैं। आध्यात्मिक गोष्ठियाँ, पंचकल्याणक जिनमंदिर निर्माण आदि सभी में पिछली शताब्दियों की तुलना में वर्तमान में बहुत वृद्धि हुई है। इस संदर्भ में आपका क्या मानना है?**

भाई ! बात तो ठीक है; परन्तु यह धर्म की वृद्धि नहीं है। धर्म बाहरी वस्तु नहीं है, वह तो अंतरंग वीतराग परिणति का नाम है, जो कि अपने निज आत्मा के स्व-क्षेत्र में ही होता है। आप जिसे धर्म क्षेत्र का विकास कह रहे हैं, वह वास्तविक धर्म का क्षेत्र ही नहीं है, वह तो अपनी पर्याय में धर्म प्रकट करने के लिये बाह्य संयोगों की अनुकूलता है।

हाँ ! यह बात अवश्य है कि वर्तमान युग आध्यात्मिक क्रान्ति का युग है। आज अध्यात्म की चर्चा करने वालों की संख्या में अपेक्षाकृत बहुत वृद्धि हुई है। आज की परिस्थितियाँ आत्म कल्याण करने वालों के लिये पिछले 150-200 वर्षों की तुलना में

अधिक अनुकूल है। यदि हमारा जन्म इसी भारत भूमि पर 150-200 वर्ष पूर्व हुआ होता तो वीतरागी जैन तत्त्वज्ञान के पठन-पाठन की इतनी सुलभता प्राप्त होना दुर्लभ था। इसप्रकार यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि से भी वर्तमान काल में बहुत विकास दिखाई दे रहा है परन्तु इस विकास के आधार पर वर्तमान काल को उत्सर्पिणी काल नहीं माना जा सकता। काल तो अवसर्पिणी ही है, ह्रास का ही है। संयोगों की दृष्टि से इतनी सब उन्नति दिखने पर भी वर्तमान में यहाँ एक भी अरिहंत परमात्मा नहीं हैं। यहाँ श्रेणी चढ़ने वाले, शुक्ल ध्यानी, द्वादशांग के ज्ञाता आदि भी नहीं हैं। भावलिंगी संतों के दर्शन भी दुर्लभ हैं। अनुभवी/ सम्यग्दृष्टि/ ज्ञानी धर्मात्मा भी इस काल में विरले ही दिखते हैं। अनुभवी ज्ञानी व्यक्तियों की अल्प संख्या भी अवसर्पिणी काल को ही सिद्ध करती है।

फिर भी जो थोड़ा-बहुत विकास दिख रहा है, उस विकास मिश्रित ह्रास की परिस्थिति को हम निम्नानुसार समझ सकते हैं-

जिसप्रकार हिमालय से निकलने वाली गंगा नदी का प्रवाह नियम से नीचे की ओर ही रहता है; किन्तु बीच-बीच में उठने वाली उसकी लहरें/तरंगें ऊपर की ओर भी उछलती हुई दिखाई देती है। उन उठने वाली तरंगों मात्र पर दृष्टि रखने वालों को जल ऊपर जाता हुआ दिखाई देता है; जबकि समग्र जल प्रवाह को देखने वालों को उसका अधो गमन स्पष्ट ख्याल में आता है।

उसीप्रकार 10 कोड़ाकोड़ी सागर के अवसर्पिणी काल का प्रवाह नियम से ह्रास की ओर ही रहता है, किन्तु बीच-बीच में पौद्गलिक शक्तियों के परिणमन से दिखने वाले आविष्कारों मात्र पर दृष्टि रखने वालों को विकास दिखाई देता है। जबकि समग्र अवसर्पिणी काल के प्रवाह को देखने वालों को ह्रास स्पष्ट ख्याल में आता है।

जिसप्रकार गंगा नदी के प्रवाह में उठने वाली जल तरंगों का उत्थान (ऊँचाई) एवं काल दोनों ही बहुत अल्प होते हैं; उसीप्रकार अवसर्पिणी काल में होने वाला विकास भी आंशिक होता है और उस विकास का काल भी बहुत अल्प होता है।

इसप्रकार वर्तमान अवसर्पिणी काल में विकास की स्थिति उस उठी हुई नदी की लहर के समान ही समझना चाहिये।

- **प्रथम आदि कालों में बताई गई मनुष्यों की ऊँचाई, आयु आदि पर विश्वास नहीं होता? पल्यों और पूर्व में आयु का वर्णन और धनुषों में ऊँचाई की चर्चा काल्पनिक-सी लगती है?**

जिनागम के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के शरीर की ऊँचाई 500 धनुष थी। एक धनुष चार हाथ का होता है और एक हाथ लगभग सवा फीट का। इस प्रकार उनकी ऊँचाई लगभग 2500 फीट की थी। दूसरे प्रकार से देखें तो शास्त्रों में 2000 धनुष का एक कोस बताया गया है। एक कोस में लगभग तीन किलोमीटर होते हैं, तदनुसार 500 धनुष का अर्थ लगभग पौन किलोमीटर होता है। इनकी यथार्थ गणना करने पर 1.64 मीटर का एक धनुष होता है; तदनुसार 500 धनुष में 820 मीटर होते हैं, इतनी लम्बाई तीर्थंकर ऋषभदेव की थी।

ऋषभदेव की आयु 84 लाख पूर्व की थी। एक पूर्व में 70 लाख 56 हजार करोड़ वर्ष होते हैं। ऐसे एक पूर्व की नहीं 84 लाख पूर्व की उनकी आयु थी।

जब हम इसप्रकार की बातें पढ़ते-सुनते हैं, तो एकाएक विश्वास नहीं होता, पर यदि **कालचक्र** पर दृष्टि दी जाये तो इसमें काल्पनिक अथवा असम्भव लगने जैसी कोई बात नहीं है, क्योंकि वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है, जो कि ह्रास/गिरावट का काल है।

भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर स्वामी तक सभी तीर्थंकरों के शरीर की ऊँचाई एवं आयु पर दृष्टि देवें तो बात एकदम स्पष्ट हो जाती है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की ऊँचाई 500 धनुष (2000 हाथ) और अंतिम तीर्थंकर महावीरस्वामी की ऊँचाई मात्र 7 हाथ अर्थात् लगभग पौने नौ फीट। इसी प्रकार ऋषभदेव की आयु 84 लाख पूर्व एवं महावीर स्वामी की आयु मात्र 72 वर्ष। चक्रवर्ती आदि सभी महापुरुषों की आयु, ऊँचाई आदि में भी इसी प्रकार का ग्राफ बनता है।

शरीर की ऊँचाई एवं आयु में इतना परिवर्तन एकदम नहीं हुआ। प्रथम तीर्थंकर से अंतिम तीर्थंकर के बीच लगभग एक कोड़ाकोड़ी सागर का काल व्यतीत हुआ है। वर्तमान में हो रही शोध-खोज के अनुसार करोड़ों वर्ष पूर्व के प्राप्त अवशेषों के आधार पर भी उनकी ऊँचाई आदि की सिद्धि हो जाती है।

डायनासोर की खोज इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि उस काल में इतने विशालकाय जीव/प्राणी इस धरातल पर हुआ करते थे। **कनाडा** के **ड्रमहेलर प्रान्त** में हमने तीन-तीन मंजिल की ऊँचाई वाले डायनासोर के अवशेष देखे हैं। इतनी ऊँचाई वाले प्राणियों की सत्ता वर्तमान में दिखाई नहीं देती; किन्तु प्राप्त अवशेषों से उनकी भूतकाल में सत्ता को सभी स्वीकार करते हैं। बस यही स्थिति भूतकाल में हुये तीर्थंकर/चक्रवर्ती आदि महापुरुषों की आयु/ऊँचाई आदि के सम्बन्ध में है।

ऐसे और भी अनेक प्रमाणों एवं उदाहरणों से उक्त बातों को सहज सिद्ध किया जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रथमानुयोग एवं करणानुयोग में उपलब्ध इसप्रकार की बातों पर विश्वास के लिये **कालचक्र** को सही रूप में समझना चाहिये।

● **हमने सुना था कि छठे के बाद पुनः छठा काल आता है। आपने कवर पर छठे के बाद पहला लिखा है। क्या सही है?**

वस्तुतः अवसर्पिणी के छठे काल के बाद उत्सर्पिणी काल प्रारंभ होता है; अतः वह उत्सर्पिणी का पहला काल ही है। उस पहले काल की परिस्थितियाँ अवसर्पिणी के छठे काल के समान ही होती हैं। अवसर्पिणी का छठा और उत्सर्पिणी का पहला दोनों का नाम दुषमा-दुषमा है, दोनों ही 21,000 वर्ष के हैं, दोनों में उत्कृष्ट आयु, उत्कृष्ट ऊँचाई आदि समान ही हैं; अतः समानता समझाने के लिये उपचार से छठे के बाद छठा कहा जाता है। इतना अन्तर तो है ही कि अवसर्पिणी के 21,000 वर्ष तक निरन्तर ह्रास होकर अन्त में प्रलय होती है और उत्सर्पिणी के 21,000 वर्ष तक निरन्तर कुछ-कुछ उत्थान होता रहता है।

● **क्या काल परिवर्तन होने पर सब कुछ बदल जाता है?**

नहीं ! यद्यपि यह जगत परिवर्तनशील है; तथापि कालचक्र के अनुसार इस जगत में सब कुछ बदल जाता हो - ऐसी बात नहीं है। बहुत कुछ है जो काल से अप्रभावित रहता है।

निरन्तर परिणमन करते हुये भी जीव कभी अजीव नहीं हो जाता तथा अजीव भी कभी जीव नहीं होता। कोई भी वस्तु अपने मूल स्वरूप को कभी नहीं छोड़ती। वस्तु का स्वभाव अपरिवर्तनशील है। अग्नि की उष्णता, नमक का खारापन, मिश्री की मिठास के समान ही जानना-देखना आत्मा का स्वभाव है, जो कि काल से अप्रभावित रहता है।

स्वभाव के समान ही **स्वरूप** भी काल से अप्रभावित रहता है। जैसे - सच्चे देव, गुरु, धर्म का स्वरूप कभी नहीं बदलता। यद्यपि चतुर्थ काल से पंचम काल में परिस्थितियाँ बहुत बदल जाती हैं, किन्तु सच्चे देव तो वीतरागी-सर्वज्ञ ही होते हैं, गुरु भी निर्ग्रंथ तथा धर्म भी सदा वीतराग स्वरूप ही रहता है।

चौथे काल में धर्म अलग प्रकार का होता होगा और पंचम काल में धर्म अलग प्रकार का? चौथे काल में मुनि और श्रावक का स्वरूप अलग प्रकार का होगा, पंचम काल में अलग प्रकार का? - ऐसा नहीं है। काल और क्षेत्र कोई भी हो, स्वरूप कभी नहीं बदलता। जिसप्रकार अग्नि प्रत्येक काल एवं प्रत्येक क्षेत्र में ऊष्ण ही होती है, उसका स्वरूप कभी नहीं बदलता। उसीप्रकार मुनि एवं श्रावक का स्वरूप भी क्षेत्र एवं काल से नहीं बदलता।

तत्त्व सात होते हैं और द्रव्य छह। कर्म आठ होते हैं और गुणस्थान चौदह। जीव असंख्यात प्रदेशी है और आकाश अनंत प्रदेशी। नरक, स्वर्ग, मध्यलोक आदि अनगिनती बातें हैं, जो त्रिकाल एकसमान हैं। तीनों काल में मोक्ष का मार्ग रत्नत्रय स्वरूप ही है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं – 'एक होय त्रण कालमा परमारथनो पंथ।'

इसप्रकार यह कहा जा सकता है कि उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल परिवर्तित होते हुये भी वस्तु का द्रव्य स्वभाव एवं सैद्धान्तिक स्वरूप कभी नहीं बदलता। सिद्धान्त त्रिकाल होते हैं, वे काल के अनुसार बदला नहीं करते। इसीलिये कालचक्र अनुसार परिवर्तनशील इस जगत में रहते हुये भी ज्ञानियों की दृष्टि अपरिवर्तनशील स्वभाव पर ही रहती है।

- **कौन–सा काल श्रेष्ठ ?**

काल के इतने भेद–प्रभेद बताये गये हैं, आखिर इनमें से कौनसा काल श्रेष्ठ है? हमारे लिये कौन–सा काल अच्छा है? कौन–से काल में जीव सबसे अधिक सुखी होते हैं?

छह काल दो भागों में विभक्त हैं। यदि अवसर्पिणी को मुख्य करके चर्चा की जाये तो प्रारंभिक तीन काल भोग भूमि के और अंतिम तीन काल कर्म भूमि के हैं। इनमें या तो आप भोग भूमि को अच्छा कहेंगे या कर्म भूमि को। कुछ लोग उत्तम भोग भूमि रूप पहले काल को श्रेष्ठ कहते हैं तो कुछ चौथे काल को? छह कालों में दुषमा (पंचम) और अतिदुषमा (छठे) काल को कोई भी श्रेष्ठ नहीं कहता। अब इन दोनों के बारे में विचार करते हैं।

(1) प्रथम काल को श्रेष्ठ कहने वालों का तर्क है कि वहाँ मनचाहे भोग मिलते हैं, कल्पवृक्षों से सभी प्रकार की सुख–सुविधाओं की प्राप्ति हो जाती है। भोग सामग्री प्रचुर मात्रा में होती है। आयु बहुत लम्बी होती है तथा रोग और वृद्धावस्था भी नहीं होती है तथा भोगभूमि से मरकर सभी जीव नियम से देव गति में ही जाते हैं; अतः यही श्रेष्ठ काल है।

उक्त सभी बातें **अविचारित रम्यं** जैसी है। जो ऊपर–ऊपर से देखने पर अच्छी लग रही हैं। यह काल भोगों में सुख मानने वालों को ही अच्छा लग सकता है; माना कि वहाँ सुविधायें बहुत हैं, आयु अधिक है; पर वह सब कुछ शाश्वत नहीं है, मरण तो वहाँ भी होता ही है। दूसरी बात, अधिक भोग सामग्री होने पर भी वह इस जीव को सुखी करने में समर्थ नहीं है।

आचार्य नेमीचन्द्रस्वामी त्रिलोकसार में लिखते हैं कि – 'प्रचुर भोग सामग्री भी भोग भूमिया जीवों को तृप्ति देने में समर्थ नहीं है।' पंचेन्द्रिय के विषय–भोग तो चाहे कर्मभूमि के हों या भोगभूमि के – मधुर विष के समान ही हैं। इन्हें भोगने पर शान्ति नहीं मिलती; ये तो आग में घी डालने जैसा ही कार्य करते हैं। अतः भोगभूमि के काल को श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता।

(2) कर्मभूमि के दुषमा-सुषमा नामक **चौथे काल** को श्रेष्ठ कहने वालों का तर्क है कि इस काल में तीर्थंकर होते हैं। जीवों को शुक्ल ध्यान, श्रेणी चढ़ना एवं निर्वाण की प्राप्ति इसी काल में संभव है; अतः इसे ही श्रेष्ठ कहना चाहिये।

एक अपेक्षा से उक्त बात ठीक है। पर, क्या चतुर्थ काल में जन्मे सभी जीव निर्वाण की प्राप्ति करते हैं? क्या चौथे काल में सभी धर्मात्मा ही होते हैं? क्या पंचम काल में धर्म नहीं होता? भाई! ऐसा नहीं है। चतुर्थ काल के भी सभी जीव धर्मात्मा नहीं होते तथा पंचम काल के सभी अधर्मात्मा नहीं होते। पंचम काल का कोई भी जीव मरकर सप्तम नरक में नहीं जाता; जबकि चतुर्थ काल वाले जीव सप्तम नरक तक जा सकते हैं।

यद्यपि यह बात परम सत्य है कि चतुर्थ काल में जन्मे जीव मुक्ति की प्राप्ति भी कर सकते हैं; परन्तु चतुर्थ काल के सभी जीव मुक्ति की प्राप्ति नहीं करते। हमारा जन्म चतुर्थ काल में भी अनंत बार हो चुका है।

काल परावर्तन की दृष्टि से देखें तो चतुर्थ काल का कोई भी समय ऐसा नहीं है, जब हमारा जन्म न हुआ हो। चतुर्थ काल में जन्म लेकर भी जब तक यह जीव अपने निज ज्ञायक आत्मा को न जाने तब तक सुखी नहीं हो सकता तथा पंचम काल में भी अपने स्वरूप को जानकर-पहिचानकर आत्मानुभव रूप सच्चे सुख की प्राप्ति की जा सकती है। इस पंचम काल में भी धर्मध्यान का सद्भाव आगम में बताया गया है।

ऋषभदेव ने तृतीय काल में निर्वाण प्राप्त किया तो इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मस्वामी, जम्बूस्वामी, श्रीधर केवली आदि अनेक जीवों को पंचम काल में भी निर्वाण प्राप्त हो गया, यह बात अलग है कि इन्द्रभूति आदि का जन्म चतुर्थ काल में हुआ था।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि चतुर्थ काल भी इस जीव के लिये श्रेष्ठ नहीं है। इस काल में जन्म लेकर भी मुक्ति की गारन्टी नहीं है। वस्तुतः कोई भी बाहरी काल इस जीव को सुखी-दु:खी करने में समर्थ नहीं है। अतः सच्चे सुख की प्राप्ति की इच्छा रखने वाले आत्मार्थियों को किसी अच्छे काल/मुहूर्त अथवा श्रेष्ठ दिन का इंतजार करने की जरूरत नहीं है।

जिस काल में यह जीव अपने स्वभाव के सन्मुख हो वही काल श्रेष्ठ है। बाहरी किसी भी काल से सुख-दुःख होना मानना मिथ्यात्व है, काल परावर्तन का कारण है।

सच्चा सुख तो अपने में ही है; अतः बाहरी काल से दृष्टि हटाकर अपने में दृष्टि केन्द्रित करने का प्रयास करना चाहिये, इसी में सार है, यही सुखी होने का उपाय है, यही मुक्ति का मार्ग है। हम सभी इस मर्म को समझपूर्वक निज ज्ञायक की शरण लेकर परम सुख की प्राप्ति करें - इसी मंगल भावना से विराम लेता हूँ।

6

ज्योतिष्कलोक

विगत अध्याय में काल परिवर्तन की चर्चा अपेक्षित विस्तार से करने के उपरान्त अब यहाँ उस व्यवहारकाल में निमित्तभूत कारण की चर्चा करते हैं। व्यवहारकाल में सूर्य-चन्द्रादि ज्योतिष्क विमानों को कारण कहा गया है। ज्योतिषी शब्द सुनते ही हमारे मस्तिष्क में भविष्य जानने अथवा बतानेवाले ज्योतिषी दिखने लगते हैं। यहाँ भविष्य दर्शन संबंधी ज्ञान रखनेवाले ज्योतिषियों की बात नहीं है। प्रस्तुत अध्याय में तो मध्यलोक में दिन-रात, प्रकाश-अंधकार में कारणरूप ज्योतिष्क विमानों की अथवा उन विमानों में रहनेवाले ज्योतिषी देवों की चर्चा की जा रही है। साथ ही इससे जुड़े विषय जैसे दिवस-रात्रि का समय घटना-बढ़ना, सूर्य-चन्द्र ग्रहण, कृष्ण-शुक्ल पक्ष, अधिक माह की गणना आदि अनेक विषयों की चर्चा जैन आगमों के परिप्रेक्ष्य में की जायेगी।

जैन आगमों में देवों के चार प्रकार[1] बताये गये हैं - भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक। इनमें भवनवासी एवं व्यंतर मुख्यरूप से अधोलोक में रहते हैं, वैमानिक ऊर्ध्वलोक में रहते हैं तथा ज्योतिषी देव मध्यलोक में रहते हैं। भवनवासी एवं व्यंतर देवों की चर्चा दूसरे अध्याय में की जा चुकी है तथा वैमानिक देवों की चर्चा आगामी अध्याय में की जायेगी। प्रस्तुत अध्याय में ज्योतिषी देवों की चर्चा की जा रही है।

जैन आगमों में लोक के मुख्य रूप से तीन ही प्रकार बताये हैं - अधोलोक, मध्यलोक एवं ऊर्ध्वलोक। फिर प्रश्न होता है कि ये ज्योतिष्कलोक क्या है? वस्तुत: यह कोई पृथक् लोक नहीं है। मध्यलोक में ज्योति अर्थात् प्रकाश से युक्त सूर्य-चन्द्रादि विमानों का समूह है, जिसके लिये **'ज्योतिष्कलोक'** शब्द का प्रयोग किया गया है। आचार्य विद्यानंदि के अनुसार द्योतन या कान्तिस्वरूप ज्योति ही ज्योतिष्क है। **'ज्योतींषि एव ज्योतिष्का:'**[2]

1. 'देवाश्चतुर्णिकाया:' - तत्त्वार्थसूत्र, 4/1
2. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, भाग-5, 4/22 टीका/पृ. 542

चमक रहीं अनेक ज्योतियाँ ही ज्योतिष्क हैं। इन प्रकाशमान ज्योतिष्क विमानों में जो रहते हैं, वे **ज्योतिषी देव** कहलाते हैं। विमान और विमानों में रहनेवाले देव दोनों ही ज्योति के आश्रित होने से ज्योतिष्क निर्णीत किये जाते हैं।[1] सभी ज्योतिष्क विमान चमकदार पार्थिव परमाणुओं से बने हैं। इनसे भिन्न-भिन्न प्रकार के रंगों की प्रभा निकलती है। सूर्य से तपे हुये सोने जैसी, चन्द्रमा से सफेद रंग की, राहु-केतु से काले रंग की, शुक्र से नई चमेली जैसी, बृहस्पति से मोती की सीप जैसी, बुध से अर्जुनमय, शनि से तप्त सुवर्णसदृश और मंगल से लाल रंग की प्रभा निकलती है।[2] इनमें से किन्हीं की प्रभा गहरी है और किन्हीं की हल्की। जिसमें से सूर्य व चन्द्रमा की गहरी है शेष की हल्की है। इस प्रकार इनके सभी विमान प्रभा (ज्योति) करने वाले होने से ज्योतिष्क नाम को सार्थक करते हैं।

ज्योतिषी देवों के भेद –

ज्योतिष्क विमानों के नाम से ही उनमें रहनेवाले देवों के लिये संबोधन किया जाता है। इसलिये विमानों के भेद ही ज्योतिषी देवों के भेद हैं। ज्योतिषी देवों के भेद अथवा प्रकार बताते हुये आचार्य उमास्वामी लिखते हैं –

'ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च।'[3] अर्थात् सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे – ये ज्योतिषी देवों के पाँच भेद हैं। ये सभी विमान अर्द्धगोलाकार हैं, जो कि आधी गेंद के समान हैं। हमें सूर्य, चन्द्र, तारे आदि विमानों का नीचेवाला गोलाकार भाग दिखाई देता है। इन विमानों के आन्तरिक भाग में देव-देवियाँ निवास करते हैं। सभी विमानों पर ज्योतिषी देवों की जिन चैत्यालयों से युक्त[4] रमणीक नगरियाँ हैं।

ज्योतिष्क विमानों की पृथ्वी से ऊँचाई –

सभी ज्योतिषी देवों के विमान चित्रा (हमारी) पृथ्वी से 790 योजन से प्रारंभ होकर 900 योजन की ऊँचाई तक 110 योजन में स्थित हैं। 110 योजन मोटाईवाला यह ज्योतिष्कलोक घनोदधि वातवलय तक फैला हुआ है।[5] दूसरे शब्दों में पूरे मध्यलोक में

---

1. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, वार्तिक-1, पृष्ठ-544
2. हरिवंश पुराण, 6/15-21
3. तत्त्वार्थसूत्र, 4/12
4. त्रिलोकसार, गाथा-336
5. हरिवंश पुराण, 6/1-3

अर्थात् एक राजू[1] लम्बे और एक राजू चौड़े क्षेत्र में असंख्यात द्वीप-समुद्रों के ऊपर व्याप्त हैं।[2] सर्वप्रथम चित्रा पृथ्वी से 790 योजन की ऊँचाई पर तारे हैं, फिर उससे दस योजन ऊपर सूर्य, उससे 80 योजन ऊपर चन्द्रमा है। **त्रिलोकसार, सर्वार्थसिद्धि** एवं **हरिवंश पुराण** के अनुसार चन्द्रमा से 4-4 योजन ऊपर नक्षत्र एवं बुध के विमान हैं तथा उससे 3-3 योजन ऊपर शुक्र, गुरु, मंगल एवं शनि के विमान हैं।[3] इसप्रकार 790 योजन से 900 योजन की ऊँचाई में सम्पूर्ण ज्योतिष मण्डल है। **तत्त्वार्थराजवार्तिक** एवं **श्लोकवार्तिक** के अनुसार नक्षत्रों एवं ग्रहों की ऊँचाई में कुछ भिन्नता है। वे 3-3 योजन ऊपर नक्षत्र, बुध, शुक्र एवं गुरु के विमान और उससे 4-4 योजन ऊपर मंगल एवं शनि के विमान बताते हैं।[4]

इन सभी विमानों की चित्रा पृथ्वी से पृथक्-पृथक् ऊँचाई एवं उनमें रहनेवाले देवों की उत्कृष्ट आयु को निम्न तालिकानुसार देखा जा सकता है -

विमानों के नाम	चित्रापृथ्वी से ऊँचाई[5]	ऊँचाई मील में	देवों की आयु[6]
तारों के विमान	790 योजन	31,60,000	1/4 पल्य
सूर्य विमान	800 योजन	32,00,000	1 पल्य 1 हजार वर्ष
चन्द्र विमान	880 योजन	35,20,000	1 पल्य 1 लाख वर्ष
नक्षत्र विमान	884 योजन	35,36,000	1/4 पल्य
बुध ग्रह विमान	888 योजन	35,52,000	1/2 पल्य
शुक्र ग्रह विमान	891 योजन	35,64,000	1 पल्य 100 वर्ष
गुरु ग्रह विमान	894 योजन	35,76,000	1 पल्य
मंगल ग्रह विमान	897 योजन	35,88,000	1/2 पल्य
शनि ग्रह विमान	900 योजन	36,00,000	1/2 पल्य

1. **राजू** - यह जैनदर्शनानुसार क्षेत्र की नाप है, जिसमें असंख्य योजन होते हैं। एक योजन 4000 मील का होता है।
2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 146
3. (1) सर्वार्थसिद्धि, 4/12/465/पृ.184 (2) हरिवंश पुराण, 6/5-6
   (3) त्रिलोकसार, गाथा-332
4. (1) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 4/12/पृ. 219
   (2) तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, भाग-5, 4/13/वार्तिक - 4, 5/पृ. 548
5. हरिवंश पुराण, 6/1, 4-6
6. (1) वही, 6/8-9 (2) त्रिलोकसार, 446

चन्द्र के परिवार में स्थित 88 ग्रहों में से बुध, शुक्र, गुरु, मंगल और शनि – इन पाँच ग्रहों को छोड़कर शेष 83 ग्रहों की नगरियाँ[1] बुध और शनि ग्रहों के बीच में अर्थात् पृथ्वी से 888 योजन से 900 योजन की ऊँचाई के मध्य है।[2] उक्त अनुसार नक्षत्रों के विमान सूर्य एवं चन्द्रमा से अधिक ऊँचाई पर हैं; **किन्तु** त्रिलोकसार[3] में ही ढाई द्वीप के बाहर स्थित सभी चन्द्र विमानों को अभिजित नक्षत्र पर स्थित एवं सभी सूर्य विमानों को पुष्य नक्षत्र पर स्थित बताया है, जिससे नक्षत्र विमान सूर्य-चन्द्र विमानों के नीचे सिद्ध होते हैं। **त्रिलोकसार के दोनों कथनों को गहराई से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ढाईद्वीप के भीतर नक्षत्र सूर्य-चन्द्र के ऊपर हैं तथा ढाईद्वीप के बाहर उनका अवस्थान सूर्य-चन्द्र के नीचे है।**

ढाईद्वीप में जिस ज्योतिष्क की धरातल से जितनी ऊँचाई बताई गई है, वह सदाकाल उतनी ही ऊँचाई पर रहकर विचरण किया करता है। जैसे सूर्य की ऊँचाई 800 योजन है तो वह उदय से लेकर अस्त तक प्रत्येक परिस्थिति में पृथ्वी से 800 योजन की ऊँचाई पर ही रहता है। अस्त होते समय हमें डूबता हुआ सिर्फ दूरी की वजह से दिखता है। **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र** में सूर्य की ऊँचाई संबंधी शंका उठाकर उसका समाधान करते हुये लिखा है कि **सूर्य उदय, अस्त एवं मध्याह्न काल में सदैव एक समान ऊँचाई पर रहता है।**[4] उदय एवं अस्त काल में नेत्रों से सुखपूर्वक देखा जा सकता है, इसलिये नजदीक दिखाई देता है, और मध्याह्न काल में सूर्य के तेज की दुर्दृश्यता के कारण दूर दिखाई देता है।

सूर्य चर अथवा अचर –

जैन मान्यतानुसार जम्बूद्वीप में सभी ज्योतिष्क विमान सुमेरु पर्वत की परिक्रमा लगाते हैं वे विमान सुमेरु पर्वत से ग्यारह सौ इक्कीस (1121) योजन[5] की दूरी से नित्य ही प्रदक्षिणा के क्रम में भ्रमण करते हैं। **आधुनिक विज्ञान** के अनुसार सूर्य स्थिर है और पृथ्वी उसके चारों ओर परिक्रमा लगाती है, जिसके कारण पृथ्वी पर दिन-रात होते हैं। यदि पृथ्वी को स्थिर मानें एवं सूर्य को भ्रमणशील मानें, तब भी दिन-रात की व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।

---

1. त्रिलोकसार, गाथा-333
2. तिलोयपण्णत्ती, 7/101
3. त्रिलोकसार, गाथा-351
4. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र, 7/169/पृ. 334
5. (1) त्रिलोकसार, गाथा-345 (2) हरिवंश, पुराण 6/25

जैन, जैनेत्तर, पौर्वात्य एवं पाश्चात्य सभी के धर्मग्रन्थों (आगम, पिटक, वेद, बाइबिल, कुरान आदि) में पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को चर माना है, किन्तु जब ज्योतिष और गणित पद्धतियों में विकास का युग आया तब इस विषय में तार्किक दृष्टि से ऊहापोह होने लगा। वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, श्रीधर, लल्ल, भास्कर तथा महावीर आदि प्रसिद्ध गणिताचार्य इस विषय में धर्मग्रन्थों की मान्यता के ही समर्थन में रहे, पर इस बीच आर्यभट्ट (ई. 476-550) आदि कुछ गणिताचार्यों ने पृथ्वी को चर बताया।[1]

भू-स्थिरता का सिद्धान्त सुदीर्घ काल तक मान्य और प्रचलित रहा, किन्तु पाश्चात्य देशों में सर्वप्रथम 16वीं शताब्दी में **कोपरनिकस** ने पृथ्वी को चर और सूर्य को स्थिर बताया। **गैलीलियो** ने भी विभिन्न प्रमाणों से इसकी पुष्टि की, किन्तु पोप आदि ने इसे बाइबिल का अपमान बताया। परिणामस्वरूप गैलीलियो आदि को राजकीय दण्ड भोगने पड़े। फिर भी यह मान्यता नये सिद्धान्तों की खोजों से उत्तरोत्तर बढ़ती रही और पश्चिम को लाँघकर पूर्वी देशों में भी प्रचलित हो गई। भू-भ्रमण का सिद्धान्त राज-मान्यता के साथ-साथ विद्यालयों में पाठ्य विषय बन जाने से जनसामान्य के ज्ञान में आ गया और सूर्य भ्रमण का सिद्धान्त प्राचीन ग्रन्थों का विषय रह गया।

फिर भी बहुत से ऐसे पाश्चात्य विचारक विद्वान् होते रहे हैं, जिन्होंने भू-स्थिरता को ही मान्य किया है। **हेनरी फास्टर** ने सन् 1948 में एक लेख में लिखा है कि **'विलियम एडगल ने 50 वर्षों के महान प्रयत्न के बाद यह निर्णय प्रकट किया कि पृथ्वी थाली के समान चपटी है और इसके चारों ओर सूर्य भ्रमण करता है।'** इसीतरह **जे. मेकडोनल्ड** ने भी सन् 1946 में अपने विस्तृत लेख में यह लिखा है कि 'सूर्य गति करता है। और जो यह मानते हैं कि पृथ्वी अपनी धुरी पर एक हजार मील प्रति घण्टे की गति से गमन करती है, वह हास्यास्पद है।'[2]

यहाँ हमारा विषय जैन दृष्टि से विवेचन करना है। जैन मान्यतानुसार पृथ्वी स्थिर है और सूर्यादि सभी ज्योतिष्क विमान मनुष्य क्षेत्र में निरन्तर गमन करते रहते हैं। आचार्य उमास्वामी लिखते हैं - **'मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके'**[3] अर्थात् ये सभी ज्योतिष्क

1. जैन निबन्ध रत्नावली, भाग-2, पृ. 419-420
2. वहीं, पृ. 421-422
3. तत्त्वार्थसूत्र, 4/13

विमान मनुष्यलोक (ढाई द्वीप) में निरन्तर मेरु की प्रदक्षिणा देते रहते हैं। चर अर्थात् गमनशील ज्योतिष बिम्ब सिर्फ मनुष्य क्षेत्र में ही हैं।[1] उमास्वामी आचार्य ने **'तत्कृतः कालविभागः'**[2] कहकर इसे ही दिन-रात व्यवस्था का कारण बताया है। तिलोयपण्णत्ती व त्रिलोकसार में स्थिर रहनेवाले तारों की चर्चा भी की गई है, जिन्हें **ध्रुवतारे** कहा है।[3] इनकी संख्या बताते हुये वे कहते हैं - जम्बूद्वीप में 36, लवणसमुद्र में 139, धातकीखण्ड में 1,010, कालोदधि में 41,120, पुष्करार्द्ध में 53,230 ध्रुवतारे हैं।[4] इसप्रकार मनुष्य लोक में कुल पिंचानवे हजार पाँच सौ पैंतीस (95,535) ध्रुवतारे हैं। ये सभी सदा काल एक ही स्थान पर रहते हैं। इनके अतिरिक्त पुष्करार्द्ध के बाहरी भाग में सभी ज्योतिषी देव अवस्थित ही हैं, गमन नहीं करते।[5] इसके लिये उमास्वामी आचार्य ने **बहिरवस्थिताः**[6] शब्द का प्रयोग किया है।

ज्योतिष्क विमानों के वाहन देव –

ढाई द्वीप में गमन करनेवाले सूर्य, चन्द्रादि विमानों की गति भी अत्यन्त व्यवस्थित होती है। ये अपने नियत मार्ग पर ही गमन करते हैं। जैन शास्त्रों में इन्हें गमन कराने में सहयोगी, इन्हें खींचनेवाले वाहन देवों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि इन ज्योतिष्कों का गमन स्वभाव है, तो भी इन सूर्य, चन्द्र आदि के विमानों को आभियोग्य जाति के देव पूर्व, दक्षिण, पश्चिम,

ज्योतिष्क विमानों का आकार

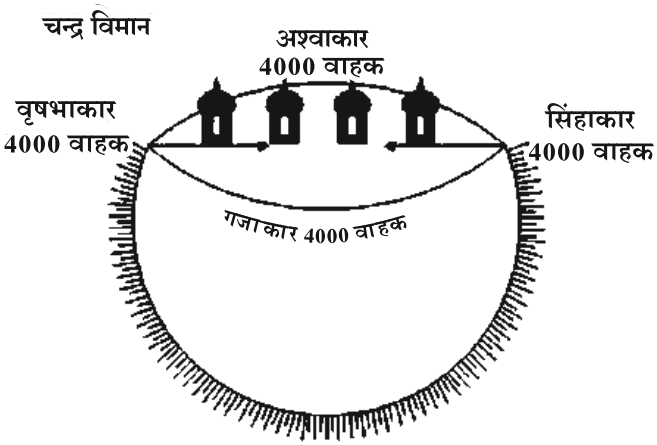

1. 'चर बिंबा मणुवाणं खेत्ते...' - तिलोयपण्णत्ती, 7/116
2. तत्त्वार्थसूत्र, 4/14
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 7/497 (2) त्रिलोकसार, गाथा-347
4. त्रिलोकसार, गाथा-347
5. वहीं, गाथा-346 (उत्तरार्द्ध)
6. तत्त्वार्थसूत्र, 4/15

उत्तर दिशा में विक्रिया के माध्यम से क्रमश: सिंह, हाथी, बैल और घोड़े के आकार को धरकर खींचते (निरन्तर ढोते) हैं। सूर्य एवं चन्द्र विमानों को खींचनेवाले प्रत्येक दिशा में चार-चार हजार ऐसे 16,000 देव हैं, इसीप्रकार से ग्रहों को 8000 देव, नक्षत्रों को 4000 देव तथा तारों को 2000 वाहन जाति के देव खींचते हैं।[1] तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में राहु विमानों को खींचने वाले प्रत्येक दिशा में एक-एक हजार देव बताये हैं।[2]

कर्म के उदय की ऐसी विचित्रता है कि आभियोग्य जाति के देवों का कार्य निरन्तर जीवनपर्यंत इन विमानों को खींचना ही है। इन देवों के कर्म का उदय गमन रूप ही फलित होता है, ये ज्योतिष्क विमानों को अपनी स्वयं की गमन में प्रीति से निरन्तर, निराबाध चलाते ही रहते हैं।

इन पाँच प्रकार के विमानों में चन्द्रमा की गति सबसे मंद है। सूर्य उससे शीघ्रगामी है, इससे अधिक शीघ्रगामी ग्रह, ग्रहों से शीघ्रतर नक्षत्र और नक्षत्रों से भी शीघ्रतर गति करने वाले तारागण हैं।[3]

विमानों की गणना अथवा चन्द्रमा का परिवार –

ज्योतिष्क देवों में चन्द्रमा इन्द्र[4] है और सूर्य उसका प्रतीन्द्र[5] होता है। सौरमण्डल में प्रत्येक चन्द्रमा का अपना-अपना परिवार होता है, उसमें सभी विमानों की निश्चित संख्या बताई गई है, यहाँ तक कि तारों की संख्या भी निश्चित है। एक चन्द्रमा (इन्द्र) के परिवार में 1 सूर्य (प्रतीन्द्र), 88 ग्रह, 28 नक्षत्र एवं 66,975 कोड़ाकोड़ी तारे होते हैं।[6] ऐसे परिवार सहित जम्बूद्वीप में दो चन्द्रमा हैं।

चन्द्र के चन्द्राभा, सुसीमा, प्रभंकरा और अर्चिमालिनी नामक 4 पट्ट/अग्र देवियाँ हैं, इसीप्रकार सूर्य के भी द्युति/श्रुति, सूर्यप्रभा, प्रभंकरा और अर्चिमालिनी नामक 4 पट्ट/अग्र

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 7/63-64 (2) त्रिलोकसार, गाथा-343
2. 'राहुविमानानि प्रत्येकं चतुर्भिर्देवसहस्रैरुह्यंते' - श्लोकवार्तिक, भाग-5/पृ. 581
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 7/499 (2) त्रिलोकसार, गाथा-403
4. 'चंदाण जोइसिंदाणं' - तिलोयपण्णत्ती, 7/13
5. 'हवंति चंदाण ते पडिंद त्ति' - वहीं, 7/14
6. (1) तिलोयपण्णत्ती, 7/14, 25 व 31 (2) हरिवंश पुराण, 6/28-29
   (3) त्रिलोकसार, गाथा-362 (4) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र, 7/197/पृ. 380

देवियाँ हैं। इन पट्ट देवांगनाओं की भी चार-चार हजार परिवार देवियाँ और होती हैं।[1] इसप्रकार सूर्य एवं चन्द्र दोनों के ही 16,004 देवियाँ होती हैं। सर्व निकृष्ट हीन पुण्य वाले देवों के भी कम से कम 32 देवियाँ तो होती ही हैं।[2] चन्द्र के परिवार में प्रतीन्द्र, सामानिक, तनुरक्ष, तीन पारिषद्, सात अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक - इसप्रकार आठ प्रकार के देव होते हैं।[3] सूर्य के परिवार में सामानिक, तनुरक्षक, तीन पारिषद्, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक - इसप्रकार सात प्रकार के देव होते हैं।[4]

अट्ठाईस नक्षत्र एवं अठासी ग्रह -

चन्द्र परिवार में नक्षत्रों की संख्या 28 है, जबकि ज्योतिष शास्त्रों में 27 नक्षत्र कहे गये हैं। प्रसिद्ध **ज्योतिषाचार्य डॉ. नेमिचन्द्रजी शास्त्री** लिखते हैं कि - समस्त आकाश मण्डल को ज्योतिष शास्त्र ने 27 भागों में विभक्त कर प्रत्येक भाग का नाम एक-एक नक्षत्र रखा है।[5]

यजुर्वेद के एक मंत्र में 27 नक्षत्रों को गन्धर्व कहा गया है, जिससे ध्वनित होता है कि उससमय 27 नक्षत्रों का प्रचार था। **अथर्ववेद** में कृत्तिका आदि 28 नक्षत्रों का वर्णन है।[6] 28 नक्षत्रों के नाम निम्न हैं -

1. अश्विनी 2. भरणी 3. कृत्तिका 4. रोहिणी 5. मृगशिरा 6. आर्द्रा 7. पुनर्वसु 8. पुष्य 9. आश्लेषा 10. मघा 11. पूर्वाफाल्गुनी 12. उत्तराफाल्गुनी 13. हस्त 14. चित्रा 15. स्वाति 16. विशाखा 17. अनुराधा 18. ज्येष्ठा 19. मूल 20. पूर्वाषाढ़ा 21. उत्तराषाढ़ा 22. अभिजित 23. श्रवण 24. धनिष्ठा 25. शतभिषा 26. पूर्वाभाद्रपद 27. उत्तराभाद्रपद एवं 28. रेवती।[7]

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 7/76-77 (2) त्रिलोकसार, गाथा-447-448
   (3) लोकविभाग, 6/232-234
2. (1) त्रिलोकसार, गाथा-449 (उत्तरार्द्ध) (2) लोकविभाग, 6/235 (उत्तरार्द्ध)
3. तिलोयपण्णत्ती, 7/60
4. वहीं, 7/78
5. भारतीय ज्योतिष, द्वितीय अध्याय, पृ. 120
6. भारतीय ज्योतिष, प्रथम अध्याय, पृ. 57
7. तिलोयपण्णत्ती, 7/26-28

डॉ. नेमिचन्द्रजी शास्त्री 27 नक्षत्रों के नाम बताने के बाद लिखते हैं – 'अभिजित को भी 28वाँ नक्षत्र माना गया है। ज्योतिर्विदों का अभिमत है कि उत्तराषाढ़ा की आखिरी 15 घटियाँ और श्रवण के प्रारम्भ की 4 घटियाँ – इसप्रकार 19 घटियों के मानवाला अभिजित नक्षत्र होता है। यह समस्त कार्यों में शुभ माना गया है।'[1] इसप्रकार 27 नक्षत्रों के वर्गीकरण में उत्तराषाढ़ा एवं श्रवण के बीच **अभिजित** नक्षत्र को स्थान प्राप्त है। वर्तमान खगोल शास्त्र में वेगा नामक तारे को अभिजित की संज्ञा दी जाती है।

तिलोयपण्णत्ती एवं त्रिलोकसार में 88 ग्रहों के नाम बताये गये हैं।[2] प्राचीन जैन आगमों में 66,975 कोड़ाकोड़ी तारों के भिन्न-भिन्न नाम भी थे; किन्तु आचार्य यतिवृषभ लिखते हैं कि **'संपहि काल-वसेणं, तारा-णामाण णत्थि उवएसो'**[3] अर्थात् इस काल के वश से तारों के नामों का उपदेश नहीं है।

भरत आदि क्षेत्रों में तारों की संख्या – जम्बूद्वीप में 2 चन्द्र परिवार हैं। एक चन्द्र के परिवार में 66,975 कोड़ाकोड़ी तारे होते हैं।[4] इसलिये जम्बूद्वीप में कुल तारों की संख्या 1,33,950 कोड़ाकोड़ी है। भरत क्षेत्र जम्बूद्वीप के 190वें भाग[5] के बराबर है, अत: उक्त संख्या में 190 का भाग देने पर **भरत क्षेत्र संबंधी तारों का कुल प्रमाण 705 कोड़ाकोड़ी**[6] आता है। भरत क्षेत्र से उत्तरोत्तर द्विगुणित हिमवन पर्वत, हैमवत क्षेत्र, महाहिमवन पर्वत, हरि क्षेत्र, निषध पर्वत और विदेह क्षेत्र हैं, फिर क्रमश: आधे-आधे होते हुये ऐरावत क्षेत्र तक की रचना है। इसी क्षेत्र अनुपात के अनुसार तारों की संख्या है। इसे निम्न तालिकानुसार देखें –

जम्बूद्वीप के क्षेत्र/पर्वत	तारों की संख्या
भरत क्षेत्र	705,0000000,0000000
हिमवन पर्वत	1410,0000000,0000000
हैमवत क्षेत्र	2820,0000000,0000000

1. भारतीय ज्योतिष, द्वितीय अध्याय, पृ. 120
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 7/15 से 22 (2) त्रिलोकसार, गाथा-363-370
3. तिलोयपण्णत्ती, 7/32
4. वहीं, 7/497
5. भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभाग:, – तत्त्वार्थसूत्र, 3/32
6. त्रिलोकसार, गाथा-371

महाहिमवन पर्वत	5640,0000000,0000000
हरि क्षेत्र	11280,0000000,0000000
निषध पर्वत	22560,0000000,0000000
विदेह क्षेत्र	45120,0000000,0000000
नील पर्वत	22560,0000000,0000000
रम्यक क्षेत्र	11280,0000000,0000000
रुक्मी पर्वत	5640,0000000,0000000
हैरण्यवत क्षेत्र	2820,0000000,0000000
शिखरी पर्वत	1410,0000000,0000000
ऐरावत क्षेत्र	705,0000000,0000000

इसप्रकार जम्बूद्वीप में कुल तारों की संख्या 133950,0000-000,0000000 (एक लाख तैतीस हजार नौ सौ पचास कोड़ाकोड़ी) है।[1] लवण समुद्र में इससे दुगनी संख्या में तारे हैं। धातकी खण्ड में 6 गुणे एवं कालोदधि में 21 गुणे हैं तथा पुष्करार्द्ध में जम्बूद्वीप से 36 गुणे तारे हैं।[2]

ढाईद्वीप एवं उसके बाहर ज्योतिष्क विमान – जम्बूद्वीप में 2 चन्द्र परिवार हैं। लवणसमुद्र में 4, धातकी खण्ड में 12, कालोदधि समुद्र में 42 और अर्द्ध पुष्कर द्वीप में 72 चन्द्र-परिवार हैं। इसप्रकार अढ़ाई द्वीप में सूर्य-चन्द्रमा की कुल संख्या 132-132 है।[3]

अढ़ाई द्वीप अर्थात् मानुषोत्तर पर्वत के बाहर ज्योतिषी देवों का गमन नहीं होता। वे मानुषोत्तर पर्वत के बाहर 50,000 योजन आगे जाकर गोलाकार पंक्ति के क्रम से पूर्वक्षेत्र को वेष्टित करके स्थित हैं। वहाँ प्रथम वलय में 144 चन्द्र और सूर्य परस्पर अन्तर पर रहते हैं। तत्पश्चात् एक-एक लाख योजन आगे-जाने पर उसी क्रम से एक-एक वलय होता है। विशेषता यह है कि प्रत्येक वलय में चार-चार चन्द्र और चार-चार सूर्यों की वृद्धि पुष्करार्द्ध के बाह्य भाग में आठवें वलय तक होती है। तत्पश्चात् पुष्कर समुद्र के प्रवेश में स्थित वेदिका से

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 7/496 (2) लोकविभाग, 6/222
   (3) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र, सप्तम वक्षस्कार, गाथा-1
2. लोकविभाग, 6/223-224
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 7/554 (2) हरिवंश पुराण, 6/26-27
   (3) त्रिलोकसार 346 (पूर्वार्द्ध) (4) बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35 टीका, पृ. 154

50 हजार योजन प्रमाण जलभाग में जाकर प्रथम वलय में 288 (पूर्व से दुगुने) चन्द्र और सूर्य हैं, जो कि बाह्य पुष्करार्द्ध के प्रथम वलय में स्थित 144 चन्द्रादि से दुगुने हैं। तत्पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार से एक-एक लाख योजन आगे जाने पर एक-एक वलय है। प्रत्येक वलय में चार-चार चन्द्र और सूर्य की वृद्धि होती है। इसी क्रम से स्वयंभूरमण समुद्र के बाहर के भाग की वेदिका तक ज्योतिषी देवों का अवस्थान है।[1]

ज्योतिष्क विमानों का आकार/विस्तार –

इन विमानों का निश्चित आकार बताया गया है। ये सभी विमान गोलाकार हैं। इनमें **चन्द्र** विमानों का व्यास 56/61 योजन एवं **सूर्य** विमानों का व्यास 48/61 योजन है। **शुक्र** का विमान 1 कोस, **गुरु** का विमान कुछ कम एक कोस, **बुध-मंगल और शनि** के विमान अर्द्ध कोस प्रमाण हैं। **नक्षत्रों** का व्यास एक कोस प्रमाण है। **ताराओं** के विमान सबसे छोटे हैं, इनके विमान जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन प्रकार के हैं। इनके विमानों का विस्तार 1/4 कोस से लेकर 1 कोस तक है। इन सभी विमानों की मोटाई अपने विस्तार से आधी है। राहु और केतु विमानों का विस्तार कुछ कम एक योजन है।[2] वैसे तो तारों का विस्तार 1/4 कोस, 1/2 कोस, 3/4 कोस या 1 कोस तक बताया गया है। किन्तु कहीं यह उल्लेख भी मिलता है कि कोई भी तारा आधा कोस से अधिक विस्तार का नहीं होता है।

मोटाई के बारे में सामान्य नियमानुसार तो विमान के विस्तार से आधी ही होती है किन्तु राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि शास्त्रों में शुक्र, बृहस्पति, बुध, शनि, मंगल और राहु की मोटाई ढाई सौ धनुष की ही लिखी है।

ज्योतिषी देवों की आयु एवं शरीर की ऊँचाई –

यद्यपि देवों की आयु सागरों[3] में होती है, किन्तु यहाँ ज्योतिषी देवों की आयु पल्योपम में कही है। इनकी उत्कृष्ट आयु उमास्वामी आचार्य ने **'परा पल्योपममधिकम्, ज्योतिष्काणां च'**[4] कहकर एक पल्योपम से कुछ अधिक तथा **'तदष्टभागोऽपरा'**[5] कहकर जघन्य आयु पल्योपम के आठवें भाग बताई है। चन्द्रमा, सूर्य, शुक्र एवं बृहस्पति की जघन्य आयु पल्योपम से चौथाई है तथा तारे, नक्षत्र, बुध आदि की जघन्य आयु एक पल्योपम के आठवें भाग प्रमाण है।

---

1. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35 की टीका, पृ. 157
2. त्रिलोकसार, गाथा-337-339
3. 10 कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है।
4. तत्त्वार्थसूत्र, 4/39-40
5. वहीं, 4/41

सभी ज्योतिष्क विमानों में रहनेवाले देवों की देवांगनाओं की आयु अपने-अपने देव की आयु से आधी होती है।[1] उक्त पाँचों प्रकार के ज्योतिषी देवों के **शरीर की ऊँचाई** सात धनुष (अट्ठाईस हाथ) प्रमाण है, इसमें हीनाधिकता नहीं होती।[2]

इन विमानों में रहनेवाले देवों की आयु पूर्ण हो जाने के उपरान्त उस पद के योग्य कोई न कोई अन्य जीव अवश्य जन्म लेता है। इसमें जघन्य अन्तराल एक समय एवं उत्कृष्ट अन्तराल छः माह बताया गया है। **जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र**[3] में लिखा है कि चन्द्र इन्द्र की आयु पूर्ण होने के उपरान्त जब तक दूसरा इन्द्र उत्पन्न नहीं होता, तब तक चार या पाँच सामानिक देव परस्पर एकमत होकर इन्द्रस्थान का स्थानापन्न के रूप में कार्य संचालन करते हैं।

सूर्य-चन्द्र व दिन-रात –

जैन आगमों में सूर्य-चन्द्रादि विमानों के गमन को ही दिन-रात व्यवस्था का कारण माना है। इनके गमन करने के क्षेत्र एवं वीथियाँ, उत्तरायन-दक्षिणायन, उनमें दिन-रात का घटना-बढ़ना, अधिक माह की गणना, कृष्ण एवं शुक्ल पक्ष आदि विषयों के संबंध में जैन मनीषियों ने सूक्ष्मता से प्रतिपादन किया है।

चारक्षेत्र एवं वीथियाँ – जैन आगमों में ज्योतिष्क विमानों के गमन प्रकरण में **चारक्षेत्र** एवं **वीथी** इन दो विशिष्ट शब्दों का प्रयोग हुआ है। कोई भी सूर्य अथवा चन्द्रमा एक वर्ष में जिस तिर्यक्क्षेत्र में गमन करता है, वह निर्धारित क्षेत्र उसका **चारक्षेत्र** कहलाता है तथा वे जिस मार्ग अथवा गलियों से होकर गुजरते हैं, उसे **वीथी** संज्ञा दी है।

सूर्य एवं चन्द्र का गमन पथ

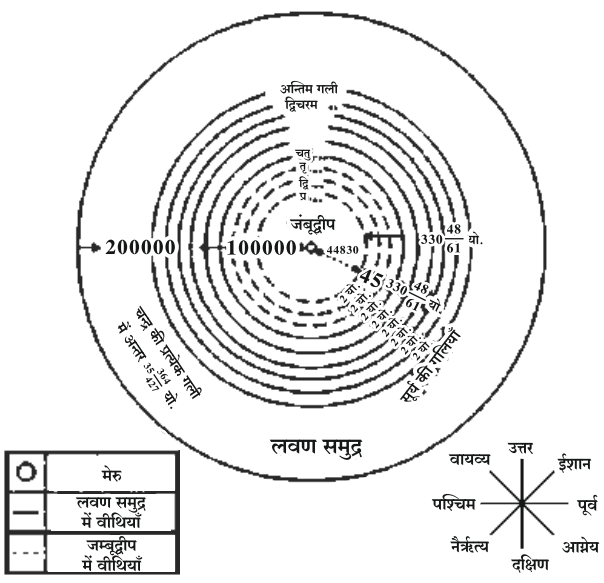

1. (1) त्रिलोकसार, गाथा-449 (पूर्वार्द्ध)
   (2) लोकविभाग, 6/235 (पूर्वार्द्ध)
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 7/623
   (2) तत्त्वार्थसार वचनिका, भाग-2, पृ. 16
3. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र, 7/174, पृ. 339

सूर्य चित्रा पृथ्वी से 800 योजन एवं चन्द्रमा 880 योजन ऊपर विचरण करते हैं। एक लाख योजन व्यासवाले इस जम्बूद्वीप की परिधि से 180 योजन भीतर एवं 330 सहित 48/61 योजन बाहर लवण समुद्र में - इसप्रकार कुल 510 सहित 48/61 योजन सूर्य एवं चन्द्रमा का चारक्षेत्र है।[1]

दो सूर्य एवं दो चन्द्रमा के बीच एक ही चारक्षेत्र[2] होता है, अत: जम्बूद्वीप के दो सूर्य एवं दो चन्द्रमा के लिये एक ही चारक्षेत्र है। इसीप्रकार लवण समुद्र में 4 सूर्य-चन्द्र होने से 2 चारक्षेत्र, धातकी खण्ड में 12 सूर्य-चन्द्र होने से 6 चारक्षेत्र, कालोदधि में 42 सूर्य-चन्द्र होने से 21 चारक्षेत्र एवं पुष्करार्द्ध में 72 सूर्य-चन्द्र होने से 36 चारक्षेत्र हैं।

जम्बूद्वीप संबंधी सूर्य-चन्द्र के 510 सहित 48/61 योजन प्रमाण चारक्षेत्र में सूर्य के गमन करने की 184 वीथियाँ (गलियाँ) तथा चन्द्रमा के गमन हेतु 15 वीथियाँ हैं। इनमें सूर्य-चन्द्र प्रतिदिन एक-एक वीथी में संचरण करते हैं।[3] दोनों सूर्य आमने-सामने रहते हुये एक दिन-रात्रि में एक गली के भ्रमण को पूरा करते हैं। सूर्य बिम्ब की 184 गलियों में प्रत्येक गली 48/61 योजन की है। गलियों के बीच परस्पर 183 अन्तराल दो-दो योजन के हैं। इसप्रकार इनके क्षेत्र की परिगणना करने पर 510 सहित 48/61 योजन प्रमाण सूर्य का चारक्षेत्र सहज ही सिद्ध हो जाता है।

184 गलियों में से 64 गलियाँ जम्बूद्वीप में, 2 गलियाँ जम्बूद्वीप की वेदी/परिधि पर और 118 गलियाँ लवण समुद्र में हैं। इसप्रकार जम्बूद्वीप के सूर्यादि विमानों का परिभ्रमण जम्बूद्वीप की वेदी/परिधि के बाहर भी होता है। ऐसी परिस्थिति ढाई द्वीप के शेष द्वीप-समुद्रों (लवण, धातकी, कालोद एवं पुष्करार्द्ध) में नहीं है, वहाँ तो अपनी-अपनी संख्यावाले ज्योतिष्क विमान अपने-अपने क्षेत्र में ही विचरण करते हैं।

दक्षिणायन एवं उत्तरायन - जम्बूद्वीप में दो सूर्य हैं, वे दोनों मिलकर एक दिन में सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा पूर्ण करते हैं। प्रथम वीथी (गली) से प्रतिदिन प्रदक्षिणा करते हुये वे दोनों 183 दिन में 184वीं गली में पहुँच जाते हैं तथा वहाँ से लौटते हुये 183 दिन में पुन: प्रथम गली में आ जाते हैं। इसप्रकार छ: माह तक सूर्य प्रतिदिन मेरु पर्वत से दूर होता जाता है और फिर पुन: छ: माह तक प्रतिदिन मेरु पर्वत के नजदीक आता रहता है।

---

1. त्रिलोकसार, गाथा-375
2. वहीं, गाथा-374
3. वहीं, गाथा-376

जैन आगमों में मेरु पर्वत को सब ओर से उत्तर दिशा में माना है। **आचार्य अकलंक देव** ने **तत्त्वार्थराजवार्तिक**[1] में मेरु पर्वत को सभी ओर से उत्तर दिशा में सिद्ध किया है। सूर्य द्वारा मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा से भी मेरु पर्वत की उत्तर दिशा में स्थिति सहज सिद्ध है। इससे एक और तथ्य ख्याल में आता है कि **'सूर्य पूर्व दिशा से उदित होता है'** इसके स्थान पर **'सूर्य जिस दिशा से उदित होता है, उसे पूर्व दिशा कहते हैं'** – यह अधिक उचित कथन है; क्योंकि भरत क्षेत्र की दृष्टि से जो पश्चिम है, वह ऐरावत क्षेत्र की अपेक्षा से पूर्व दिशा है।

जम्बूद्वीप की चारों दिशाएँ अलग-अलग क्षेत्रों से सूर्योदय की अपेक्षा से पूर्व दिशा हो जाती हैं; परन्तु सुमेरु पर्वत प्रत्येक क्षेत्र से उत्तर दिशा में ही रहता है। इसप्रकार सुमेरु पर्वत का उत्तर दिशा में होना सिद्ध हो जाने से जब सूर्य सुमेरु पर्वत से विपरीत (दक्षिण) दिशा में गमन करता है, तब छः माह का **दक्षिणायन** होता है और जब वही सूर्य मेरु के नजदीक अर्थात् उत्तर दिशा में आता है, तब छः माह का **उत्तरायन** होता है।

जब सूर्य जम्बूद्वीप की अभ्यन्तर परिधि में गमन करता है, तब वह उसकी प्रथम गली और जब लवण समुद्र में तीन सौ तीस योजन आगे बाह्य परिधि में गमन करता है, तब वह उसकी अन्तिम गली होती है। आचार्य नेमिचन्द्र **सावणमाघे सव्वब्भंतरबाहिर**[2] कहकर **श्रावण मास** में प्रथम गली में स्थित सूर्य से दक्षिणायन का प्रारंभ और **माघ महीने** में अन्तिम गली में स्थित सूर्य से उत्तरायन का प्रारम्भ बताते हैं।

दिन एवं रात्रि का घटना/बढ़ना – सूर्य की 184 वीथियों में प्रत्येक की परिधि अलग-अलग है। दक्षिणायन में प्रत्येक वीथी बढ़ती हुई है तथा उत्तरायन में प्रत्येक वीथी घटते क्रम में है किन्तु उस परिधि को दोनों सूर्य मिलकर 24 घण्टे में ही पूरा करते हैं अतः सूर्यादि की चाल में भी अन्तर पड़ना स्वाभाविक है। आचार्य नेमिचन्द्रस्वामी लिखते हैं – **'विसमाणि परिरयाणि दु साहंति समाणकालेण'**[3] अर्थात् ये ज्योतिषी देव विषम वीथियों को भी समानकाल में पूरा कर लेते हैं। दक्षिणायन के समय इनकी बढ़ती हुई चाल के लिये त्रिलोकसार में **'गयहयकेसरिगमणं'**[4] कहकर हाथी, घोड़े एवं सिंह का दृष्टान्त दिया है अर्थात् सूर्य जब प्रथम वीथी में होता है, तब उसकी चाल हाथीवत् होती है, जब वह मध्यम वीथी में होता है, तब उसकी चाल घोड़े के समान होती है और अन्तिम वीथी में पहुँचते हुये उसकी चाल सिंह के समान हो जाती है।

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 3/10, वार्तिक-13, पृ. 173
2. त्रिलोकसार, गाथा-381
3. वहीं, गाथा-387
4. वहीं, गाथा-388

इसप्रकार दक्षिणायन के समय प्रतिदिन सूर्य की परिधि एवं तदनुसार चाल में भी वृद्धि होने से दिन घटता जाता है और रात्रि बढ़ती जाती है। जब सूर्य अभ्यंतर प्रथम परिधि में भ्रमण करता है तब 18 मुहूर्त[1] (14 घण्टे 24 मिनिट) का दिन और 12 मुहूर्त (9 घण्टे 36 मिनिट) की रात्रि होती है तथा जब वही सूर्य गमन करते हुये अंतिम परिधि में पहुँचता है, तब 18 मुहूर्त की रात्रि और 12 मुहूर्त का दिन होता है।[2]

परिधि एवं दिन घटने-बढ़ने का परिमाण – जिस मार्ग से सूर्य का गमन होता है, वह गोलाकार क्षेत्र उसकी परिधि है। दो सूर्य मिलकर एक दिन में इस परिधि का चक्कर (भ्रमण) लगाते हैं अर्थात् जब एक सूर्य भरत क्षेत्र में रहता है, तब दूसरा सूर्य ठीक सामने ऐरावत क्षेत्र में रहता है। फिर क्रमश: गमन करते हुये, जब एक सूर्य पूर्व विदेह में पहुँचता है, तब तक दूसरा पश्चिम विदेह में पहुँच जाता है। इसप्रकार अंतर से गमन करते हुये आधी परिधि को एक सूर्य एवं आधी परिधि को दूसरा सूर्य पूरा करता है। दोनों मिलकर 30 मुहूर्त (24 घण्टे) में एक परिधि को पूर्ण करते हैं।

सूर्य के गमन करने की अभ्यंतर **प्रथम वीथी** की परिधि का प्रमाण तीन लाख पन्द्रह हजार नवासी (3,15,089) योजन है[3] तथा **अन्तिम वीथी** की परिधि का प्रमाण तीन लाख अठारह हजार तीन सौ चौदह (3,18,314) योजन है।[4] इसप्रकार प्रथम से अंतिम वीथी तक 183 परिधियों में कुल 3225 योजन की वृद्धि हुई; अत: प्रथम वीथी से अन्तिम वीथी तक **प्रत्येक वीथी की परिधि में 17 सहित 38/61 (17.62) योजन की वृद्धि** होती है।

जब सूर्य अभ्यंतर प्रथम गली में होता है, तब दिन 18 मुहूर्त का एवं रात्रि 12 मुहूर्त की होती है।[5] जब सूर्य प्रथम गली का परिभ्रमण पूर्ण करके दो योजन प्रमाण अन्तराल के मार्ग का उल्लंघन कर दूसरी गली में जाता है, तब दूसरे दिन दूसरी गली में जाने पर परिधि का प्रमाण 17.62 योजन बढ़ जाने से एवं मेरु से सूर्य का अन्तराल बढ़ जाने से **दो मुहूर्त (96 मिनिट) का 61वाँ भाग[6] अर्थात् 1.57 मिनिट दिन घट जाता** है एवं रात्रि बढ़ जाती है। इसीतरह प्रतिदिन दो मुहूर्त के 61वें भाग प्रमाण दिन घटते-घटते जब सूर्य अपनी मध्यम वीथी

1. मुहूर्त - 48 मिनिट
2. त्रिलोकसार, गाथा-379
3. तिलोयपण्णत्ती, 7/255
4. वहीं, 7/264
5. त्रिलोकसार, गाथा-379
6. त्रिलोकसार, गाथा-380 टीका, पृ. 328

(गली) में पहुँचता है, तब 15 मुहूर्त (12 घण्टे) का दिन एवं 15 मुहूर्त (12 घण्टे) की रात्रि हो जाती है। इसीप्रमाण से आगे घटते-घटते अंतिम गली में पहुँचने पर 12 मुहूर्त का दिन एवं 18 मुहूर्त की रात्रि हो जाती है।

एक मुहूर्त और एक मिनिट में सूर्य का गमन – सूर्य गमन की अभ्यंतर प्रथम वीथी की परिधि **'उणणउदी पण्णमेक्कतीसं'**[1] अर्थात् 3,15,089 योजन है, जिसे एक सूर्य 60 मुहूर्त (दोनों सूर्य मिलकर 30 मुहूर्त) में पूरा करता है। इसप्रकार प्रथम वीथी में सूर्य **प्रति मुहूर्त कुछ अधिक पाँच हजार दो सौ इक्यावन (5251.48) योजन** की चाल से गमन करता है। एक योजन में 4000 मील एवं मुहूर्त में 48 मिनिट होते हैं; अत: प्रथम वीथी में सूर्य की गति **प्रति मिनिट कुछ अधिक चार लाख सैंतीस हजार छ: सौ तेईस (4,37,623.61) मील** होती है।

एक गली (वीथी) से दूसरी गली में परिधि के बढ़ जाने से सूर्य का गमन क्षेत्र भी बढ़ जाता है। इसप्रकार क्रमश: बढ़ते-बढ़ते अंतिम 184वीं वीथी की परिधि तीन लाख अठारह हजार तीन सौ चौदह (3,18,314) योजन[2] है, इसे भी एक सूर्य 60 मुहूर्त (दोनों मिलकर 30 मुहूर्त) में पूरा करता है। इसप्रकार अंतिम वीथी (गली) में सूर्य **प्रति मुहूर्त 5305 सहित 14/60 योजन**[3] की चाल से गमन करता है। इस अंतिम वीथी में सूर्य की गति **प्रति मिनिट कुछ अधिक चार लाख बियालीस हजार एक सौ दो (4,42,102.77) मील** होती है।

अधिक माह की गणना – सूर्य के गमन करने की 184 वीथियों में प्रत्येक में दो-दो योजन का अन्तराल है। प्रथम से दूसरी वीथी में गमन करने के लिये सूर्य उस अन्तराल को पार करके ही जाता है। एक दिन में एक अन्तराल पार करने का काल एक मुहूर्त (48 मिनिट) है। यह उसका अतिरिक्त काल है। अत: तीस दिन में तीस मुहूर्त (एक दिन) बढ़ जाते हैं। आचार्य नेमिचन्द्र इस वृद्धि के बारे में लिखते हैं –

इगिमासे दिणवड्ढी वस्से बारह दुवस्सगे सदले।
अहिओ मासो पंचयवासप्पजुगे दु मासहिया।।[4]

---

1. त्रिलोकसार, गाथा-385
2. चतुर्दशत्र्यशीत्येकत्रिंशद्बाह्यपरिधि:, त्रिलोकसार, 385 टीका, पृ. 336
3. तिलोयपण्णत्ती, 7/272
4. त्रिलोकसार, गाथा-410

एक माह में एक दिन की वृद्धि होती है, अत: 12 माह में 12 दिन की और पाँच वर्षों का एक युग होता है, उसमें दो माह (60 दिन) की वृद्धि हो जाती है।

प्रकारान्तर से एक वर्ष में 12 माह और एक माह में 30 दिन होते हैं। प्रत्येक 61वें दिन एक तिथि घटती है, अत: एक वर्ष में 354 दिन होने चाहिये; किन्तु सूर्य द्वारा प्रथम से अंतिम वीथी में गमन करने एवं पुन: लौटने के 366 दिन होते हैं। अत: एक वर्ष में 12 दिन की वृद्धि हुई, दो वर्ष में 24 दिन की, ढाई वर्ष में 30 दिन की और पाँच वर्ष में दो मास की वृद्धि होती है। इसप्रकार हर तीसरा वर्ष 13 माह का होता है।

सूर्य-चन्द्र ग्रहण एवं कृष्ण-शुक्ल पक्ष – चन्द्र विमान के नीचे 4 प्रमाणांगुल जाकर राहु के विमान एवं सूर्य के नीचे केतु के विमान गमन करते हैं।[1] छह-छह महीने में पूर्णिमा एवं अमावस्या को राहु के विमान चन्द्र को एवं केतु के विमान सूर्य को ढक देते हैं, इसे ही ग्रहण कहते हैं। आचार्य मानतुंग[2] ने सूर्य एवं चन्द्र दोनों को राहु द्वारा ही ग्रसित होने की बात कही है। ये दोनों विमान अरिष्टमणिमय कृष्णवर्णी हैं।

कृष्णपक्ष एवं शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की कलाओं के घटने-बढ़ने का क्या कारण है? इस सन्दर्भ में **दो प्रकार की बात** मिलती है। **तिलोयपण्णत्ती**[3] में कहा है कि चन्द्र बिम्ब **अपने स्वभाव** से ही पन्द्रह दिनों तक कृष्ण कान्ति स्वरूप और इतने ही दिनों तक शुक्ल कान्ति स्वरूप परिणमता है। **त्रिलोकसार**[4] में भी चन्द्र मण्डल के 15 दिनों में अपनी 16 कलाओं द्वारा **स्वयं** कृष्ण और शुक्लरूप होने की बात कही है – यह तो प्रथम पक्ष है। द्वितीय पक्ष के रूप में त्रिलोकसार में ही कहा है कि कुछ आचार्य **राहु की गति विशेष**[5] को भी इसका कारण मानते हैं। द्वितीय पक्ष का खुलासा करते हुये पण्डित चेतनदासजी तत्त्वार्थसार में लिखते हैं – 'चन्द्रमा का विमान कृष्ण पक्ष में प्रतिदिन अपनी चौड़ाई से सोलहवें भाग प्रमाण हानिरूप होकर घटता हुआ तथा शुक्ल पक्ष में क्रमश: प्रतिदिन इतना ही वृद्धि रूप बढ़ता हुआ दिखाई देता है। यह कार्य राहु विमान की गति विशेष के कारण होता है। चन्द्र विमान के नीचे राहु के विमान का सदा काल ऐसा ही गमन होने से क्रमश: पन्द्रह दिन पर्यन्त एक-एक कला छिपती है तथा बाद में एक-एक कला व्यक्त होती है; इसी से कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष की रचना होती है।'[6]

---

1. त्रिलोकसार, गाथा-340
2. भक्तामर स्तोत्र, श्लोक-17 एवं 18
3. तिलोयपण्णत्ती, 7/215
4. त्रिलोकसार, गाथा-342
5. तिलोयपण्णत्ती, 7/208, 214
6. तत्त्वार्थसार वचनिका, भाग-2, पृ. 15

बहुत विचार करने के बाद भी कृष्ण एवं शुक्ल पक्ष संबंधी उक्त दोनों पक्षों में से द्वितीय पक्ष से सहमत हो पाना संभव नहीं लग रहा, क्योंकि चन्द्र एवं राहु दोनों के विमान गोलाकार हैं। यदि ऐसा माना जाये कि राहु का विमान कृष्ण पक्ष में प्रतिदिन चन्द्रमा की एक-एक कला को ढकता है अथवा शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन चन्द्रमा की एक-एक कला को अनावरित करता है तो यह स्थिति प्रायोगिक दृष्टि से देखने पर द्वितीया से सप्तमी तक तो ठीक प्रतीत होती है, पर अष्टमी से चतुर्दशी के चन्द्रमा का वैसा आकार नहीं बनता जैसा एक-एक कला के उघड़ने पर होना चाहिये। इसके लिये दो गोलाकार सिक्के लेकर एक को दूसरे पर रखकर प्रायोगिक दृष्टि से विचार किया जा सकता है। राहु के प्रतिदिन गमन के कारण चंद्र की कलायें बढ़ना मानने पर निम्नानुसार स्थिति बनेगी-

किन्तु नवमी, दशमी के दिन चन्द्रमा नभ मण्डल में उक्तानुसार स्पष्ट कटता हुआ नहीं दिखाई देता, अत: प्रथम पक्ष ही अधिक बलवान प्रतीत होता है कि चन्द्र बिम्ब स्वभाव से ही कृष्ण/शुक्लरूप परिणमन करता है।

ज्योतिष्क विमानों की किरणें अथवा प्रकाश -

प्रत्येक ज्योतिष्क विमान में से विविध प्रकार की रंगों वाली किरणें निकलती हैं, जो प्रकाशित करती हैं। कुछ की किरणें उष्ण एवं कुछ की शीत होती हैं। इन किरणों की संख्या का उल्लेख भी ग्रन्थों में मिलता है।

चन्द्र बिम्ब से 12,000 शीतल किरणें एवं सूर्य बिम्ब से 12,000 उष्ण किरणें निकलती हैं। शुक्र की 2,500 किरणें तीव्र प्रकाशवाली तथा शेष ज्योतिष्क विमानों से मन्द प्रकाशवाली किरणें निकलती हैं।[1]

चन्द्र विमान

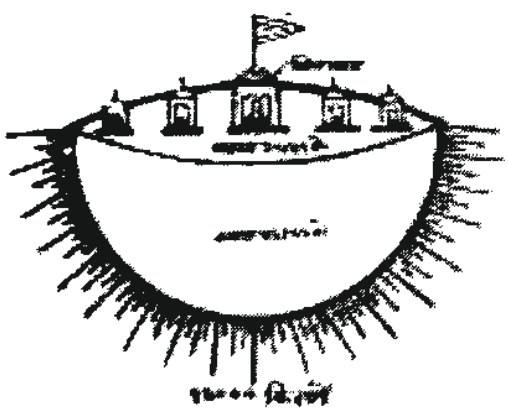

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 7/37, 66, 90 (2) त्रिलोकसार, गाथा-341

सूर्य की उष्ण एवं चन्द्र की शीतल किरणें – पृथ्वी के परिणाम रूप चमकीली धातु से सूर्य का विमान बना हुआ है, जो कि अकृत्रिम है। इस बिम्ब में स्थित पृथ्वीकायिक जीवों के आतप नामकर्म[1] का उदय पाया जाता है। जिसके उदय से शरीर में आतप की रचना होती है, वह आतप नामकर्म है, वह सूर्य बिम्ब में होता है।[2] सूर्य बिम्ब आग का गोला नहीं है, वह स्वयं तो शीतल है, किन्तु उससे निकलने वाली किरणें उष्ण हैं, आतप कर्म प्रकृति का ऐसा ही स्वरूप है। आचार्य पूज्यपाद आतप कर्म के योग से सूर्य के निमित्त से होने वाले प्रकाश को उष्ण रूप कहते हैं।[3] इसप्रकार जैनाचार्यों ने मूल में सूर्य को शीतल एवं उसकी किरणों को उष्ण बताया है।

चन्द्र, तारे आदि के बिम्ब में रहनेवाले पृथ्वीकायिक जीवों के उद्योत नामकर्म[4] का उदय है, जिसके निमित्त से उनके मूल तथा किरणों में सर्वत्र शीतलता पाई जाती है। ब्रह्मदेवसूरि लिखते हैं – **उद्योतचन्द्रविमाने....आतप आदित्यविमाने।**[5] सभी तारे, नक्षत्र एवं ग्रहों के बिम्बों में स्थित पृथ्वीकायिक जीवों के उद्योत नामकर्म का उदय रहता है।

अग्नि, आतप और उद्योत का अन्तर स्पष्ट करते हुये **आचार्य नेमिचन्द्रस्वामी** लिखते हैं – **अग्नि** में मूल और प्रभा दोनों ही उष्ण रहते हैं, इसलिये उसके उष्ण स्पर्श नामकर्म का उदय जानना। तथा जिसके केवल प्रभा ही उष्ण हो, उसे **आतप** कहते हैं, इसका उदय सूर्य बिम्ब में उत्पन्न हुये बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय के तिर्यंच जीवों के समझना तथा जिसकी प्रभा भी उष्णता से रहित हो, उसे नियम से **उद्योत** जानना।[6] जिसके निमित्त से शरीर में उद्योत होता है, वह उद्योत नामकर्म है, वह चन्द्रबिम्ब और जुगुनू आदि में होता है।[7]

तीन लोक के सर्व जीवों में एकमात्र सूर्य विमान ही है, जिसमें स्थित जीवों के आतप कर्म प्रकृति का उदय पाया जाता है। ब्रह्मदेवसूरि ने सूर्यकान्तमणि में भी इस कर्म के उदय होने की बात कही है।[8]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 7/67
2. (1) सर्वार्थसिद्धि, 8/11/755, पृ. 305 (2) गोम्मटसार कर्मकाण्ड अध्याय-1, गाथा-33
3. 'आतप आदित्यादिनिमित्त उष्णप्रकाशलक्षण:' – सर्वार्थसिद्धि, 5/24/572, पृ. 226
4. तिलोयपण्णत्ती, 7/38
5. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-16 टीका, पृ. 62
6. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-33, पृ. 15
7. सर्वार्थसिद्धि, 8/11/755, पृ. 305
8. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-16 की टीका, पृ. 62

सूर्य प्रकाश का विस्तार – सूर्य विमान का प्रकाश **नीचे** एक हजार आठ सौ योजन और ऊपर सौ योजन तक फैलता है।[1] जब सूर्य **प्रथम वीथी** में होता है तब **उत्तर दिशा** की ओर मेरु पर्वत के मध्य तक अर्थात् 49,820 (50,000 - 180) योजन एवं **दक्षिण दिशा** में लवण समुद्र के छठे भाग तक अर्थात् 1/3 योजन अधिक तैतीस हजार पाँच सौ तेरह (33,333+180) योजन तक उसका प्रकाश फैलता है। जिसप्रकार दीपक का प्रकाश चारों ओर फैलता है, तथा उसे आगे ले जाने पर प्रकाश भी आगे जाता रहता है, उसीप्रकार सूर्य गमन में प्रकाश भी आगे-आगे बढ़ता रहता है और पीछे-पीछे अन्धकार होता जाता है।[2] **जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र**[3] के अनुसार सूर्य का प्रकाश **तिर्यक्भाग** में 21/60 योजन अधिक सैंतालीस हजार दो सौ तिरेसठ (47,263) योजन तक फैलता है।

ज्योतिष्क देवों के निवास-स्थान –

सभी ज्योतिष्क देवों के रहने के स्थानों के लिये यहाँ **'विमान'** शब्द का प्रयोग किया गया है; वस्तुत: ये सभी विमान मात्र ही नहीं हैं; ये देवों की नगरियाँ हैं। **आचार्य यतिवृषभ** इनके स्वरूप, सौन्दर्य का वर्णन करते हुये बार-बार नगरी शब्द का प्रयोग करते हैं, यथा[4]- गह-गण-पुरीओ,.....बुह णयरीओ.....सुक्काणि पुराणि.....गुरूण णयराणिं...मंगल णयराणि....सणि णयराणिं.....णक्खत्त णयराणिं... ताराणं पुराणि....। इसप्रकार जैन मान्यतानुसार इन सभी ग्रह, नक्षत्र, तारों आदि के ऊपरी तल पर देवों के नगर हैं। ये सभी नगर अनेक प्रकार के उत्तम रत्नों से निर्मित, ऊर्ध्वमुख स्थित गोलकार्द्ध सदृश और नित्य स्वभाववाले हैं।[5] इन विमानों में हजारों, लाखों की संख्या में देव रहते हैं।[6] सभी विमानों में अनादि-निधन अकृत्रिम चैत्यालय हैं।

विमानों में अकृत्रिम चैत्यालय –

ढाई द्वीप में संख्यात और मानुषोत्तर पर्वत के बाहर असंख्यात ज्योतिष्क विमान हैं। सूर्य-चन्द्रमा भी गणना में असंख्यात ही बताये गये हैं।[7] सभी ज्योतिष्क विमानों में एक-एक अनादि-निधन अकृत्रिम चैत्यालय है। इसप्रकार ये असंख्य ज्योतिषी विमान अकृत्रिम सुवर्णमय और रत्नमय जिन चैत्यालयों से शोभित हैं।[8]

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 7/422 (2) लोक विभाग, 6/97
2. तत्त्वार्थसार वचनिका, भाग-2, पृ. 19-20
3. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र, 7/172, पृ. 337
4. तिलोयपण्णत्ती, 7/82, 89, 93, 96, 99, 104, 108
5. वही, 7/109
6. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, भाग-5, 4/13, वार्तिक-7 पृ. 550
7. हरिवंश पुराण, 6/24
8. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35 टीका, पृ.157

आचार्य नेमिचन्द्र ज्योतिर्लोकाधिकार का मंगलाचरण करते हुये लिखते हैं **'जोइसजिणिंद गेहे, गणणातीदे णमंसामि'**[1] अर्थात् गणनातीत/असंख्यात ज्योतिष जिनेन्द्रगृहों को मैं नमस्कार करता हूँ।

चक्रवर्ती द्वारा जिनबिम्ब दर्शन –

चक्रवर्ती सम्राट अयोध्या नगरी स्थित अपने महल की छत से **सूर्यविमान** में स्थित जिनप्रतिमाओं के दर्शन कर लेते हैं।[2] आचार्य यतिवृषभ लिखते हैं कि निषध पर्वत के ऊपर प्रथम वीथी में स्थित सूर्य बिम्ब में विराजमान जिनबिम्बों को भरतक्षेत्र के चक्रवर्ती देख लेते हैं।[3] सभी मनुष्यों में चक्रवर्ती सम्राट विशिष्ट पुण्यशाली होते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों में सर्वोत्कृष्ट इन्द्रिय सामर्थ्य चक्रवर्ती में ही है। **गोम्मटसार जीवकाण्ड** में पाँचों इन्द्रियों के उत्कृष्ट विषय ग्रहण सामर्थ्य को बताते हुये चक्षुइन्द्रिय का विषयक्षेत्र **47,263 योजन** से कुछ अधिक बताया है,[4] जो कि **दक्षिणायन की प्रथम वीथी में सूर्योदय के समय निषध पर्वत से अयोध्या नगरी की दूरी** है।

स्पष्टीकरण – सूर्य के प्रथम वीथी में रहने पर 18 मुहूर्त का दिन होता है अथवा प्रथम वीथी की परिक्रमा में सूर्य की उदय से अस्त तक की **दूरी** 18 मुहूर्त में पूरी होती है। अयोध्या नगरी स्थित चक्रवर्ती का महल सूर्य के इस गमन पथ के ठीक बीच में है, इससे यह सिद्ध हुआ कि सूर्योदय के समय चक्रवर्ती से सूर्य की दूरी 9 मुहूर्त (18 मुहूर्त का आधा) गमन क्षेत्र बराबर होती है। पीछे ''सूर्य का गमन प्रकरण'' में बताये अनुसार; चूँकि सूर्य एक मुहूर्त में 5251.48 योजन गमन करता है, अत: 9 मुहूर्त में सूर्य की दूरी 5251.48 × 9 अर्थात् 47,263 सहित 7/20 योजन घटित होती है।

इसप्रकार कर्क संक्रान्ति के दिन अर्थात् जुलाई माह में निषध पर्वत पर प्रथम मार्ग में सूर्य का प्रथम उदय होता है, तब चक्रवर्ती अपने उत्कृष्ट चक्षु इन्द्रिय सामर्थ्य से सूर्य विमान में स्थित अकृत्रिम जिनबिम्बों के दर्शन कर लेता है।

---

1. त्रिलोकसार, गाथा 302
2. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा-170 (भावार्थ)
3. तिलोयपण्णत्ती, 7/434, 435
4. चक्खुस्स-सत्तेतालसहस्सा, बेसदतेसट्ठिमदिरेया। - गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा-169

इस सन्दर्भ में **द्रव्यसंग्रह** के कर्त्ता **ब्रह्मदेवसूरि** तो भरतचक्रवर्ती द्वारा अर्घ्य चढ़ाने की बात लिखते हैं। उनका मूल कथन इसप्रकार है –

'यत्र सूर्यविमानस्थं निर्दोषपरमात्मनो जिनेश्वरस्याकृत्रिमं जिनबिम्बम् प्रत्यक्षेण दृष्ट्वा अयोध्या नगरीस्थितो निर्मल–सम्यक्त्वानुरागेण भरतचक्री पुष्पांजलिमुत्क्षिप्यार्घ्यं ददातीति।'[1]

अर्थात् सूर्य विमान में स्थित निर्दोष परमात्म–जिनेश्वर के अकृत्रिम बिम्ब को प्रत्यक्ष देखकर, अयोध्या नगरी में स्थित भरत चक्रवर्ती निर्मल सम्यक्त्व के अनुराग से पुष्पांजलि देकर अर्घ्य समर्पित करता है।

संभवत: जगतजनों में सूर्य नमस्कार की परम्परा यहीं से प्रारंभ हुई हो। वस्तुत: सूर्य बिम्ब पूज्य नहीं है, वह तो एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक जीव का शरीर होने से अचेतन है; चक्रवर्ती तो उसमें स्थित वीतराग–जिनप्रतिमा को नमस्कार करता है। इस रहस्य को समझे बिना देखा–देखी सूर्य को अर्घ्य समर्पित करना तो लोकमूढ़ता है।

ज्योतिष्कलोक एवं वैज्ञानिक –

जैन आगमों के अनुसार चन्द्रमा ज्योतिषी देवों का विमान है; वहाँ अकृत्रिम चैत्यालय हैं, उसमें देव लोग निवास करते हैं; किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक चन्द्रमा की संरचना पृथ्वी जैसी बताते हैं।

आगमों के मूल कर्त्ता अरिहंत हैं, उनकी वाणी का अनुसरण कर वीतरागी मुनिराजों द्वारा आगम ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया गया है। वे ग्रन्थकर्त्ता संत, त्यागी–तपस्वी सत्य महाव्रत के धनी होते हैं अर्थात् जीवनपर्यंत जिन्होंने सूक्ष्म से सूक्ष्म असत्य बोलने का भी त्याग किया है, वे लौकेषणा (लौकिक प्रशंसा) से भी दूर रहते हैं; अत: उनकी वाणी से किसी भी रूप में असत्य प्रतिपादन की कोई संभावना नहीं लगती। एक ओर तो ऐसे आगम हैं और दूसरी ओर वर्तमान में वैज्ञानिकों के अनुसार चन्द्रमा पर न केवल अपने उपग्रह स्थापित करने की बात, अपितु 21 जुलाई 1969 को अमेरिकी अन्तरिक्ष यात्री नील आर्मस्ट्रांग द्वारा चन्द्रमा पर कदम रखने की बात को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। साथ ही चन्द्र मिशन हेतु निरन्तर हो रहे परीक्षणों एवं वैज्ञानिकों की शोध–खोज को

1. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा–35 टीका, पृ. 155

सर्वथा झूठा नहीं कहा जा सकता। इस सन्दर्भ में मैंने चन्द्रयान मिशन के प्रथम चरण से जुड़े वयोवृद्ध **अमेरिकी वैज्ञानिक डॉ. अनंतभाई** से डलास (अमेरिका) में तथा नासा एवं दूसरो से जुड़े भारतीय **प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. नरेन्द्र भण्डारी** से अहमदाबाद में चर्चा की। उनसे मानव की चन्द्रमा पर पहुँच सम्बन्धी अनुभवों को सुना है। वे अनेकों युक्तियों और तर्क से अपनी बात को सिद्ध करते हैं।

दूसरी ओर जैन खगोल एवं भूगोल के विषयों पर अनुसंधानपरक कार्य कर रहे श्वेताम्बर **आचार्य अभयसागरजी पालीताना** एवं दिगम्बर जैन परम्परा में **आर्यिका ज्ञानमती माताजी हस्तिनापुर** के अनुसार मानव की चन्द्रमा पर पहुँच असंभव है; क्योंकि वे ज्योतिषी देवों के विमान हैं। देश एवं दुनिया का बहुत बड़ा वर्ग आज भी यही मानता है कि मानव चन्द्रमा पर नहीं पहुँचा है। मानव की चन्द्रमा पर पहुँच को अनेकों बार दैनिक समाचारपत्रों में, जी. टेलीविजन आदि पर संशय की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है, इस सन्दर्भ में इंटरनेट पर अनेक वेबसाइट उपलब्ध हैं। रूस आज भी इसे अमेरिका की उपलब्धि मानने को तैयार नहीं है।

यहाँ तक कि अमेरिकी वैज्ञानिक **राल्फरेने** ने अपनी एक पुस्तक में ठोस प्रमाणों के आधार पर मानव की चन्द्रमा पर पहुँच पर प्रश्नचिह्न खड़ा किया है।[1]

क्या मानव चन्द्रमा पर गया है? हो सकता है, वह चन्द्रमा पर पहुँचा ही नहीं हो, या फिर जहाँ पहुँचा है, वह चन्द्रमा न हो अथवा वैज्ञानिक जिसे चन्द्रमा कह रहे हैं, वह आगमों में प्ररूपित चन्द्रमा से पृथक् कोई अन्य ही वस्तु हो? **भोपाल** निवासी **श्री महेन्द्रकुमार जैन** ने अपनी शोधपरक कृति **लोकानुप्रेक्षा** में सूर्य-चन्द्रमादि विमानों को आगम एवं विज्ञान - दोनों की दृष्टि से अलग-अलग सिद्ध किया है।[2] उनके अनुसार वैज्ञानिकों द्वारा मान्य चन्द्रमा से आगमों में प्ररूपित चन्द्रमा भिन्न है।

---

1. 21 जुलाई 1969 को नील आर्मस्ट्रांग तथा एडविन एल्ड्रिन द्वारा चन्द्रमा की यात्रा करने की अमेरिका की महानतम उपलब्धि को 32 वर्ष के बाद अमेरिका के ही वैज्ञानिक राल्फ रेने ने अमेरिका की इस उपलब्धि को चुनौती दी है तथा कहा है कि अमेरिका अन्तरिक्ष संस्था ने ट्रिक फोटोग्राफी के जरिये संसार को बेवकूफ बनाया। सच्चाई यह है कि आज तक चन्द्रमा पर किसी भी मनुष्य के कदम नहीं पहुँचे।

   राल्फ रेने ने एक किताब के रूप में अपने तर्क, दस्तावेज सामने रखकर पूरे विश्व को चुनौती दी है कि कोई उनके सवालों का जवाब देकर बताये। चालीस खरब डॉलर का अपोलो अभियान कुल मिलाकर एक धोखा था। श्री रेने ने इसकी उच्चस्तरीय जांच की मांग की है। **- मोक्षगामी (मासिक), अंक-मार्च 2001 से साभार**

2. लोकानुप्रेक्षा - महेन्द्रकुमार जैन, पृ. 243

आगम और विज्ञान की बातों में परस्पर दिखाई देने वाली विसंगति में वर्तमान उपलब्ध आगमों में से बहुत कुछ **विलुप्त**[1] हो जाने को भी कारण माना जा सकता है; क्योंकि प्राचीन काल से अब तक विपुल जैन साहित्य काल-कवलित हो गया। यद्यपि उपलब्ध साहित्य में भी सूर्य-चन्द्रादि की गति, चाल, दिन-रात की व्यवस्था, उनका घटना-बढ़ना आदि अनेक बातों का बहुत सूक्ष्मता से वर्णन मिलता है, फिर भी विसंगतियों को दूर करने हेतु आधुनिक खगोल विज्ञान के साथ सामंजस्य बिठाने की दिशा में स्वतंत्र शोध होनी चाहिये। ताड़पत्रों के रूप में उपलब्ध पाण्डुलिपियों की खोज एवं आगमों में प्रयुक्त लगभग 2000 वर्ष पूर्व की शब्दावली के अर्थ पर विमर्श भी इस दिशा में सार्थक कदम हो सकता है।

●

राग का पक्ष लोगे तो संसार में भटकोगे और
ज्ञायक का पक्ष लोगे तो सिद्धालय में जा पहुँचोगे।

संयोग में वियोग बसे, भोग में रोग बसे, तत्त्वचिंतन में धर्म बसे।

अज्ञानी सिर्फ शास्त्र को पढ़ते हैं; परन्तु
विवेकी शास्त्र के माध्यम से अपने को पढ़ते हैं।

हमारे चिंतन की दिशा ही हमारी दशा निर्धारित करती है।

इस संसार में सभी को अपने 'ज्ञान का अहंकार' है;
परंतु किसी को अपने 'अहंकार का ज्ञान' नहीं है।

- डॉ. संजीवकुमार गोधा

1. देखें परिशिष्ट -1

7

ऊर्ध्वलोक का स्वरूप

विगत छः अध्यायों में तीन लोक सामान्य, मध्यलोक, अधोलोक एवं ज्योतिष लोक की चर्चा अपेक्षित विस्तार से कर लेने के उपरान्त अब ऊर्ध्वलोक की चर्चा प्रसंग प्राप्त है।

प्रस्तुत अध्याय में ऊर्ध्वलोक की सामान्य रचनात्मक चर्चा करते हुये वहाँ रहने वाले वैमानिक देवों का स्वरूप, उनके भोग-वैभव की विस्तृत चर्चा के साथ-साथ सिद्धों का स्थान एवं उनके स्वरूप की चर्चा की जायेगी। साथ ही अन्त में देवों के भोगों को दुःख रूप बताकर जगत् जनों को भोग/विषय/तृष्णा से दूर कराना हमारा मूल प्रयोजन होगा।

ऊर्ध्वलोक सामान्य

सुमेरु पर्वत की चूलिका से ऊपर उत्तरकुरू (उत्तम भोगभूमि) क्षेत्रवर्ती मनुष्य के बाल के अग्रभाग प्रमाण अन्तराल से ऊर्ध्वलोक प्रारंभ होता है।[1] सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक मृदंग के आकार वाला है।[2] जो कि मेरुतल से सिद्धलोक पर्यंत है, जिसका प्रमाण 7 राजू है।[3] इसमें से मेरु प्रमाण अर्थात् 1 लाख 40 योजन का मध्यलोक है, इससे उत्तम भोगभूमिज मनुष्य के एक बाल ऊपर स्वर्ग का प्रारंभ है। लोक के अंत में 1575 धनुष प्रमाण तनुवातवलय, 1 कोस प्रमाण घनवातवलय और 2 कोस प्रमाण घनोदधि वातवलय है[4] अर्थात् 425 धनुष कम एक योजन क्षेत्र में तीनों वातवलय हैं। इसके नीचे सिद्धशिला है, जो 8 योजन मोटी है। इससे 12 योजन नीचे सर्वार्थसिद्धि का ध्वजदण्ड हैं। इसप्रकार लोकान्त से 425 धनुष कम 21 योजन नीचे और मेरुतल से एक लाख चालीस योजन एक बाल रहित सात राजू प्रमाण आकाश में ऊर्ध्व-ऊर्ध्व स्वर्ग पटल स्थित हैं।[5]

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/8 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 4/19/225 (3) हरिवंश पुराण, 6/35/89
   (4) त्रिलोकसार, गाथा- 470 (5) द्रव्यसंग्रह, गाथा-35, टीका
2. (1) तिलोयपण्णत्ती 1/169 (2) हरिवंश पुराण, 4/6 (3) लोकविभाग, 1/6
3. तिलोयपण्णत्ती, 8/6-7 का विशेषार्थ
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 1/276 (2) हरिवंश पुराण, 4/41 (3) लोकविभाग, 8/14 व 11/5
5. तिलोयपण्णत्ती, 8/6-7

ऊर्ध्वलोक का पूर्व-पश्चिम विस्तार प्रारम्भ और अन्त में एक-एक राजू व मध्य में 5 राजू है। ऊँचाई 7 राजू तथा उत्तर-दक्षिण लम्बाई भी 7 राजू है।[1] सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक का घनफल 147 घनराजू प्रमाण है।[2]

ऊर्ध्वलोक में पटल

जैसे नरकों में पटल होते हैं, वैसे ही स्वर्गों में भी पटल होते हैं। स्वर्गों में कल्प और कल्पातीत के भेद से दो प्रकार के पटल हैं। कुल 63 पटल हैं, जिनमें 52 कल्प पटल और 11 कल्पातीत पटल हैं।[3]

तिर्यक्रूप बरोबरि क्षेत्र विषैं जहाँ विमान पाईए ताका नाम पटल है[4] अर्थात् जिस समान क्षेत्र में विमान होते हैं, वह पटल है। जैसे यहाँ मध्यलोक में एक महल के मध्य पृथक्-पृथक् छत-सहित दो, तीन आदि खण्ड होते हैं, उसी प्रकार वहाँ ऊर्ध्वलोक में प्रथम युगल के इकतीस पटल, दूसरे युगल के सात, तीसरे युगल के चार, चौथे युगल के दो, पाँचवें और छठवें युगल का एक-एक, सातवें युगल के तीन, आठवें युगल के तीन, नौ ग्रैवेयिक के नौ, नौ अनुदिश का एक, पाँच अनुत्तर का एक - इसप्रकार कुल तिरेसठ पटल हैं। इनके मध्य परस्पर असंख्यात योजनों का अन्तर है।

कल्प पटल - जिनमें इन्द्र आदि 10 प्रकार कल्पे जाते हैं, वे कल्प कहलाते हैं।[5] ग्रैवेयकों से पहले तक कल्प हैं।[6] यद्यपि इन्द्रादिक की कल्पना भवनवासियों में भी संभव है, फिर भी रूढ़ि से कल्प शब्द का व्यवहार वैमानिकों में ही किया जाता है।[7] मनुष्यलोक में जिसप्रकार राजा, राज-परिवार, मंत्री आदि का व्यवहार प्रचलित है, उसीप्रकार इन स्वगों में भी ऐसा व्यवहार होने से इन्हें कल्प कहते हैं। एक दृष्टि से स्वर्ग और कल्प एकार्थवाची हैं।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 1/192
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 1/171 व 215 (2) चर्चाशतक, छंद-13
3. तिलोयपण्णत्ती, 8/114
4. त्रिलोकसार भाषा वचनिका गाथा 476 टीका, पृ. 213
5. सर्वार्थसिद्धि 4/3/447 पृ. 179
6. 'प्राग्ग्रैवेयकेभ्य: कल्पा:' - तत्त्वार्थसूत्र 4/23
7. (1) सर्वार्थसिद्धि, 4/3/447/179 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 4/3/212 व 4/17/223

कोई आचार्य कल्पों की संख्या बारह और कोई सोलह बतलाते हैं।[1] जो आचार्य बारह कल्प स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार अधो, मध्य और उपरिम भाग में से प्रत्येक में चार-चार कल्प हैं। सोलह कल्पों की मान्यतानुसार आठ युगलों में सोलह कल्प हैं।[2] ये कल्प युगल और पटल ऊपर-ऊपर हैं।[3] वे ज्योतिषी देवों के समान तिर्यक् और व्यंतरों के समान जहाँ-तहाँ विषम रूप भी अवस्थित नहीं हैं। तिलोयपण्णत्ती में आचार्यदेव ने दोनों मान्यतानुसार कल्पों का वर्णन किया है। यहाँ हमें तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार 16 कल्पों की प्रचलित मान्यता वाला वर्णन ही अभीष्ट है।

कल्पातीत पटल – इन्द्र-सामानिक आदि 10 प्रकार की कल्पनाओं से रहित कल्पातीत पटल हैं।[4] कल्पातीत पटल तीन प्रकार से कहे गये हैं – ग्रैवेयक, अनुदिश और अनुत्तर।[5] कल्पातीत विमानों (पटलों) में अहमिन्द्र देव रहते हैं। यहाँ स्वामी-सेवक का भेद नहीं है, सभी स्वयं इन्द्र हैं, अत: इन्हें अहमिन्द्र कहते हैं।

सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत – ये सोलह कल्प हैं। उनसे ऊपर नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर – ये 23 कल्पातीत विमान हैं।[6]

कल्प और कल्पातीत पटलों की अवस्थिति – मध्यलोक की सम भूमि से डेढ़ राजू ऊपर प्रथम युगल का अन्तिम इकतीसवाँ पटल है। उससे ऊपर डेढ़ राजू में दूसरा युगल है। उससे ऊपर आधे राजू में तीसरा युगल, उससे ऊपर आधे राजू में चौथा युगल, उससे ऊपर आधे राजू में पाँचवाँ युगल, उससे ऊपर आधे राजू में छठवाँ युगल, उससे ऊपर आधे राजू में सातवाँ युगल, उससे ऊपर आधे राजू में आठवाँ युगल है; इसप्रकार छह राजू की ऊँचाई में सोलह स्वर्ग हैं। इनसे ऊपर कुछ कम एक राजू में नौ ग्रैवेयिक, नौ अनुदिश, पाँच अनुत्तर विमान और सिद्ध शिला है।[7]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 8/115 पूर्वार्द्ध
2. वहीं, 8/116
3. तत्त्वार्थसूत्र 4/18
4. सर्वार्थसिद्धि, 4/17/475, पृ. 187
5. तिलोयपण्णती, 8/115 (उत्तरार्द्ध), 117
6. (1) तत्त्वार्थसूत्र, 4/19 व 23 (2) तिलोयपण्णत्ती, 8/127-128 (3) हरिवंश पुराण, 6/36-40 (4) लोकविभाग, 10/16-20 (5) बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35 टीका, पृ. 158
7. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/118-119, 131-135 (2) बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35 टीका, पृ. 158-159

ये सभी कल्प और कल्पातीत विमान पटलों के रूप में स्थित हैं। ऊर्ध्वलोक के 63 पटलों के नाम एवं उनके अवस्थान की चर्चा अनेक ग्रन्थों में मिलती है। सभी का आधार लेकर यहाँ उनका संक्षिप्त स्वरूप बताया जा रहा है।[1]

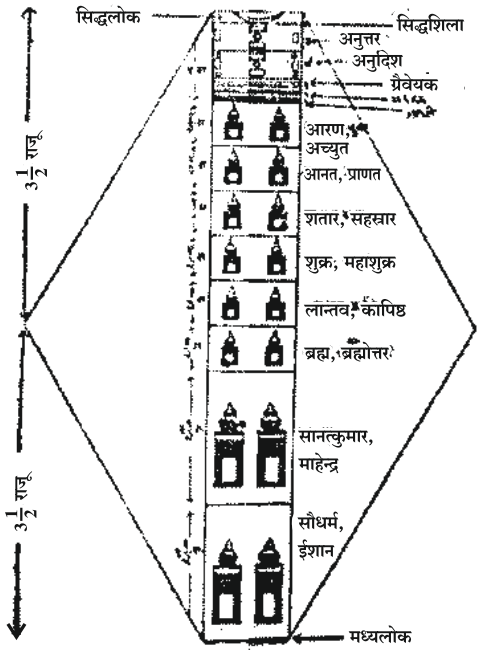

मध्यलोक से निन्यानवे हजार चालीस योजन ऊपर आकाश में सौधर्म और ईशान – ये दो कल्प हैं। इनके ऋजु, चन्द्र, विमल, वल्गु, वीर, अरुण, नन्दन, नलिन, कांचन, रोहित, चंचत्, मरुत् ऋद्धीश, वैडूर्य, रुचक, रुचिर, अंक, स्फटिक, तपनीय, मेघ, अभ्र, हरिद्र, पद्म, लोहित, वज्र, नन्द्यावर्त, प्रभंकर, पृष्ठक, गज, मित्र, प्रभ – ये इकतीस पटल हैं। इनमें से प्रथम पटल का मध्यवर्ती, पैंतालीस लाख योजन चौड़ा, ऋजु नामक इन्द्रक विमान, मेरु की चूलिका से ऊपर एक बाल के अन्तर सहित स्थित है।

इससे असंख्यात योजन ऊपर जाकर सानत्कुमार, माहेन्द्र – ये दो कल्प हैं। इनके अंजन, वनमाल, नाग, गरुड़, लांगल, बलभद्र, चक्र – ये सात पटल हैं। इससे असंख्यात योजन ऊपर जाकर ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर – ये दो कल्प हैं। इनके अरिष्ट, सुरस, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर – ये चार पटल हैं। इससे भी असंख्यात योजन ऊपर जाकर लान्तव, कापिष्ठ – ये दो कल्प हैं। इनके ब्रह्महृदय और लान्तव – ये दो पटल हैं।

इस चौथे युगल से असंख्यात योजन ऊपर जाकर शुक्र, महाशुक्र – ये दो कल्प हैं। इनका शुक्र नामक एक ही पटल है। इससे भी असंख्यात योजन ऊपर शतार, सहस्रार – ये दो कल्प हैं। इनका भी शतार नामक एक ही पटल है। इससे भी असंख्यात योजन ऊपर जाकर आनत, प्राणत – ये दो कल्प हैं। इनके आनत, प्राणत, पुष्पक – ये तीन पटल हैं। इससे भी असंख्यात योजन ऊपर जाकर आरण, अच्युत – ये दो कल्प हैं। इनके शांतकर, आरण, अच्युत – ये तीन पटल हैं। इसप्रकार आठ युगल संबंधी 16 स्वर्ण और 52 पटल हैं।

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/12-17 (2) हरिवंश पुराण 6/44-54
   (3) त्रिलोकसार, गाथा-464-469 (4) लोकविभाग, 10/25-35

इनसे भी असंख्यात योजन ऊपर नौ ग्रैवेयिक हैं। इनके सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुद्ध, यशोधर, सुभद्र, सुविशाल, सुमनस, सौमनस, प्रीतिङ्कर - ये नौ पटल हैं। नौ ग्रैवेयिक से भी असंख्यात योजन ऊपर जाकर नौ अनुदिश का आदित्य नामक एक पटल है। उससे भी असंख्यात योजन ऊपर जाकर पाँच अनुत्तर विमान हैं। इनका सर्वार्थसिद्धि नामक एक ही पटल है। इसप्रकार वैमानिकों के कुल त्रेसठ पटल हैं। अपने-अपने पटल का नाम ही इन्द्रक विमान का नाम है। त्रेसठ पटलों संबंधी उसी नाम वाले कुल 63 इन्द्रक विमान हैं।

स्वर्गों के विमान

बलभि और कूट से युक्त प्रासाद विमान कहलाते हैं।[1] अथवा जिनमें रहनेवाले जीवों को विशेष पुण्यात्मा माना जाता है, वे विमान हैं और विमानों में रहने के कारण ही ये देव वैमानिक कहलाते हैं।[2]

विमानों के भेद/प्रकार – विमानों के भेद दो आधार पर किये जा सकते हैं -

(1) रचना की अपेक्षा (2) विस्तार की अपेक्षा

रचना की अपेक्षा विमानों के भेद – रचना की अपेक्षा विमान इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और पुष्प-प्रकीर्णक - इन तीन भेद रूप है।[3] इन्द्रक विमान इन्द्र के समान सभी के मध्य में है। अपने-अपने पटलों के बीच में जो एक-एक विमान पाया जाता है, उसे इन्द्रक विमान कहते हैं।[4] उसकी चारों दिशाओं में आकाश के प्रदेशों की श्रेणी रूप सीधी पंक्ति में स्थित विमान श्रेणीबद्ध विमान कहलाते हैं और चारों दिशाओं के मध्यवर्ती अन्तराल रूप विदिशाओं में यहाँ-वहाँ बिखरे हुए पुष्प के समान स्थित विमान पुष्प-प्रकीर्णक कहलाते हैं।[5]

प्रत्येक विमान के चारों ओर रत्नमयी दीवाल है। वह ऊपर अन्त में शिखरपर्यन्त गोलाकार है। यहाँ मध्य लोकवर्ती जिन-मंदिर के गोलाकार शिखर समान इन विमानों के शिखर भी गोलाकार रत्नमयी हैं। इन विमानों में महल, मन्दिर सहित नगरियाँ, कल्पवृक्ष, वन, बाग, बावड़ी आदि अनेक वस्तुओं की रचना है।

---

1. धवला, 14/5-6, 641/495/6, साभार - जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-3, पृ. 563
2. (1) सर्वार्थसिद्धि 4/16/473 पृ. 186 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 4/16, पृ. 222
3. (1) सर्वार्थसिद्धि 4/16/473-पृ. 186 (2) तत्वार्थ राजवार्तिक, 4/16, पृ. 222
4. त्रिलोकसार भाषा वचनिका, गाथा- 476 टीका, पृ. 213
5. तिलोयपण्णत्ती, 8/168

विस्तार की अपेक्षा विमानों के भेद – विस्तार की अपेक्षा विमान दो प्रकार के हैं – संख्यात योजन वाले और असंख्यात योजन वाले।[1] इन्द्रक विमान संख्यात योजन चौड़े, श्रेणीबद्ध विमान असंख्यात योजन चौड़े[2] और पुष्प-प्रकीर्णक संख्यात और असंख्यात दोनों प्रकार की चौड़ाई वाले हैं।[3]

विमानों की संख्या – पहले सौधर्म स्वर्ग में बत्तीस लाख विमान, दूसरे ईशान में अट्ठाईस लाख, तीसरे सानत्कुमार में बारह लाख, चौथे माहेन्द्र में आठ लाख, पाँचवें ब्रह्म और छठवें ब्रह्मोत्तर में चार लाख, सातवें लान्तव और आठवें कापिष्ठ में पचास हजार, नौवें शुक्र और दशवें महाशुक्र में चालीस हजार, ग्यारहवें शतार और बारहवें सहस्रार में छह हजार; तेरहवें से सोलहवें पर्यन्त क्रमशः आनत, प्राणत, आरण, अच्युत – इन चार में सात सौ विमान हैं।[4]

तीन अधो ग्रैवेयिक में एक सौ ग्यारह, तीन मध्य ग्रैवेयिक में एक सौ सात, तीन ऊर्ध्व ग्रैवेयिक में इक्यानवे विमान हैं। नौ अनुदिश के नौ विमान हैं। पाँच अनुत्तर के पाँच विमान हैं।[5] इसप्रकार ऊर्ध्वलोक में समस्त वैमानिकों के कुल चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस विमान हैं। प्रत्येक विमान में उत्कृष्ट रचना सहित एक-एक जिन-मन्दिर होने से वहाँ इतने ही चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस जिन-मंदिर हैं।[6]

इन सभी स्वर्गों में इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक विमानों की संख्या पृथक्-पृथक् बताई गई है। तिलोयपण्णत्ती तथा हरिवंश पुराण व लोकविभाग में श्रेणीबद्ध व प्रकीर्णक विमानों की संख्या में अन्तर मिलता है। तिलोयपण्णत्ती के अनुसार ऊर्ध्वलोक में कुल 7816 श्रेणीबद्ध विमान हैं,[7] जबकि हरिवंश पुराण एवं लोक विभाग के अनुसार कुल श्रेणी बद्ध विमानों की संख्या 8127 है।[8] इसी तरह प्रत्येक स्वर्ग के श्रेणीबद्ध व प्रकीर्णक विमानों की संख्या में अन्तर है। सभी विमानों की कुल संख्या समान ही है।

---

1. तिलोयपण्णती, 8/186
2. वहीं, 8/107
3. वहीं, 8/111
4. (1) तिलोयपण्णती, 8/149-151 (2) हरिवंश पुराण, 6/55-61 (3) लोकविभाग, 10/36-42
5. (1) तिलोयपण्णती, 8/153-154 (2) हरिवंश पुराण, 6/62-65 (3) लोकविभाग 10/44-48
6. (1) हरिवंश पुराण, 6/41 (2) लोकविभाग, 10/21 (3) चर्चा शतक, छन्द-53
7. तिलोयपण्णती, 8/161 से 167
8. (1) हरिवंशपुराण, 6/66-73 (2) लोकविभाग, 10/60

विमानों का स्वामित्व (आज्ञा) – पहले युगल संबंधी इकतीस पटलों के सभी इन्द्रक; पूर्व, दक्षिण, पश्चिम – इन तीन दिशा संबंधी श्रेणी-बद्ध, पूर्व-दक्षिण दिशा के मध्य नैऋत्य, दक्षिण-पश्चिम दिशा के मध्य आग्नेय संबंधी प्रकीर्णक विमानों में दक्षिणेन्द्र सौधर्म की आज्ञा प्रवर्तती है।

शेष रहे उत्तर दिशा के श्रेणी-बद्ध, पश्चिम-उत्तर दिशा के मध्य वायव्य, उत्तर-पूर्व दिशा के मध्य ईशान विदिशा संबंधी प्रकीर्णक विमानों में उत्तरेन्द्र ईशान की आज्ञा प्रवर्तती है। सौधर्मेन्द्र की आज्ञा वाले विमान सौधर्म स्वर्ग और ईशान इन्द्र की आज्ञा वाले विमान ईशान स्वर्ग हैं।[1] जैसे यहाँ मध्यलोक में एक नगर की पृथक्-पृथक् पट्टी/बस्ती के वार्ड/मोहल्ला में स्वामी के नाम की अपेक्षा पृथक्-पृथक् नाम हो जाते हैं, उसी प्रकार एक युगल में दो स्वर्ग जानना।

इसी प्रकार तीसरे स्वर्ग में दक्षिणेन्द्र सानत्कुमार की, चौथे स्वर्ग में उत्तरेन्द्र माहेन्द्र की आज्ञा प्रवर्तती है। इससे आगे ब्रह्म ब्रह्मोत्तर नामक तीसरे युगल; लान्तव, कापिष्ठ नामक चौथे युगल; शुक्र, महाशुक्र नामक पाँचवें युगल; शतार, सहस्रार नामक छठवें युगल – इन चार युगलों में एक-एक ही इन्द्र है; पहले, दूसरे युगल के समान दो-दो इन्द्र नहीं हैं। यहाँ बस्ती की अपेक्षा दो नाम हैं, इन्द्र की अपेक्षा नहीं। जैसे यहाँ नगर का एक स्वामी होने पर भी एक बस्ती के पृथक्-पृथक् पट्टी की अपेक्षा पृथक्-पृथक् नाम हो जाते हैं; उसी प्रकार इनमें भी दो-दो स्वर्ग संबंधी एक-एक ही इन्द्र है।

इससे आगे प्रत्येक युगल के दो-दो इन्द्र हैं। उनमें से तेरहवें आनत और पन्द्रहवें आरण स्वर्ग में दक्षिणेन्द्र तथा चौदहवें प्राणत और सोलहवें अच्युत स्वर्ग में उत्तरेन्द्र हैं। सौधर्म, सानत्कुमार, ब्रह्म, शुक्र, आनंत, आरण – ये छह दक्षिणेन्द्र एक भवावतारी हैं; परन्तु ईशान, माहेन्द्र, कापिष्ठ, सहस्रार, प्राणत, अच्युत – इन छह उत्तरेन्द्रों का एक भवावतारी संबंधी नियम नहीं है।[2]

विमानों का विस्तार – पहला ऋजु नामक इन्द्रक विमान मनुष्यलोक प्रमाण पैंतालीस लाख योजन चौड़ा है। अन्तिम त्रेसठवाँ सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक विमान जम्बूद्वीप के समान एक लाख योजन चौड़ा है।[3] कल्पवासी और कल्पातीत देवों संबंधी सभी विमानों

1. तिलोयपण्णती, 8/137-138
2. तिलोयपण्णत्ती, 8/699
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/18 (2) लोकविभाग, 10/68

के पाँच भाग करने पर उनमें से एक भाग प्रमाण विमान संख्यात योजन चौड़े तथा अवशेष चार भाग प्रमाण विमान असंख्यात योजन चौड़े हैं। जैसे पहले सौधर्म स्वर्ग संबंधी बत्तीस लाख विमानों में से छह लाख चालीस हजार विमान संख्यात योजन चौड़े और पच्चीस लाख साठ हजार विमान असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। इसीप्रकार क्रमश: अन्तपर्यन्त सर्वत्र लगा लेना।[1]

इसप्रकार ऊर्ध्वलोक संबंधी चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस विमानों में से सोलह लाख निन्यानवे हजार चार सौ पाँच विमान संख्यात योजन और सड़सठ लाख सत्तानवे हजार छह सौ अठारह विमान असंख्यात योजन चौड़े हैं।

विमानों की मोटाई/तल बाहल्य – पहले सौधर्म स्वर्ग से लेकर बारहवें सहस्रार पर्यन्त छह युगलों के छह स्थान, तेरहवें आनत से लेकर सोलहवें अच्युत पर्यन्त दो युगलों का एक स्थान, नौ ग्रैवेयिक के तीन स्थान, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर का एक स्थान – इन ग्यारह स्थानों संबंधी विमान के नीचे तली में भूमि की मोटाई प्रारम्भ में 1,121 योजन है। इससे ऊपर क्रमश: 99-99 योजन कम हुई है।

इसप्रकार पहले स्थान वाले विमान में मोटाई एक हजार एक सौ इक्कीस योजन, दूसरे में एक हजार बाईस योजन, तीसरे में नौ सौ तेईस योजन, चौथे में आठ सौ चौबीस योजन, पाँचवें में सात सौ पच्चीस योजन, छठवें में छह सौ छब्बीस योजन, सातवें में पाँच सौ सत्ताईस योजन, आठवें में चार सौ अट्ठाईस योजन, नौवें में तीन सौ उन्तीस योजन, दशवें में दो सौ तीस योजन और ग्यारहवें स्थान वाले विमान में मोटाई एक सौ इकतीस योजन है। इस मोटाई के ऊपर नगरी, मन्दिर आदि अनेक वस्तुओं की रचना है।[2]

विमानों का आधार – सौधर्म और ईशान स्वर्ग के विमान घनोदधि वात के आधार से हैं, सानत्कुमार और माहेन्द्र के विमान घन वातवलय के आधार से हैं, आगे के आठ कल्प अर्थात् सहस्रार स्वर्ग तक के विमान घनोदधि और घनवात दोनों के आधार तथा शेष विमान आकाश के आधार से हैं।[3]

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/186, 187 व 192 (पूर्वार्द्ध) (2) लोकविभाग 10/49-54
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/198-202 (2) हरिवंशपुराण, 6/92-93
   (3) लोकविभाग, 10/73
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/206-207 (2) हरिवंश पुराण, 6/99-100

विमानों का वर्ण – सौधर्म और ईशान के विमान कृष्ण, नील, रक्त, पीत, श्वेत – पाँचों वर्णमय हैं। सानत्कुमार और माहेन्द्र के कृष्ण-बिना शेष चार वर्णी; ब्रह्म से लेकर कापिष्ठ पर्यन्त रक्त, पीत, श्वेत – तीन वर्णी, शुक्र से सहस्रार पर्यन्त पीत और श्वेत – दो वर्णी; आनत से लेकर अच्युत पर्यन्त मात्र श्वेत-वर्णी; कल्पातीत सभी विमान अति उज्ज्वल, शुक्ल रूप श्वेत-वर्णी हैं।[1]

देवों का स्वरूप –

देव शब्द दिव् धातु से बना है, जिसके क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद आदि अनेक अर्थ होते हैं। अतएव निरुक्ति के अनुसार जो मनुष्यों में न पाये जा सकने वाले प्रभाव से युक्त हैं तथा कुलाचलों पर वनों में या महासमुद्रों में सपरिवार विहार (क्रीड़ा) किया करते हैं। बलवानों को भी जीतने का भाव रखते हैं। पंच परमेष्ठियों और अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालयों आदि की स्तुति वन्दना किया करते हैं। सदा पंचेन्द्रिय विषय-भोगों से मुदित रहा करते हैं, जो विशिष्ट दीप्ति धारण करनेवाले हैं, जिनका शरीर धातुमल दोष रहित (वैक्रियक) तथा अविच्छिन्न रूप लावण्य से युक्त सदा यौवन अवस्था में रहा करता है तथा जो अणिमा आदि आठ प्रकार की ऋद्धियों को धारण करनेवाले हैं, उनको देव कहते हैं।[2] यह देव पर्याय का बहिरंग स्वरूप है। सर्वार्थसिद्धि में देवपर्याय के अंतरंग कारण की भी चर्चा करते हुये आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं – देव गति नामकर्म के उदय रूप अभ्यन्तर कारण के होने पर जो नाना प्रकार की बाह्य विभूति से द्वीप-समुद्रादि अनेक स्थानों में इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं, वे देव कहलाते हैं।[3] इसप्रकार देवायु और देव गति नामकर्म के उदय से प्राप्त पर्याय को धारण करनेवाले जो संसारी जीव हैं, वे सब देव हैं।

देव चार प्रकार के होते हैं[4]- भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिष देवों की चर्चा हम पूर्व अध्यायों में कर आये हैं, अब यहाँ ऊर्ध्वलोक के वैमानिक देवों की चर्चा ही अभीष्ट है।

जिसप्रकार ऊर्ध्वलोक में कल्प पटल और कल्पातीत पटल ऐसे दो प्रकार के पटल हैं, उसीप्रकार उनमें रहनेवाले वैमानिक देव भी कल्पोपपन्न और कल्पातीत ऐसे दो प्रकार के

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/203-205 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 4/19, पृ. 235
   (3) हरिवंश पुराण, 6/96-98 (4) लोकविभाग, 10/79-80
2. (1) रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-37 (2) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा-151
3. (1) सर्वार्थसिद्धि, 4/1/443, पृ. 177 (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 4/1/1, पृ. 211
4. 'देवाश्चतुर्णिकाया: - तत्त्वार्थसूत्र, 4/1

हैं।[1] इन्द्र आदि की कल्पना सहित जो सोलह स्वर्ग हैं, उनमें उत्पन्न देव कल्पोपपन्न हैं तथा इन्द्र-सामानिक आदि भेदों की कल्पना से रहित नौ ग्रैवेयक आदि में उत्पन्न अहमिन्द्र देव कल्पातीत हैं।

देवों के अधिपति (इन्द्र) – **'इन्दतीति इन्द्रः'** अर्थात् जो आज्ञा और ऐश्वर्य वाला है, वह इन्द्र है।[2] तिलोयपण्णत्ती में कहा है – **'इंदा राय– सरिच्छा..'**[3] अर्थात् इन्द्र राजा के समान होता है। जैसे चक्रवर्ती राजा समस्त मनुष्यों का स्वामी होता है, वैसे ही अपने स्वर्ग में रहने वाले सभी देवों का स्वामी इन्द्र है। जो अन्य देवों में नहीं पाई जाने वाली असाधारण अणिमा, महिमा आदि अनेक ऋद्धियों से संयुक्त हैं – वे इन्द्र हैं।[4]

इन्द्रों का परिवार – मनुष्यों के समान ही प्रत्येक इन्द्र का परिवार होता है, जिनमें अनेक देव-देवियाँ होते हैं। प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, लोकपाल (दिशा इन्द्र), आत्मरक्ष (तनुरक्षक), पारिषद्, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक – ये दस जाति के देव प्रत्येक इन्द्र के परिवार देव होते हैं।[5]

(1) प्रतीन्द्र – इन्द्र राजा के समान और प्रतीन्द्र युवराज के समान होते हैं। प्रतीन्द्र का प्रमाण (संख्या) इन्द्रों के समान ही है।[6]

(2) सामानिक – जिनके इन्द्र के समान आज्ञा और ऐश्वर्य तो नहीं होता, परन्तु आयु, वीर्य, परिवार, भोग और उपभोग आदि इन्द्रवत् होते हैं, वे सामानिक कहलाते हैं। ये पिता, गुरु और उपाध्याय के समान सबसे बड़े होते हैं।[7] इनकी सभी वस्तुएँ इन्द्र के समान होती हैं, अतः इन्हें सामानिक कहते हैं। तिलोयपण्णत्ती में सामानिक देवों को कलत्र तुल्य बताया है।[8]

---

1. तत्त्वार्थसूत्र, 4/17
2. सर्वार्थसिद्धि 1/14/185, पृ. 77
3. तिलोयपण्णत्ती, 3/64
4. सर्वार्थसिद्धि 4/4/449, पृ. 179
5. (1) तत्त्वार्थसूत्र, 4/4 (2) तिलोयपण्णत्ती, 3/62-63, 8/215
6. 'जुवराजसमा हवंति पडिइंदा' 'इंद-समा पडिइंदा..' – तिलोयपण्णत्ती, 3/64 व 68
7. सर्वार्थसिद्धि, 4/4/449, पृ. 179
8. तिलोयपण्णत्ती, 3/64 (उत्तरार्द्ध)

(3) त्रायस्त्रिंश – इन्द्र के लिये मंत्री, पुरोहित के समान शिक्षा देनेवाले देव – त्रायस्त्रिंश है।[1] ये संख्या में 33 ही होते हैं, इसलिये त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं।[2] तिलोयपण्णत्ती एवं लोकविभाग में त्रायस्त्रिंश देवों को पुत्र सदृश बताया है।[3]

आयु, ऋद्धि, परिवार और विक्रिया का प्रमाण जिसप्रकार इन्द्रों के कहा गया है, उसीप्रकार वह सब उनके प्रतीन्द्रों, त्रायस्त्रिंशों और सामानिकों के भी जानना चाहिये।[4]

(4) पारिषद् – जो सभा में मित्र और प्रेमीजनों के समान होते हैं, वे पारिषद् कहलाते हैं।[5] इन्द्र का अनुमोदन करनेवाले सभासद के समान देव पारिषद् हैं। राजा की बाह्य, मध्य और अभ्यन्तर समिति के सदृश देवों में भी तीन प्रकार की पारिषद् होती है।[6]

(5) आत्मरक्ष – आत्मरक्ष (तनुरक्षक) देव राजा के अंग-रक्षक के समान होते हैं।[7] जैसे यहाँ शस्त्रधारी सुभट राजा के पीछे खड़े रहते हैं, उसीप्रकार स्वर्ग में इन्द्र के पीछे बख्तर पहनकर अपने हाथ में शस्त्र लेकर आत्मरक्षक देव खड़े रहते हैं। यद्यपि देव पर्याय में किसी शत्रु का भय नहीं है, तथापि इन्द्र की ऋद्धि और उसके वैभव की महिमा बताने के लिये आत्मरक्षक देव शस्त्र धारण करते हैं।

(6) लोकपाल – 'लोकं पालयन्तीति लोकपालाः'[8] अर्थात् जो लोक का पालन करते हैं, जो रक्षक के समान अर्थचर हैं, वे लोकपाल कहलाते हैं। अपने स्वर्ग की पूर्वादि चारों दिशाओं में क्रमशः सोम, यम, वरुण और कुबेर – ये चार देव कोतवाल/थानेदार/तंत्रपाल के समान होते हैं।[9] जैसे यहाँ कोतवाल कुमार्ग की प्रवृत्ति का निषेध करता है, उसीप्रकार वहाँ लोकपाल देव जानना।

---

1. सर्वार्थसिद्धि, 4/4/449, पृ. 179
2. (1) 'तेतीस-सुरा हवंति तेत्तीसं' – तिलोयपण्णत्ती, 8/223 (पूर्वार्द्ध), तिलोयपण्णत्ती, 3/68 (पूर्वार्द्ध)
   (2) सर्वार्थसिद्धि, 4/4/449, पृ. 179
3. (1) तिलायपण्णत्ती, 3/64 (2) लोकविभाग, 10/153
4. लोक विभाग 10/182
5. सर्वार्थसिद्धि 4/4/449, पृ. 179/
6. तिलोयपण्णत्ती, 3/66 पूर्वार्द्ध
7. (1) तिलोयपण्णत्ती, 3/65 (उत्तरार्द्ध) (2) सर्वार्थसिद्धि, 4/4/449, पृ. 179
8. सर्वार्थसिद्धि, 4/4/449, पृ. 179
9. (1) तिलोयपण्णती, 8/223 (उत्तरार्द्ध), 3/65 (पूर्वार्द्ध) (2) लोकविभाग, 10/196

(7) अनीक – जैसे यहाँ सेना है, उसीप्रकार सात प्रकार की सेना तुल्य अनीक देव होते हैं।[1] जैसे– यहाँ हाथी, घोड़ा, रथ, प्यादा – यह चार प्रकार की सेना होती है, उसीप्रकार स्वर्ग में हाथी, घोड़ा, प्यादा, रथ, गन्धर्व, नर्तकी और वृषभ – ये सात प्रकार की सेना रूप देव अनीक हैं।[2]

(8) प्रकीर्णक – गाँव और शहरों में रहनेवालों के समान स्वर्ग में निवास करनेवाले इन्द्र के देव प्रकीर्णक कहलाते हैं।[3] प्रकीर्णक नगर की सामान्य प्रजा के समान होते हैं। इनके लिये तिलोयपण्णत्ती में 'पुरजन'[4] शब्द का प्रयोग किया है। ये सब ओर फैलकर रहते हैं, अतः प्रकीर्णक कहलाते हैं।

(9) आभियोग्य – जो दास के समान वाहन आदि कर्म में प्रवृत्त होते हैं, वे आभियोग्य कहलाते हैं।[5] जैसे– वहाँ राजा की गाड़ी, रथ आदि सवारी होती है, उसीप्रकार स्वर्ग में आभियोग्य जाति के देव गाड़ी, रथ, हाथी, घोड़ा इत्यादि अनेक सवारी रूप होकर इन्द्र की सेवा करते हैं।

(10) किल्विषिक – किल्विष पाप को कहते हैं, इसकी जिनके बहुलता होती है, ऐसे सीमा के पास (नगर के अंत में) रहनेवाले देव किल्विषिक कहलाते हैं।[6] ये देव इन्द्र की सभा में प्रवेश के अधिकार से रहित होते हैं तथा चाण्डाल के समान होते हैं।[7] इन देवों के देवगति नामकर्म रूप पुण्य का उदय होने पर भी ऐसा ही पाप कर्म का उदय है, जिससे देवगति में भी नीच होते हैं।

(11) देवियाँ – इन 10 प्रकार के परिवार देवों के अलावा इन्द्र के परिवार में अनेक प्रकार की देवियाँ होती हैं। ज्येष्ठ देवियाँ, उनकी परिवार देवियाँ, वल्लभाएँ, प्राणवल्लभा, महत्तरी आदि अनेक प्रकार की देवियाँ इन्द्रों के होती हैं। प्रतीन्द्र, सामानिक और त्रायस्त्रिंश–

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 3/66 (उत्तरार्द्ध) (2) सर्वार्थसिद्धि 4/4/449, पृ. 179
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/235 (2) लोकविभाग, 10/183
3. सर्वार्थसिद्धि 4/4/449, पृ. 179
4. तिलोयपण्णती, 3/66 (उत्तरार्द्ध)
5. (1) तिलोयपण्णती, 3/67 (पूर्वार्द्ध) (2) सर्वार्थसिद्धि, 4/4/449, पृ. 179
6. सर्वार्थसिद्धि 4/4/449, पृ. 179
7. तिलोयपण्णत्ती, 3/67

इन तीनों की देवियाँ संख्या, नाम, विक्रिया और ऋद्धि - इन चार बातों में अपने-अपने इन्द्र की देवियों के समान ही हैं।[1] सभी प्रकार के परिवार देवों की अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् देवियाँ होती हैं। इन सब के नाम, संख्या आदि का विस्तृत वर्णन तिलोयपण्णत्ती 8/305 से 332 तथा 382 से 390 तक दिया गया है।

सौधर्म स्वर्ग - तत्त्वार्थसूत्र अध्याय-4, तिलोयपण्णत्ती अध्याय-8, सर्वार्थसिद्धि अध्याय-4, हरिवंश पुराण सर्ग-6, तत्त्वार्थ राजवार्तिक अध्याय-4, लोकविभाग अध्याय-10 आदि ग्रन्थों में 16 कल्पों और कल्पातीत विमानों तथा इन्द्रों के वैभव का विस्तृत वर्णन है। यहाँ हम सौधर्म इन्द्र के वैभव का पृथक् रूप से तथा शेष इन्द्रों के वैभव का सम्मिलित रूप से वर्णन कर रहे हैं।

सौधर्म इन्द्र का वैभव - सौधर्म स्वर्ग के इकतीस पटलों में बत्तीस लाख विमान हैं, जिनमें सौधर्म इन्द्र की आज्ञा चलती है। उसके चौरासी हजार सामानिक देव[2], इससे चौगुने तीन लाख छत्तीस हजार अंगरक्षक देव[3] हैं। सभी इन्द्रों के 33 त्रायस्त्रिंश देव तथा सोम, यम, वरुण, कुबेर - ये चार लोकपाल[4] तथा बैल, घोड़ा, रथ, हाथी, प्यादा, गन्धर्व और नृत्यकारिणी - ये सात प्रकार की सेना होती है।[5]

सौधर्म इन्द्र के कुल एक लाख साठ हजार देवियाँ होती हैं,[6] जिनमें शची, पद्मा आदि आठ महापट्ट (ज्येष्ठ) देवियाँ[7] और बत्तीस हजार वल्लभिका देवियाँ हैं।[8] राजा की पटरानी के समान महापट्ट देवियाँ और सम्पूर्ण परिवार में अधिक प्यारी लगने वाली रानी के समान वल्लभिका देवियाँ हैं। इनकी आयु पाँच पल्य है।[9] प्रत्येक महादेवी स्वयं-सहित परिवार की अन्य सोलह हजार देवियों से घिरी रहती है[10] अथवा इसमें मूल शरीर सहित सोलह हजार विक्रिया रूप शरीर बनाने की सामर्थ्य है।[11]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 8/320
2. वहीं, 8/219
3. वहीं, 5/224
4. वहीं, 8/223
5. वहीं, 8/235, चर्चा शतक, छन्द-54
6. वहीं, 8/382
7. वहीं, 8/306-307
8. वहीं, 8/312 (पूर्वार्द्ध)
9. वहीं, 8/528
10. वहीं, 8/309
11. वहीं, 8/315

दक्षिणेन्द्रों में आभियोग्य देवों का अधिपति बालक नामक देव है। एक पल्य की आयु वाला यह जम्बूद्वीप प्रमाण एक लाख योजन चौड़े वाहन रूप विक्रिया करने में समर्थ है।[1] यह तीर्थंकर भगवान के जन्म कल्याणक में एक लाख योजन चौड़ा ऐरावत हाथी बनता है।[2]

सौधर्म इन्द्र की नगरी – प्रथम युगल के इकतीसवें पटल में इन्द्रक विमान की दक्षिण दिशावर्ती अठारहवें श्रेणी-बद्ध विमान के अन्तर्गत चौरासी हजार योजन चौड़ी अमरावती[3] नामक नगरी है। उसके मध्य सौधर्म इन्द्र का निवास-स्थान, रत्नमयी सर्वतोभद्र नामक महल है। वह छह सौ योजन ऊँचा, उसके पाँचवें भाग/एक सौ बीस योजन दक्षिण-उत्तर लम्बा, उससे आधा/साठ योजन पूर्व-पश्चिम चौड़ा है।[4] इसके चारों ओर सामान्य देवियों के पाँच सौ योजन ऊँचे, सौ योजन लम्बे, पचास योजन चौड़े महल हैं।[5]

इन्द्र के महल की चार दिशाओं में चार लोकपाल रहते हैं। सौधर्म इन्द्र के भवन से ईशान दिशा में सुधर्मा सभा[6], उपपाद सभा[7] तथा उत्तम रत्नमय जिनेन्द्र प्रासाद हैं।[8]

सुधर्मा सभा मण्डप के मध्य में इन्द्र को बैठने के लिए एक अकृत्रिम, विशाल और उत्तम रत्नमयी अद्भुत सिंहासन है।[9] उत्तम आभूषणों और सम्यग्दर्शन रूपी रत्न से शोभायमान सौधर्म इन्द्र उस पर आरूढ़ होता है। उत्तम छत्रों एवं चमरों को धारण करने वाली देवियों, प्रतीन्द्रों और सामानिक आदि देव समूहों के द्वारा इन्द्र की नित्य ही सेवा की जाती है।

मानस्तम्भ – उस सभा मण्डप के आगे पूर्व दिशा में एक योजन चौड़ा, छत्तीस योजन ऊँचा एक मानस्तम्भ है। उसके नीचे एक वज्रमयी पीठ है। उसके चारों ओर एक कोस चौड़ी, गोलाकार, बारह धाराएँ होने से वह मानस्तम्भ बारह कोण संयुक्त, गोलाकार है। इसकी परिधि बारह कोस की है; क्योंकि इसमें एक-एक कोस चौड़ी बारह ही धाराएँ हैं। इस

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 8/277
2. वहीं, 8/277-284 में ऐरावत के स्वरूप का विशेष वर्णन है।
3. त्रिलोकसार, गाथा-515
4. तिलोयपण्णत्ती, 8/374,376
5. वहीं, 8/417 व 422 के बाद तालिका
6. वहीं, 8/410
7. वहीं, 8/413
8. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/414 (2) लोक विभाग, 10/243-245
9. तिलोयपण्णत्ती, 8/377

मानस्तम्भ में एक कोस लम्बे, पाव कोस/पाँच सौ धनुष चौड़े, रत्नों की साँकल से जड़ित छींके लटक रहे हैं। उनमें रत्नमयी करण्ड/पिटारे रखे हैं। उनमें तीर्थंकर देव की गृहस्थ दशा में पहिनने-योग्य महासुन्दर, रत्नमयी, हार, कुण्डल आदि अनेक आभरण भरे हुए हैं।[1] इन्द्र उन्हें निकालकर उनके पास भेजता है।

छत्तीस योजन ऊँचे मानस्तम्भ में से पौने छह योजन नीचे और सवा छह योजन ऊपर ऊँचाई में कोई पिटारा नहीं है। इन दोनों के मध्य चौबीस योजन में छींके के अन्दर पिटारे रखे हैं। सौधर्म स्वर्ग के मानस्तम्भ में पाँचों भरत क्षेत्र संबंधी तीर्थंकरों के, ईशान स्वर्ग के मानस्तम्भ में पाँचों ऐरावत क्षेत्र संबंधी तीर्थंकरों के, सानत्कुमार स्वर्ग के मानस्तम्भ में पूर्व विदेह संबंधी अस्सी तीर्थंकरों के, माहेन्द्र स्वर्ग के मानस्तम्भ में पश्चिम विदेह संबंधी अस्सी तीर्थंकरों के आभरण होते हैं।[2]

इन्द्रों के उत्पाद स्थान – इस मानस्तम्भ के निकट ही आठ योजन ऊँचा, लम्बा, चौड़ा चौकोर उत्पादगृह है। इसमें रत्नमयी दो शैयाएँ हैं। जिन पर इन्द्र का जन्म होता है। इस उत्पादगृह के पास एक उत्कृष्ट जिनमंदिर है।

देवियों की उत्पत्ति संबंधी विशेष नियम – सब देवियाँ सौधर्म और ईशान कल्पों में ही उत्पन्न होती हैं, इससे ऊपर के कल्पों में उनकी उत्पत्ति कदापि नहीं होती। आरण स्वर्ग (15वाँ स्वर्ग) पर्यन्त दक्षिण कल्पों की समस्त देवांगनायें सौधर्म कल्प में उत्पन्न होती हैं तथा अच्युत स्वर्ग (16वाँ स्वर्ग) पर्यन्त उत्तर कल्पों की समस्त देवांगनायें ईशान कल्प में ही उत्पन्न होती हैं। सौधर्म कल्प में कुल बत्तीस लाख विमान हैं, जिनमें से छह लाख में मात्र देवांगनाओं की उत्पत्ति होती है और शेष छब्बीस लाख विमानों में देव-देवियों दोनों उत्पन्न होते हैं। इसीप्रकार ईशान कल्प के अट्ठाईस लाख विमानों में से चार लाख में मात्र देवांगनाओं की और शेष चौबीस लाख विमानों में दोनों की उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति के बाद उपरिम कल्पों के देव अवधिज्ञान द्वारा उनके चिह्नों को जानकर अपनी-अपनी नियोगिनी देवियों को अपने-अपने स्थान पर ले जाते हैं।[3] सौधर्म और ईशान कल्पों में सभी देव काय-प्रवीचार सहित होते हैं।[4]

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/401-403 (2) लोक विभाग, 10/257-259
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/404-407 (2) लोक विभाग, 10/260-261
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/333-337 (2) हरिवंश पुराण, 6/119-121
   (3) लोक विभाग 10/294-297 - साभार, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग-4, पृ. 514
4. (1) तत्त्वार्थसूत्र, 4/7 (2) तिलोयपण्णत्ती, 8/388 (पूर्वार्द्ध)

उपवन – सौधर्म इन्द्र की नगरी के चारों ओर स्थित पाँच कोटों से पचास लाख योजन आगे जाकर चारों दिशाओं में नन्दनवन के समान अति रमणीय, महासुन्दर, आनन्दकारी क्रमशः अशोक, सप्तच्छद, चम्पक, आम्र – ये चार वन-खण्ड हैं। ये एक हजार योजन लम्बे और पाँच सौ योजन चौड़े हैं।[1] चारों बागों के मध्य जम्बू वृक्ष के समान विस्तार वाला एक-एक चैत्य-वृक्ष है। इसकी चार दिशाओं में पर्यंकासनमय एक-एक जिन-प्रतिमा विराजमान है।[2]

इसप्रकार सौधर्म इन्द्र की नगरी का वर्णन पूर्ण हुआ। इसी प्रकार क्रमशः अन्य ग्यारह नगरियों का स्वरूप जानना चाहिये।

सौधर्म स्वर्ग की रचना तथा सौधर्म इन्द्र की विभूति के समान ही शेष स्वर्गों की रचना तथा इन्द्र विभूति होती है। उनके विस्तार तथा प्रमाण में अन्तर होता है, जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है, शेष बातें समान ही रहती हैं।

इन्द्रों का निवास-स्थान – सौधर्म युगल संबंधी अन्तिम इकतीसवें पटल के मध्य में स्थित प्रभा नामक इन्द्रक विमान की दक्षिण दिशा में बत्तीस श्रेणी-बद्ध विमान हैं। उनमें से अठारहवें श्रेणी-बद्ध विमान में सौधर्म इन्द्र रहता है। इसी प्रकार इन्द्रक विमान की उत्तर दिशा संबंधी अठारहवें श्रेणी-बद्ध विमान में ईशान इन्द्र का निवास है। दूसरे युगल संबंधी अन्तिम पटल की प्रत्येक दिशा संबंधी पच्चीस श्रेणी-बद्ध विमानों में से दक्षिण दिशागत सोलहवें श्रेणीबद्ध विमान में सानत्कुमार और उत्तर दिशागत सोलहवें में माहेन्द्र का निवास है।

तीसरे युगल संबंधी अन्तिम चौथे पटल की दक्षिण दिशागत चौदहवें श्रेणी-बद्ध विमान में पाँचवाँ ब्रह्म इन्द्र रहता है। चौथे युगल संबंधी दूसरे पटल के इन्द्रक विमान की उत्तर दिशावर्ती बारहवें श्रेणी-बद्ध विमान में छठवें कापिष्ठ इन्द्र का निवास है। पाँचवें युगल के अन्त में इन्द्रक विमान की दक्षिण दिशावर्ती दशवें श्रेणी-बद्ध विमान में सातवें शुक्र इन्द्र का निवास है। छठवें युगल के अन्त में इन्द्रक विमान की उत्तर दिशावर्ती आठवें श्रेणीबद्ध विमान में आठवाँ सहस्रार इन्द्र रहता है। सातवें युगल संबंधी तीसरे पटल के दक्षिण दिशावर्ती छठवें श्रेणी-बद्ध विमान में नौवाँ आनत इन्द्र तथा दक्षिण दिशावर्ती

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/432-435 (2) लोक विभाग, 10/268-270
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/408-409 (2) लोक विभाग, 10/262

छठवें श्रेणी-बद्ध विमान में दशवाँ प्राणत इन्द्र रहता है। आठवें युगल के अन्त में तीसरे पटल संबंधी इन्द्रक विमान की दक्षिण दिशावर्ती छठवें श्रेणी-बद्ध विमान में ग्यारहवाँ आरण इन्द्र और उत्तर दिशा में बारहवाँ अच्युत इन्द्र रहता है। इन्द्र के निवास-स्थान वाले विमान का नाम अपने स्वर्ग का या इन्द्र का नाम ही जानना।[1]

इन्द्रों संबंधी नगरियों की चौड़ाई – सौधर्म कल्प में चौरासी हजार योजन चौड़ी, ईशान में अस्सी हजार योजन, सानत्कुमार में बहत्तर हजार योजन, माहेन्द्र में सत्तर हजार योजन, ब्रह्म में साठ हजार योजन चौड़ी नगरी है। ब्रह्मोत्तर और लान्तव में इन्द्र नहीं होने से वहाँ इन्द्र की नगरी भी नहीं है। कापिष्ठ में पचास हजार योजन, शुक्र में चालीस हजार योजन चौड़ी नगरी है। महाशुक्र और शतार में इन्द्र नहीं होने से उनकी नगरी भी नहीं है। सहस्रार में तीस हजार योजन तथा आनत से अच्युत पर्यन्त प्रत्येक में बीस हजार-बीस हजार योजन चौड़ी नगरी हैं।[2]

ये सभी समचतुस्र/पूर्णतया सम-चौकोर हैं। प्रत्येक नगरी के चारों ओर पाँच कोट हैं। प्रत्येक कोट की चौड़ाई के समान ही प्रत्येक विमान की नींव है।

इन्द्रों के महलों की ऊँचाई – पहले युगल संबंधी देव के महल छह सौ योजन ऊँचे, दूसरे युगल के पाँच सौ योजन, तीसरे युगल के साढ़े चार सौ योजन, चौथे युगल के चार सौ योजन, पाँचवें युगल के साढ़े तीन सौ योजन, छठवें युगल के तीन सौ योजन, सातवें और आठवें युगल के दो सौ पचास योजन, अधो ग्रैवेयिक के दो सौ योजन, मध्य ग्रैवेयिक के एक सौ पचास योजन, उपरि ग्रैवेयिक के सौ योजन, नौ अनुदिशों के पचास योजन और पाँच अनुत्तरों संबंधी देवों के महल पच्चीस योजन ऊँचे हैं। अपने-अपने महल की ऊँचाई के पाँचवें भाग लम्बाई और दशवें भाग प्रमाण चौड़ाई है। जैसे पहले युगल संबंधी महल छह सौ योजन ऊँचे, एक सौ बीस योजन लम्बे और साठ योजन चौड़े हैं।[3]

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र, 4/21 में ऊपर-ऊपर के स्वर्ग में 'गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीना:' कहा है अर्थात् ये बातें ऊपर स्वर्गों में कम होती गई हैं। पहले युगल से ऊपर महलों की ऊँचाई उत्तरोत्तर कम हुई है, इसका कारण शरीर का उत्सेध उत्तरोत्तर कम होना भी हो सकता है।

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/341-352 (2) लोकविभाग, 10/93-99
2. तिलोयपण्णत्ती, 8/359
3. वहीं, 8/374-375

देवियों की संख्या – सौधर्म-ईशान इन्द्र में प्रत्येक के कुल एक लाख साठ हजार, सानत्कुमार-माहेन्द्र इन्द्र के प्रत्येक के बहत्तर हजार, ब्रह्मेन्द्र के चौंतीस हजार, लान्तवेन्द्र के सौलह हजार पाँच सौ, महाशुक्र इन्द्र के आठ हजार दो सौ पचास, सहस्रार इन्द्र के चार हजार एक सौ पच्चीस, आनत-प्राणत-आरण और अच्युत इन्द्र में से प्रत्येक के दो हजार तिरेसठ देवियाँ होती हैं।[1]

कल्पातीत विमान – सोलह स्वर्गों से ऊपर नौ ग्रैवेयिकों के अन्तर्गत सर्वप्रथम सुदर्शन, अमोघ और सुप्रबुद्ध – ये तीन अधो ग्रैवेयिक हैं। अधो ग्रैवेयिक संबंधी त्रिक से ऊपर क्रमशः यशोधर, सुभद्र, सुविशाल – ये तीन मध्य ग्रैवेयिक हैं। मध्य ग्रैवेयिक संबंधी त्रिक से ऊपर क्रमशः सुमनस, सौमनस, प्रीतिङ्कर – ये तीन ऊर्ध्व ग्रैवेयिक हैं।

नौवें ग्रैवेयिक से ऊपर बासठवें पटल में **नौ अनुदिश** हैं। यहाँ मात्र नौ विमान हैं। उनमें से आदित्य नामक एक विमान इन्द्रक; चार दिशाओं संबंधी अर्ची, अर्चीमाल, वैरोचन, प्रभास – ये चार श्रेणी-बद्ध और क्रमशः आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान – इन चार विदिशाओं में स्थित अर्चीप्रभ, अर्चीमध्य, अर्चीरावर्त और अर्ची विशिष्ट – ये चार प्रकीर्णक हैं।

नौ अनुदिशों से ऊपर तिरेसठवें पटल में पाँच अनुत्तर विमान हैं। उनके मध्य 'सर्वार्थसिद्धि' नामक एक इन्द्रक विमान और चार दिशाओं में क्रमशः विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित – ये चार श्रेणी-बद्ध विमान हैं। यहाँ मात्र ये पाँच ही विमान हैं; प्रकीर्णक विमान नहीं हैं।

इन कल्पातीत विमानों में इन्द्रों के परिवार नहीं होते, सभी इन्द्र होते हैं, जिन्हें अहमिन्द्र कहते हैं। इनके विविध प्रकार की उपपाद सभायें, जिनभवन, नानाप्रकार के दिव्य रत्नों से निर्मित प्रासाद, अभिषेक सभा, संगीत आदि शालायें और चैत्यवृक्ष भी होते हैं, परन्तु इनके देवियाँ कदापि नहीं होती हैं।[2]

लौकान्तिक देव –

आचार्य उमास्वामी के शब्दों में **'ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः'**[3] अर्थात् लौकान्तिक देवों का निवास-स्थान ब्रह्म स्वर्ग है। ब्रह्म लोक (स्वर्ग) के अन्त में जो उत्पन्न होते हैं, वे

1. तिलोयपण्णत्ती, 8/382-188
2. वहीं, 8/455-457
3. तत्त्वार्थसूत्र, 4/24

लौकान्तिक हैं; अथवा जन्म, जरा, मरण से व्याप्त संसार, लोक है; उसका अन्त जिनके हुआ है, वे लौकान्तिक हैं।[1] ये पाँचवें स्वर्ग के अन्य देवों से पृथक् हैं। इनके विमान ब्रह्मलोक के अन्त में चारों ओर स्थित हैं। ईशान आदि सभी विदिशाओं-दिशाओं में ये क्रमशः गोलाकार रूप में स्थित प्रकीर्णक विमानों में रहते हैं। ये मनुष्य का एक भव धारण कर नियम से निर्वाण प्राप्त करते हैं। ये विशेषताएँ वहाँ स्थित अन्य देवों में नहीं हैं।

लौकान्तिक लोक चित्र

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट[2] - इन आठ नाम वाले कुल भेद-संयुक्त लौकान्तिक देव पाँचवें ब्रह्म-लोक की पूर्वादि आठों दिशाओं में रहते हैं। कुल के नाम ही इनके विमानों के नाम हैं। इनके अन्तराल में क्रमशः अग्न्याभ, सूर्याभ, चन्द्राभ, सत्याभ, श्रेयस्कर, क्षेमंकर, वृषभेष्ट, कामधर, निर्माणरज, दिगन्तरक्षित, आत्मरक्षित, सर्वरक्षित, मरुत्, वसु, अश्व, विश्व - ये सोलह जाति वाले लौकान्तिक देव अपने पृथक्-पृथक् कुल भेद-सहित रहते हैं। इसप्रकार सब मिलकर चौबीस प्रकार के लौकान्तिक देव हैं।[3]

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/638 (2) सर्वार्थसिद्धि, 4/24/489, पृ. 192
2. तत्त्वार्थसूत्र, 4/25
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/640-647 (पूर्वार्द्ध) (2) सर्वार्थसिद्धि, 4/25/491, पृ. 193

सारस्वत आदि आठ विमान संबंधी पचपन हजार चार सौ चौवन देव और अन्तरालवर्ती अग्न्याभ आदि सोलह विमान संबंधी तीन लाख बावन हजार तीन सौ बावन देव - कुल चौबीस विमानों के चार लाख सात हजार आठ सौ छह लौकान्तिक देव हैं।[1] देव-गति नाम-कर्म की उत्तर प्रकृति के उदय से इनके ये पृथक्-पृथक् नाम हैं; क्योंकि नाम-कर्म की मूल प्रकृति के असंख्यात भेद हैं। नाम की पृथक्ता के अतिरिक्त इनमें कुछ अन्य भेद नहीं हैं। लौकान्तिक देवों में से प्रत्येक के शरीर का उत्सेध 5 हाथ और आयु 8 सागरोपम प्रमाण है।[2]

ये सभी देव स्वाधीन हैं; विषयों से विरक्त हैं; यहाँ देवियाँ नहीं हैं। ये स्त्री-संगम से रहित ब्रह्मचारी हैं; द्वादशांगमय श्रुतज्ञान के धारक हैं। इनके विषय-वासना का अभाव होने से ये ऋषि-मुनि के समान उत्तम होने के कारण देवर्षि कहलाते हैं। ये अन्य देवों द्वारा पूज्य, वन्दनीय हैं।

ये मात्र तीर्थंकर होने वाले गृहस्थ के दीक्षा कल्याणक-प्रसंग पर उनके वैराग्य की अनुमोदना करने हेतु उनके पास ढाई द्वीप में आते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी कल्याणक में यहाँ नहीं आते हैं। इन्हें मात्र वैराग्य ही प्रिय है; अतः सदा अनित्य आदि बारह भावनाओं को भाते रहते हैं। संसार से उदास इनका मन सतत ज्ञान-भावना में लीन रहता है। सदा संसार से विरक्त ये सभी देव अति विशुद्ध सम्यग्दर्शन के धारक हैं; मनुष्य का एक भव धारण कर मुक्त हो जाने से एक भवावतारी हैं।[3]

देवों संबंधी विशेष बातें -

यहाँ वैमानिक देवों की आयु, आहार, श्वासोच्छ्वास, शरीर का उत्सेध, अवधिज्ञान, उनकी शक्ति, उत्पत्ति प्रक्रिया, उनके समीचीन कार्य, जन्म-मरण का अन्तराल, सम्यक्त्व ग्रहण के कारण, गति-आगति संबंधी नियम आदि अनेक विशेष बातों की चर्चा की जा रही है।

देवों की आयु -

उत्कृष्ट आयु - सौधर्म ईशान कल्प में उत्कृष्ट आयु दो सागरोपम से कुछ अधिक, सानत्कुमार-माहेन्द्र में सात सागरोपम से कुछ अधिक, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर में साधिक दस

1. तिलोयपण्णत्ती, 8/647 (उत्तरार्द्ध) से 657
2. (1) तत्त्वार्थसूत्र, 4/42 (2) तिलोयपण्णत्ती, 8/663
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/664-668 (2) सर्वार्थसिद्धि, 4/25/491, पृ. 193

सागरोपम, लान्तव-कापिष्ठ में साधिक चौदह सागरोपम, शुक्र-महाशुक्र में साधिक सोलह सागरोपम, सतार-सहस्रार में साधिक अठारह सागरोपम, आनत-प्राणत में बीस सागरोपम तथा आरण-अच्युत में बाईस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति (आयु) है। नौ ग्रैवेयिक में से प्रत्येक में क्रमशः 23, 24, 25, 26, 27, 28, 29, 30 और 31 सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। नौ अनुदिश विमानों में सभी में 32 सागरोपम तथा अनुत्तर विमानों में 33 सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। सर्वार्थसिद्धि में 33 सागरोपम ही स्थिति है, उत्कृष्ट-जघन्य का भेद नहीं है।[1]

जघन्य आयु – सौधर्म ईशान कल्प में जघन्य स्थिति साधिक एक पल्योपम है। आगे-आगे के स्वर्गों में पूर्व-पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति अगले-अगले कल्प की जघन्य स्थिति है।[2]

आहार – देवों के दिव्य, अमृतमय, अनुपम और तुष्टि पुष्टिकारक मानसिक आहार होता है। जो देव जितने सागरोपम कालपर्यंत जीवित रहता है, उतने ही हजार वर्षों में आहार होता है। जैसे - एक सागरोपम कालपर्यंत जीवित रहने वाले देव के एक हजार वर्ष में आहार होता है। पल्य प्रमाणकालपर्यन्त जीवित रहने वाले देवों के पाँच दिन में आहार होता है।[3] आहार में भी मात्र कण्ठ में अमृत झर जाता है।

श्वासोच्छ्वास – कल्प और कल्पातीत विमानों में देवों के अपने-अपने आहार के काल का जो प्रमाण कहा गया है, उतने प्रमाण मुहूर्त में श्वासोच्छ्वास का संचार होता है।[4] लोक विभाग के अनुसार जिस देव की जितने सागरोपम की आयु होती है, उस देव का उतने पक्ष (15 दिन) में एक बार श्वासोच्छ्वास होता है।[5]

देवों के शरीर का उत्सेध – शरीर की ऊँचाई को उत्सेध कहते हैं। देवों के शरीर की ऊँचाई सौधर्म-ईशान कल्प में सात हाथ, सानत्कुमार-माहेन्द्र में छह हाथ, ब्रह्मादि चार में पाँच हाथ, शुक्र-महाशुक्र में चार हाथ, शतार-सहस्रार में साढ़े तीन हाथ और आनतादि चार कल्पों में तीन हाथ प्रमाण है। अधोग्रैवेयिक में ढाई हाथ, मध्यम ग्रैवेयिक में दो हाथ और उपरिम

---

1. (1) तत्त्वार्थसूत्र, 4/29-32
   (2) तिलोयपण्णत्ती, 8/461-463
   (3) द्रव्य संग्रह, गाथा-35 टीका, पृ. 161
   (4) लोकविभाग. 10/226, 230-231
2. (1) तत्त्वार्थसूत्र, 4/33-34
   (2) लोकविभाग, 10/226, 232
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/554-555
   (2) लोकविभाग, 10/227-228
4. तिलोयपण्णत्ती, 8/563-564
5. लोकविभाग 10/227-228

ग्रैवेयिक और अनुदिशों में अहमिन्द्रों के शरीर का उत्सेध डेढ़ हाथ है तथा अनुत्तर विमानों में रहने वाले देवों के शरीर का उत्सेध मात्र एक हाथ प्रमाण है।[1] यह देवों के मूल शरीर का प्रमाण है, विक्रिया से उत्पन्न शरीर का उत्सेध नाना प्रकार का होता है।[2] वे अपने शरीर को चाहे जितना छोटा-बड़ा अथवा विविधरूप दिखने वाला भी बना सकते हैं।

प्रवीचार – कामसेवन को प्रवीचार कहते हैं। आचार्य पूज्यपाद मैथुन द्वारा उपसेवन को प्रवीचार कहते हैं।[3] सौधर्म-ईशान कल्पों के देव अपनी देवांगनाओं के साथ मनुष्यों के सदृश कामसेवन करके, सानत्कुमार-माहेन्द्र के देव उनके स्पर्श मात्र से, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर और लान्तव-कापिष्ठ के देव उनके रूपावलोकन मात्र से, शुक्र-महाशुक्र और शतार-सहस्रार के देव उनके गीतादि शब्दों को सुनकर तथा आनतादि चार कल्पों के देव अपने मन में देवांगना का विचार करने मात्र से कामवेदना से रहित हो जाते हैं। इसके ऊपर के सब देव (अहमिन्द्र) प्रवीचार रहित होते हैं।[4]

देवों में अवधिज्ञान – सौधर्म-ईशान कल्प के देव अपने अवधिज्ञान से नरक की प्रथम पृथ्वी पर्यन्त, सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्प के देव दूसरी पृथ्वी पर्यन्त, ब्रह्म और लान्तव कल्प के तीसरी पृथ्वी पर्यन्त, सहस्रार कल्पवासी देव चतुर्थ पृथ्वी पर्यन्त, आनतादि चार कल्पों के देव पाँचवीं पृथ्वी पर्यन्त, नव ग्रैवेयिकवासी देव छठी नरक पृथ्वी के नीचे तक तथा अनुदिश एवं अनुत्तरवासी देव सम्पूर्ण लोकनाली को देख सकते हैं।[5]

वैमानिक देवों की शक्ति – इन देवों में इतनी शक्ति होती है कि एक पल्योपम प्रमाण आयु वाला देव पृथ्वी (भरत क्षेत्र) के छह खण्डों को उखाड़ने में और उनमें स्थित मनुष्य और तिर्यंचों को मारने अथवा पोषने में समर्थ हैं तथा सागरोपम प्रमाण स्थिति वाला देव जम्बूद्वीप को भी पलटने में और उसमें स्थित मनुष्य और तिर्यंचों को मारने अथवा पोषने में समर्थ है।[6]

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/566
   (2) सर्वार्थसिद्धि, 4/21/483, पृ. 190
   (3) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 4/21/8, पृ. 236
   (4) लोकविभाग, 10/285-287
2. तिलोयपण्णत्ती, 8/567
3. सर्वार्थसिद्धि, 4/7/455, पृ. 181
4. (1) तत्त्वार्थसूत्र, 4/7-9
   (2) तिलोयपण्णत्ती, 8/338-340
   (3) लोकविभाग, 10/284
5. तिलोयपण्णत्ती, 8/708-710 (पूर्वार्द्ध)
6. वहीं, 8/720-721

उपर्युक्त कथन देवों की शक्ति/सामर्थ्य का ज्ञान कराने के लिये हैं, उन देवों के ऐसे क्रूर परिणाम कभी नहीं होते कि वे समस्त पृथ्वी (मनुष्य-तिर्यंचों) का नाश करें।

देवों की उत्पत्ति प्रक्रिया – जैसे पूर्व दिशा में सूर्य का उदय होता है; उसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल में आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन - ये छह पर्याप्ति सम्पूर्ण हो, सुगन्धित मनोहर रूप स्पर्श से सहित रुधिरादि सात धातु से रहित, पवित्र शरीर-सहित देव वस्त्राभरण-संयुक्त हो सुख रूप उत्पाद शैया के ऊपर जन्म धारण करते हैं। जन्म होते ही वहाँ आनन्दमय वाद्य यन्त्रों के शब्द और जयकार आदि स्तुति रूप शब्दों से सहित वे देव नव-यौवन दशा-सम्पन्न हो जाते हैं। देव गति में बालपना, वृद्धपना नहीं है। यहाँ जन्म से लेकर मरण पर्यन्त सदा एक-सी ही अवस्था रहती है।[1]

जन्म के बाद अपने वैभव और परिवार को देखकर वह देव अवधि ज्ञान से अपनी पूर्व गति संबंधी पर्याय को जानकर धर्म की प्रशंसा करता है कि मैं धर्म के प्रभाव से यहाँ देव गति में उत्पन्न हुआ हूँ। इसप्रकार धर्म की महिमा में मन लगाते हुए वहाँ स्थित जल के द्रह में स्नानकर अति सुन्दर वस्त्राभरण को पहनकर सम्यग्दृष्टि तो स्वयमेव जिन-देव का अभिषेक, पूजन आदि करता है और मिथ्यादृष्टि अन्य देवों द्वारा समझाए जाने पर जिन-पूजा आदि करता है।[2]

देवों के समीचीन कार्य – सभी देव तीर्थंकर भगवान की महापूजा करते हैं। कल्पवासी देव तो उनके पंच कल्याणक प्रसंग पर मध्यलोक में भी आते हैं। सोलह स्वर्ग से ऊपर अहमिन्द्र देव अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही मणिमयी मुकुट से दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर तीर्थंकर भगवान को नमस्कार करते हैं।[3]

वैमानिक देवों में जन्म-मरण का अन्तराल – जितने काल पर्यन्त किसी भी देव-देवी का जन्म नहीं हो, वह जन्मान्तराल है और जितने काल पर्यन्त किसी भी देव-देवी का मरण नहीं हो, वह मरणान्तराल है। इसे विरह काल भी कहते हैं।

अनेक जीवों की अपेक्षा विरह काल – सभी वैमानिक देवों में जघन्य से ये दोनों अन्तर्मुहूर्त हैं। उत्कृष्ट से पहले युगल में सात दिन, दूसरे में पन्द्रह दिन, तीसरे और चौथे युगल में एक माह, पाँचवें और छठवें युगल में दो माह, सातवें और आठवें युगल में चार माह तथा नौ ग्रैवेयिक आदि सभी अहमिन्द्रों में छह माह का अन्तराल है।[4]

---

1. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/590-593 (2) लोकविभाग, 10/325-328
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/594-612 (2) लोकविभाग, 10/329-336
3. लोकविभाग, 10/348
4. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/552 (2) लोकविभाग, 10/298-306

एक जीव की अपेक्षा विरह-काल – किसी देव का मरण होने पर उस स्थान पर जब तक उसी पदवी का धारक कोई अन्य देव उत्पन्न नहीं होता है; तब तक उसका विरह काल है। यह जघन्य से सभी देवों में अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। उत्कृष्ट से सभी बारह इन्द्रों की पृथक्-पृथक् आठ महादेवी और चार लोक पाल देवों का विरह-काल छह माह है।[1] तेतीस त्रायस्त्रिंश देव, सभी आत्म-रक्षक, सामानिक, पारिषद् देवों का विरह-काल चार माह है।[2] कल्पवासी इन्द्र और कल्पातीत अहमिन्द्र का विरह-काल छह माह है।[3]

देवों में सम्यक्त्व ग्रहण के कारण – देव गति में जिन महिमा के दर्शन से, जातिस्मरण से, देवर्द्धि के देखने से तथा धर्मोपदेश को सुनने से मिथ्यादृष्टि देव निर्वाण और स्वर्गादि अभ्युदय का साधक तथा संसार-समुद्र से पार उतारने वाला सम्यक्त्व ग्रहण करते हैं। नव ग्रैवेयिकों में देवर्द्धि दर्शन के अतिरिक्त शेष कारण होते हैं तथा उससे ऊपर अनुदिश व अनुत्तरों में सभी सम्यग्दृष्टि ही होते हैं।[4]

देवों की गति-आगति – जैन आगमों में देवों में उत्पन्न होनेवाले जीवों के संबंध में नियम बताये गये हैं कि कौनसे जीव देव गति में कौनसे स्वर्ग तक जन्म ले सकते हैं। आयु पूरी होने के पश्चात् वे कहाँ जा सकते हैं अथवा कहाँ नहीं – इस संदर्भ में भी स्पष्ट नियम बताये गये हैं।

देवगति में उत्पन्न होने वाले जीवों का नियम – असंयमी, देश-संयमीमनुष्य और तिर्यंच उत्कृष्ट रूप से सोलहवें[5] अच्युत कल्प पर्यन्त उत्पन्न हो सकते हैं; उससे आगे नहीं। द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि ऊपर नौवें ग्रैवेयिक पर्यन्त जन्म ले सकता है, उससे आगे नहीं[6]। सोलह स्वर्ग से ऊपर परिग्रह-रहित, नग्न रूप मुनिपना धारण करने वाला ही जा सकता है; परिग्रह-सहित देशव्रती श्रावक सम्यग्दृष्टि मनुष्य भी सोलहवें स्वर्ग से ऊपर जन्म नहीं ले पाता है।[7]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 8/545
2. वहीं, 8/546
3. वहीं, 8/552
4. वहीं, 8/700-702
5. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 4/21/10, पृ. 237 व 6/20/1, पृ. 527
6. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/583
   (2) त्रिलोकसार, गाथा-545
7. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 4/21/10, पृ. 237

सम्यग्दृष्टि द्रव्य भावमय महाव्रत सहित संयमी मनुष्य सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त जा सकते हैं;[1] क्योंकि नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर - इन चौदह विमानों में द्रव्य-भावलिंगमय संकल-संयमी मुनि ही जाते हैं; मात्र द्रव्यलिंगी मुनि भी वहाँ नहीं जा सकते हैं।

भोगभूमिज सम्यग्दृष्टि मनुष्य-तिर्यंच पहले युगल पर्यन्त ही जाते हैं;[2] उससे ऊपर नहीं। शेष सभी भोगभूमिज और कुभोगभूमिज मनुष्य-तिर्यंच भवनत्रिक में ही उत्पन्न होते हैं। असैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच मन्द कषाय के प्रभाव से भवनवासी और व्यन्तर देवों में उत्पन्न होते हैं; ज्योतिषी और वैमानिकों में नहीं। पंचाग्नि साधने वाले मिथ्यादृष्टि तापसी भवनत्रिक में जन्म ले सकते हैं। त्रिदण्डी आदि परिव्राजक संन्यासी पाँचवें ब्रह्म स्वर्ग पर्यन्त जन्म ले सकते हैं।[3]

आचार्य अकलंकदेव के अनुसार कांजी आदि शुद्ध वस्तु का नीरस आहार करने वाले परम-हंस **आजीवक** आदि सहस्रार (बारहवें) स्वर्ग पर्यन्त जन्म से सकते हैं।[4] आचार्य नेमीचन्द्र त्रिलोकसार, गाथा-547 में इनकी गति अच्युत (सोलहवें) स्वर्ग पर्यन्त बताते हैं। सोलह स्वर्ग से आगे जिन-लिंगी मुनि ही उत्पन्न हो सकते हैं; अन्य कोई नहीं।

एकेन्द्रिय, विकलत्रय, देव और नारकी मरणकर देव, नारकी पर्याय प्राप्त नहीं करते हैं। अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव निर्ग्रन्थ रूप जिन-लिंग धारण कर कषाय की मन्दता होने पर तप के प्रभाव से भवनवासी से लेकर अन्तिम नौवें ग्रैवेयिक पर्यन्त उत्पन्न हो सकते हैं।

वज्र-वृषभ-नाराच संहनन वाला जीव पंच अनुत्तर विमान पर्यन्त जा सकता है। वज्र-नाराच संहनन वाला नौ अनुदिश पर्यन्त, नाराच संहनन वाला नौ ग्रैवेयिक पर्यन्त, अर्द्ध-नाराच संहनन वाला सोलहवें अच्युत स्वर्ग पर्यन्त, कीलित संहनन वाला सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त, असम्प्राप्ता-सृपाटिका संहनन वाला जीव आठवें कापिष्ठ स्वर्ग पर्यन्त जा सकता है; इससे ऊपर नहीं। इसप्रकार संहनन के अनुसार देव-गति के उत्पाद का नियम है।[5]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 8/584
2. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 4/21/10, पृ. 237
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/585 (2) तत्वार्थ राजवार्तिक, 4/21/10, पृ. 237
4. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 4/21/10, 237
5. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-29-30

देव–गति से मरकर उत्पन्न होने के नियम – देव–गति से मरण कर जीव नियम से मनुष्य या तिर्यंच गति में ही आता है; देव या नरक गति में नहीं जाता है; क्योंकि देव से देव, देव से नारकी, नारकी से नारकी, नारकी से देव नहीं होता है। उसमें भी भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, सौधर्म, ईशान – इन पाँच स्थानों का मिथ्यादृष्टि जीव एकेन्द्रिय भी हो सकता है;[1] परन्तु अग्निकायिक, वायुकायिक, अपर्याप्तक, साधारण, सूक्ष्म शरीर वाला नहीं होता है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक और प्रत्येक वनस्पतिकायिक बादर पर्याप्तक हो सकता है। इसके अतिरिक्त कर्मभूमिज मनुष्य, सैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच भी हो सकता है; परन्तु भोगभूमिज, कुभोगभूमिज, विकलत्रय और असैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच नहीं होता है।[2]

तीसरे सानत्कुमार स्वर्ग से लेकर बारहवें सहस्रार कल्प पर्यन्त के जीव मनुष्य और सैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच ही हो सकते हैं;[3] एकेन्द्रिय आदि नहीं। तेरहवें आनत आदि स्वर्ग से लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त के सभी देव मरण कर मात्र मनुष्य ही होते हैं; तिर्यंच नहीं। नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानवर्ती देव तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र की पदवी पा सकते हैं; परन्तु अर्द्धचक्री नारायण, प्रतिनारायण नहीं हो सकते हैं। भवनत्रिक देव तिरेसठ शलाका पुरुषों में जन्म नहीं लेते हैं। सौधर्म स्वर्ग से लेकर नौवें ग्रैवेयिक पर्यन्त के देव तिरेसठ शलाकाओं में जन्म ले सकते हैं।[4]

सोलह स्वर्ग संबंधी बारह इन्द्रों में से दक्षिण दिशा के सौधर्म, सानत्कुमार, ब्रह्म, शुक्र, आनत, आरण – ये छह दक्षिणेन्द्र; सौधर्मेन्द्र की 'शची' नामक पट्टदेवी; इसके ही सोम, यम, वरुण, कुबेर – ये चार लोक–पाल देव; सभी लौकान्तिक देव, सर्वार्थसिद्धि विमानवासी सभी देव – वे सभी एक भवावतारी होते हैं; ये अगले भव में मनुष्य हो उसी भव से मोक्ष प्राप्त करते हैं।[5]

देव गति के दुःख –

अब तक हमने पुण्योदय की प्रचुरता से प्राप्त देव लोक की विभूति का वर्णन देखा, अब देवगति के दुःखों की बात करते हैं। भोगों में सुख की मान्यता रखने वाले जीवों को 'देव गति में भी दुःख हैं' – यह बात स्वीकार नहीं होती। यद्यपि देव लोक में अपार भोग

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 8/703 (पूर्वार्द्ध)
2. वहीं, 8/705
3. वहीं, 8/703 (उत्तरार्द्ध)
4. वही, 8/706
5. (1) वही, 8/699 (2) त्रिलोकसार, गाया–548

सामग्री है तथा निर्धनता, बुढ़ापा, क्षुधा-तृषा-रोग, मारण-ताड़न आदि किसी प्रकार का शारीरिक कष्ट भी नहीं है, तथापि यहाँ मानसिक कष्ट सर्वाधिक है।[1] आचार्य कार्तिकेयस्वामी लिखते हैं **'सारीरिय दुक्खादो, माणसदुक्खं हवेई अइपउरं'** अर्थात् शारीरिक दुःख से मानसिक दुःख अति प्रचुर (कई गुना अधिक) होता है।[2]

स्वर्ग के आत्मज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) देवों को छोड़कर शेष अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) देव अपने से अधिक ऋद्धिधारक देवों की ऋद्धि-संपत्ति-आधिपत्य को देखकर ईर्ष्या के कारण सदा दुःखी रहते हैं।[3] अल्पऋद्धि-प्रभुत्वधारी देवों को महर्द्धिक-प्रभुत्वधारी देव इन्द्रादि की आज्ञा का पालन (न चाहते हुए भी) करना ही पड़ता है - इसकारण पराधीनता का कष्ट भी सदा रहता है और 'पराधीन सपनेहु सुख नाहि'... यह लोकोक्ति सर्वविदित ही है।

महर्द्धिक देव भी भोगों को भोगने की अतिलिप्सा (तृष्णा) से सदा आकुलित रहते हैं। उनकी विषयों में प्रवृत्ति उनके दुःख को दर्शाती है।[4] वास्तव में तृष्णा दुःख का बीज है,[5] इसकारण स्वर्ग में भी वे देव सुखी नहीं हैं।

स्वर्ग में देव की आयु अधिक तथा देवी की कम होती है। जब किसी देवी की आयु पूर्ण होती है तो उसके वियोग का उन्हें अत्यन्त दुःख होता है। यद्यपि जब कोई देवांगना मरती है तब उसके स्थान पर शरीर, रूप, ऋद्धि आदि सहित वैसी की वैसी ही दूसरी देवांगना उत्पन्न हो जाती है; तथापि उस जीव का वियोग उन्हें अत्यन्त कष्टप्रद लगता है।

जब उनका मरणकाल निकट आता है तब अवधिज्ञान से अपनी आयु की अल्पता जानकर 'इन समस्त ऋद्धियों-ऐश्वर्य-देवांगनाओं-भोगसामग्री आदि का वियोग हो जाएगा' - ऐसा विचार करते हुए अत्यन्त संक्लेशित होते हैं और आर्तध्यान से मरणकर

---

1. '...स्वर्गेकसाँ मानसम्' तत्त्व भावना श्लोक-79
2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-60
3. (1) अष्टपाहुड, भावपाहुड, गाथा-15 (2) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-58
4. प्रवचनसार, गाथा 63-64 (मूल गाथा का पद्यानुवाद निम्नानुसार है-)
   नरपती सुरपति असुरपति इन्द्रिय विषय दवदाह से।
   पीड़ित रहें सह सके ना रमणीक विषयों में रमें।।
   पंचेन्द्रिय विषयों में रती वे हैं स्वाभाविक दुःखीजन।
   दुःख के बिना विष विषय में व्यापार हो सकता नहीं।।
5. प्रवचनसार गाथा-75, तत्त्वप्रदीपिका टीका

एकेन्द्रिय तक में उत्पन्न हो जाते हैं।[1] आचार्य शुभचन्द्र उनकी दयनीय दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि स्वर्ग का देव रोता-पुकारता स्वर्ग से नीचे गिरता है।[2]

इसप्रकार स्पष्ट है कि प्रचुर भोग-सामग्री तथा दिव्य वैक्रियक शरीर भी जीव को सुख का कारण नहीं है। उमास्वामी आचार्य ऊपर-ऊपर के स्वर्ग में परिग्रह की कमी[3] एवं सुख की अधिकता[4] बताते हैं; इससे भी यही सिद्ध होता है कि बाह्य सामग्री अथवा भोगों की प्रचुरता भी सुख का कारण नहीं है, क्योंकि ऊपर-ऊपर के स्वर्ग में भोग सामग्री की कमी होने पर भी सुख अधिक है।

सिद्धशिला व सिद्धलोक –

सिद्धशिला व सिद्धलोक दोनों अलग-अलग स्थान हैं। सिद्ध परमात्मा सिद्ध शिला पर निवास नहीं करते। शिला रत्नमय है तथा सिद्ध भगवान जहाँ लोक के अग्र भाग में विराजमान होते हैं, उस क्षेत्र को सिद्धलोक कहते हैं।

सिद्धशिला – सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक के ध्वज दण्ड से बारह योजन ऊपर जाकर आठवीं पृथ्वी स्थित है।[5] तीन लोक के मस्तक पर आरूढ़ यह पृथ्वी पूर्व-पश्चिम में एक राजू प्रमाण, उत्तर-दक्षिण में 7 राजू लम्बी और मध्य में आठ योजन बाहल्य (मोटाई) वाली है।[6] आचार्य यतिवृषभ लिखते हैं कि **'अट्ठम-भूमी दस-दिस भागेसु घणोवहिं छिवदि'**[7] अर्थात् इसे दसों दिशाओं के सभी भागों में घनोदधि वातवलय ने स्पर्श किया है।

ये पृथ्वी घनोदधि, घन और तनुवात वलय से युक्त है। इन तीनों का बाहल्य 20 हजार योजन है।[8] इस अष्टम पृथ्वी के बहुमध्य भाग में स्वर्ण-चाँदी के समान और अनेक रत्नों से

---

1. 'तहँ तै चय थावर तन धरे' - छहढाला, 1/17
2. 'स्वर्गी भवति साक्रन्द' - ज्ञानार्णव, 2-73
3. 'गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीना:' तत्त्वार्थसूत्र, 4/21
4. 'स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिका:' - वहीं, 4/20
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/675 (2) हरिवंश पुराण, 6/126
   (3) लोकविभाग, 11/4
6. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/676-677 (2) त्रिलोकसार, गाथा-556
   (3) बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35 टीका, पृ. 159
7. तिलोयपण्णत्ती, 2/24
8. वहीं, 8/678

परिपूर्ण **ईषत्प्राग्भार** नामक क्षेत्र है।[1] इस अष्टम धरा का नाम दौलतरामजी ने हरिवंश पुराण की वचनिका में **सुप्रभा** लिखा है।[2] यह क्षेत्र उत्तान धवल छत्र के समान आकार से सुन्दर 45 लाख योजन प्रमाण है।[3] हरिवंश पुराण में इसका आकार ऊपर की ओर उठे हुये विशाल गोल सफेद छत्र के समान बताया है। इसका बाहल्य मध्य में 8 योजन है, जो अन्त में अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण अत्यन्त सूक्ष्म रह जाता है।[4] सिद्धक्षेत्र की परिधि मनुष्य क्षेत्र की परिधि के समान[5] एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनन्चास (1,42,30,249) योजन है।[6]

सिद्धलोक – अष्टम पृथ्वी से 7050 धनुष ऊपर जाकर सिद्धों का आवास क्षेत्र है[7], जहाँ स्थित सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना 525 धनुष तथा जघन्य अवगाहना साढ़े तीन हाथ है।[8] सामान्य से सभी सिद्धों की अवगाहना का प्रमाण कुछ कम चरम शरीर बताया है।[9] किन्तु पाठान्तर से ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि अंतिम भव में जिसका जैसा आकार, दीर्घता, बाहल्य हो, उसके तृतीय भाग से कम सिद्धों की अवगाहना होती है[10] अथवा सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना 350 धनुष और जघन्य अवगाहना तीन से भाजित सात हाथ प्रमाण है।[11] एक जीव से अवगाहित क्षेत्र के भीतर जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम अवगाहना वाले अनंत सिद्ध जीव होते हैं।[12]

सभी सिद्ध तनुवात वलय के अंतिम भाग में रहते हैं, जहाँ मनुष्यलोक के बराबर 45 लाख योजन क्षेत्र में सर्वत्र सिद्ध हैं। उन सभी सिद्धों के सिर (मस्तक) बराबर होते हैं

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 8/679
2. हरिवंश पुराण वचनिका, सर्ग-6, पृ. 129
3. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/680 (2) हरिवंश पुराण, 6/129
4. हरिवंश पुराण, 6/127-128
5. (1) तिलोयपण्णत्ती, 8/681 (2) हरिवंश पुराण, 6/130
6. लोक विभाग, 11/1-3
7. तिलोयपण्णत्ती, 9/3
8. (1) वहीं, 9/6 (2) त्रिलोकसार, गाथा-141
9. (1) तिलोयपण्णत्ती, 9/10 (2) 'किंचूणाचरमदेहदो सिद्धा' - द्रव्यसंग्रह, गाथा-14
10. तिलोयपण्णत्ती, 9/9
11. वहीं, 9/11 नोट- कोई आचार्य अन्तिम भव से दो-तिहाई भाग कम अर्थात् 525 का 2/3 = 350 धनु उत्कृष्ट और 7/2 (साढ़े तीन हाथ) का 2/3 = 7/3 या 2 सहित 1/3 हाथ जघन्य अवगाहना मानते हैं।
12. (1) तिलोयपण्णत्ती, 9/14 (2) लोक विभाग, 11/8

तथा अधस्तन भाग विसदृश होता है।[1] जहाँ तक धर्म द्रव्य है, वहाँ तक लोक के अग्र भाग में लोक शिखर पर सब सिद्ध पृथक्-पृथक् मोम से रहित साँचे के अभ्यन्तर आकार के सदृश स्थित है।[2] धर्मास्तिकाय का अभाव[3] होने से वे लोक शिखर से ऊपर गमन नहीं करते। वस्तुतः सिद्धशिला अथवा सिद्धलोक को सिद्धों का स्थान बताना व्यवहार नय का कथन है, निश्चय से तो प्रत्येक सिद्ध भगवान अपने-अपने आत्मप्रदेशों में स्थित हैं।

सिद्धों का स्वरूप – आचार्य नेमीचन्द्र गोम्मटसार जीवकाण्ड में सिद्धों का स्वरूप निम्न प्रकार बताते हैं-

अट्ठविहकम्म वियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा।।[4]

अर्थात् ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म रहित, अनंत सुखामृत स्वादि, परमशांतिमय, मिथ्यादर्शनादि सर्वविकार रहित - निर्विकार, नित्य, सम्यक्त्व आदि आठ प्रधान गुण युक्त, अनंत शुद्ध पर्यायों से सहित, कृतकृत्य, लोकाग्रस्थित, वीतराग, सर्वज्ञ निकल परमात्मा को सिद्ध भगवान कहते हैं। इसी प्रकार का स्वरूप द्रव्य संग्रह[5] में भी बताया गया है।

जगत में ध्रुव, अचल और अनुपम गति के धारक सिद्ध भगवान[6] सर्वोत्कृष्ट सुखी हैं, क्योंकि वे जन्म-जरा और मरण से रहित, निर्मल, शब्दातीत, वेद रहित, अनन्त ज्ञानी, कृतकृत्य, समस्त कर्मों का नाश करने वाले, सदाशिव, शुद्ध, परमपद में स्थित, सर्वगत, सर्वदर्शी, निष्काम होने से अव्याबाध, अनन्त, अनुपम और अक्षय अतीन्द्रिय सुख का निरन्तर भोग करते हैं।

तीनों लोकों में चतुर्निकाय के सर्व देवों इन्द्रों, अहमिन्द्रों, चक्रवर्ती आदि सर्व राजाओं, भोगभूमिज युगलों और सर्व विद्याधरों के भूत-भविष्यत-वर्तमान के सर्व सुखों

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 9/15
2. (1) तिलोयपण्णत्ती, 9/16 (2) पद्मनंदी पंचविंशतिका, 8/5
3. तत्त्वार्थसूत्र, 10/8
4. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 68
5. द्रव्य संग्रह, गाथा-14
6. समयसार, गाथा-1

को एकत्र कर लेने पर भी विषयों से उत्पन्न इन्द्रियजन्य समस्त सुख से विलक्षण जाति का अनन्तानंत गुणा शाश्वत एवं अतीन्द्रिय सुख सिद्ध भगवान एक समय में भोगते हैं।

लोक में हमारी अल्पइच्छा की पूर्ति होने पर हमारी किंचित् आकुलता मिटती है और हमें निराकुलता (सुख) का आभास होता है, तब जहाँ सर्वप्रकार की इच्छाजन्य आकुलता सर्वथा नष्ट हो जाती है, वहाँ अनंत सुख नियम से होगा ही। इस तरह सर्व आकुलता रहित सिद्धों के अनंत सुखी होने का हम अनुमान कर सकते हैं।

इसप्रकार इस अध्याय में हमने इन्द्रिय सुख की पराकाष्ठा वाले देवों से लेकर अतीन्द्रिय की पराकाष्ठा वाले सिद्धों तक की चर्चा की। वास्तव में ऊर्ध्वलोक के वैमानिक देवों की भोग सामग्री की चर्चा भी तृष्णा बढ़ाने वाली नहीं, अपितु वैराग्य ही उत्पन्न करनेवाली है। उसकी क्षणिकता दिखाकर तृष्णा और आसक्ति भाव छुड़ाना ही हमारा मूल प्रयोजन है। वस्तुतः जगत में होनेवाली हिंसा, दुष्कर्म, चोरी, रिश्वत आदि सभी अपराधों में इस मानव हृदय की तृष्णा/आकांक्षा आदि अंतरंग विकृतियाँ ही मूल कारण हैं। अंतरंग विकृतियाँ दूर होने पर ही व्यक्ति, समाज एवं देश का सुधार संभव है। हमने देवों के वैभव दिखाकर उनकी क्षणिकता की चर्चा करके जीवों की अंतरंग विकृति को दूर करने का प्रयास किया है।

●

अज्ञानी मौत से डरता है, ज्ञानी से मौत डरती है।

जो अपना आत्महित नहीं सोचता, वह दरिद्री है।

समाधिमरण, जीवनभर की साधना की सफलता है।

इंद्रिय सुखों में सुख की कल्पना करना ही 'पाप का बीज' है।

– डॉ. संजीवकुमार गोधा

उपसंहार

सृष्टि की उत्पत्ति-विनाश, स्वर्ग-नरक, द्वीप-समुद्र आदि विषयों पर वैदिक, बौद्ध आदि लगभग सभी दार्शनिकों ने अपना-अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है। यहाँ तक कि आज के आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी अपने ढंग से इस पृथ्वी संबंधी तथ्यों को उजागर किया है। यहाँ हमारा अभिप्राय मात्र जैन दृष्टि से तीन लोक को सूक्ष्मता से जानना एवं प्रतिपादन करना रहा है।

सभी भारतीय चिन्तकों की विचारधारायें भिन्न-भिन्न होती हुई भी कुछ अंशों में एक दूसरे से मिलती हैं। जैन व वैदिक भूगोल काफी अंशों में मिलता है। यदि इन विषयों की गहराई में प्रवेश करके देखें तो आधुनिक भूगोल के साथ भी जैन भूगोल का कुछ अंशों में परस्पर सामंजस्य देखा जा सकता है।

इस शोध-प्रबन्ध के माध्यम से प्रस्तुत की गई अधिकतम विषय-वस्तु लगभग 1000 से 2000 वर्ष पूर्व की प्रतिपादित है, जो कि वर्तमान समय तक हुई शोध-खोजों से अछूती है। यही कारण है कि जैन आगमों में उपलब्ध स्वर्ग-नरक तथा मध्यलोक में जम्बूद्वीप, विदेह क्षेत्र, भोगभूमियाँ, अवसर्पिणी काल आदि की विस्तृत चर्चाओं को जगतजन काल्पनिक कहकर मजाक बनाते हैं। इन ग्रन्थों में निरूपित **तीन लोक** की चर्चाओं को आधुनिक तर्कदृष्टि से सम्पन्न लोगों के सामने सिद्ध करना भी एक चुनौती भरा कार्य रहा है।

दार्शनिक ग्रन्थों में वर्णित यह जटिल, किन्तु महत्त्वपूर्ण विषय लोगों की दृष्टि में उपेक्षित होकर न रह जाये, इसके लिये यहाँ इस पर संक्षिप्त एवं सरल भाषा में शोधपरक प्रस्तुतीकरण किया है।

आधुनिक भूगोल के साथ यद्यपि जैन भूगोल स्थूल दृष्टि से देखने पर बिलकुल भी मेल खाता दिखाई नहीं देता; तथापि जैनाचार्यों की सूक्ष्मदृष्टि एवं सूत्रात्मक कथन पद्धति को ध्यान में रखकर विचार किया जाये तो बहुत अंशों में मिलता प्रतीत होता है। वैज्ञानिकों के पास पृथ्वी का कुछ करोड़ वर्ष मात्र का इतिहास है, जबकि आचार्यों की दृष्टि कल्पों पूर्व के इतिहास को स्पर्श करती है।

● वैज्ञानिक मान्यतानुसार पृथ्वी का पहले आग के गोले रूप होना, फिर उसका धीरे-धीरे ठण्डा होना और फिर नये सिरे से उस पर जीवों व मनुष्यों की उत्पत्ति व विकास होना - ये सब जैन दर्शन मान्य प्रलयकाल के उपरान्त उत्सर्पिणी काल के प्रारंभिक स्वरूप से मिलता हुआ प्रतीत होता है। इसीप्रकार वैज्ञानिकों द्वारा मान्य पृथ्वी के चारों ओर वायुमण्डल में 500 मील तक उत्तरोत्तर तरलता जैन दर्शन मान्य तीन वातवलयों की ओर इशारा करता है।

● जैन आगमों के अनुसार दुनिया बहुत बड़ी है। यहाँ मनुष्यलोक का विस्तार 45 लाख योजन बताया है; जबकि वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी का व्यास लगभग तेरह हजार किलोमीटर है। फिर भी ब्रह्माण्ड की विशालता को वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। इसकी विशालता बताते हुये डॉ. पारसमल अग्रवाल ने अपने एक आलेख (जिनभाषित-सितम्बर, 2009) में निम्नानुसार लिखा है -

''सन् 1967 में औषधि-विज्ञान का नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने वाले वैज्ञानिक जार्ज वाल्ड ने एक लेख में यह स्पष्ट बताया है -

"The smallest estimate we would consider of the fraction of stars in the milky way that should have a planet that could support life is one percent. That means a billion such places in our own home galaxy, and with a billion such galaxies within reach of our telescopes, the already observed universe should contain at least a billion billion- 10^{13} places that can support life."

तात्पर्य यह है कि जार्ज वाल्ड के अनुसार 10000000000000000 (एक के आगे 18 शून्य) से भी अधिक स्थान (पृथ्वी जैसे) इस ब्रह्माण्ड में हैं, जहाँ जीवधारी होने की संभावना है।

● यद्यपि इंटरनेट/सैटेलाइट आदि आधुनिक यन्त्रों और भौतिक साधनों से आज पृथ्वी के बहुत बड़े भू-खण्ड को प्रत्यक्ष करना सम्भव है, तथापि जैन दर्शन मान्य असीम लोक की तुलना में वह क्षेत्र नहीं के बराबर है। हमें असीम लोक की ऐसी बातें काल्पनिक-सी दिखती हैं; क्योंकि हमारे पास उन्हें जानने योग्य विशेष ज्ञान नहीं है। किन्तु योगियों ने अपनी दिव्यदृष्टि/अंतरंग ज्ञान से उनका साक्षात्कार किया है। अतः आधुनिक यन्त्रों का प्रयोग करने वाले वैज्ञानिकों की तुलना में योगियों की सूक्ष्म दृष्टि अधिक सामर्थ्यशाली लगती है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में की गई तीन लोक संबंधी विविध विषयों की सूक्ष्म विवेचना को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्यों के पास कोई अलौकिक आंतरिक शक्ति रही होगी, जिसके बल पर उस बैलगाड़ी के जमाने में भी उन्होंने अपने दिव्य ज्ञान से इतने गूढ़, गम्भीर विषयों का वैज्ञानिक विश्लेषण सहजता से कर दिया।

● जैन आगमों के अनुसार वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है, जो कि ह्रास/पतन का काल है। आज जब हर क्षेत्र में मानव जाति विकासोन्मुख ही नहीं, बल्कि विकासशील है। सर्वत्र विज्ञान के आविष्कार एवं चमत्कार दिखाई देते हैं। ऐसे समय को आगमानुसार इसे ह्रास का काल सिद्ध करना भी एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। आज विज्ञान का युग है, नई-नई मशीनें, कैलकुलेटर, कम्प्यूटर, इंटरनेट इत्यादि की खोज मनुष्य की प्रगति की द्योतक प्रतीत होती है; परन्तु वास्तविकता यही है कि इनके द्वारा भी मनुष्य की शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का ह्रास ही हुआ है।

वस्तुतः अवसर्पिणी काल के सन्दर्भ में ह्रास से तात्पर्य आयु, शरीर का उत्सेध, बाहुबल, धर्म, ज्ञान, गाम्भीर्य, धैर्य इत्यादि के ह्रास से है। मात्र भौतिक विकास उन्नति का सूचक नहीं है। वर्तमान में शारीरिक सामर्थ्य आदि की कमी के साथ-साथ नैतिक मूल्यों का भी ह्रास होता जा रहा है। समाज का नैतिक एवं चारित्रिक पतन भी वर्तमान में अवसर्पिणी काल को ही सिद्ध करता है।

● जैन मान्यतानुसार चन्द्रमा ज्योतिष देवों का इन्द्र विमान है, इसमें देव लोग रहते हैं। इस विमान को 16,000 वाहन जाति के देव निरन्तर खींचते हैं। एक ओर इसप्रकार की मान्यता और दूसरी ओर वैज्ञानिकों के अनुसार चन्द्रमा पर न केवल अपने उपग्रह स्थापित करने की बात, अपितु 21 जुलाई 1969 को अमेरिकी अन्तरिक्ष यात्री नील आर्मस्ट्रांग द्वारा चन्द्रमा पर कदम रखने की बात - ये दोनों बातें युगपत सत्य नहीं हो सकती? इस विसंगति पर कलम चलाना भी अत्यन्त दुरूह था; क्योंकि आगम हमारे लिये शिरोधार्य है, उस पर शंका नहीं की जा सकती और वैज्ञानिकों की इस उपलब्धि को नजरअंदाज भी नहीं किया जा सकता। इस विसंगति से संबंधित अनेक प्रमाण प्रस्तुत करने के पश्चात् इस समस्या का निराकरण इस रूप में होता प्रतीत हुआ कि संभवतः दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों द्वारा प्ररूपित दो भिन्न-भिन्न चन्द्र बिम्ब हैं। इस संदर्भ में प्रमाण भी प्रस्तुत किया गया है।

● स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, परलोक की चर्चा दार्शनिकों के विषय हैं, इन्हें वैज्ञानिक नहीं मानते। अतः अधोलोक संबंधी सात नरक पृथ्वियाँ, मध्यलोक के असंख्यात द्वीप-

समुद्र अथवा ऊर्ध्वलोक संबंधी स्वर्ग आदि रचनात्मक विषयों के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न खड़ा करना उचित नहीं है; पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि आगमों में प्रदर्शित नरक-स्वर्ग की दर्शायी गई परिस्थितियों वाले क्षेत्र इस लोक में हैं या नहीं; यह हम जैसे क्षयोपशम ज्ञानवालों की पहुँच का विषय नहीं है।

भले ही नरक अथवा स्वर्ग की सत्ता/अस्तित्व आज के वैज्ञानिक स्वीकार न करते हों; किन्तु लगभग सभी भारतीय दार्शनिक परम्परायें नरक एवं स्वर्ग की चर्चायें न्यूनाधिक रूप में इसी तरह करती देखी जाती हैं। आज जन-जन के मानस में इनकी आस्था बनी हुई है और बहुत हद तक जगत में पाप की कमी का कारण भी लोगों के हृदय की यह आस्था ही है। इन चर्चाओं को स्वीकार करने की यह भी कम उपलब्धि नहीं है कि लोगों को इन बातों के पढ़ने-सुनने से नरक के भय से पाप और दुराचार से बचने की सहज अन्तःप्रेरणा मिलती है।

यथार्थता तो केवलज्ञान गम्य है; किन्तु इस सम्पूर्ण उल्लेख से हमारे तो इसी प्रयोजन की सिद्धि होती है कि नरक का वातावरण और वहाँ की घोर यातनाओं की चर्चा सुनकर/पढ़कर हम सप्त व्यसनों से बच सकें। अनीति, अन्याय, बेईमानी और धोखाधड़ी से स्वयं बचें एवं दूसरों को इन महापापों से बचाकर एक सुदृढ़ समाज एवं सभ्य सुसंस्कृत देश की परिकल्पना कर सकें।

● स्वर्ग-नरक आदि की सत्ता को सर्वथा अस्वीकार कर देने पर सभी दार्शनिक परम्पराओं पर कुठाराघात करने का प्रसंग प्राप्त होगा; क्योंकि किसी न किसी रूप में इस प्रकार के प्रकरण वेद, पुराण, उपनिषद, आगम, त्रिपिटिक आदि में सर्वत्र उपलब्ध हैं। ये प्राचीन भारतीय ऋषि-मुनियों द्वारा लिखित ग्रन्थ हैं, उनके दिव्य ज्ञान/सामर्थ्य की बराबरी भौतिकता की चकाचौंध में उलझे सांसारिकजन किसी भी रूप में नहीं कर सकते।

अतः हमें इन विषयों के रहस्य को समझने का प्रयास करना चाहिये। ऋषि-मुनियों द्वारा इन प्रकरणों को लिखने के पीछे कोई विशिष्ट मन्तव्य रहा होगा, हमें वहाँ तक पहुँचना है। इनके निषेध से सभी प्राचीन दार्शनिक विचारधाराओं की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न खड़ा हो जायेगा। यदि दार्शनिकों की सृष्टि/लोक संबंधी बातें सर्वथा असत्य हैं तो फिर अन्य बातों की प्रामाणिकता का क्या आधार है? फिर वेद, पुराण, गीता, रामायण, कुरान, बाइबिल आदि सभी की प्रामाणिकता संदिग्ध हो जायेगी; इस प्रकार सर्व लोप का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः सर्व लोप के इस महासंकट से बचने के लिये हमारी कोशिश उन प्रकरणों के निषेध की न होकर उनके साथ वर्तमान में सामंजस्य बैठाने की दिशा में होनी चाहिये।

● विज्ञान और दर्शन संबंधी इन प्रकरणों को लेकर वर्तमान में दो तरह की मान्यतायें चल रही हैं –

(1) एक मान्यता के अनुसार दार्शनिक चिन्तन शाश्वत है, जबकि विज्ञान सतत अनुसंधान की प्रक्रिया है। विज्ञान द्वारा नित नई खोज होती है और पुरानी मान्यता का खण्डन हो जाता है। आज अधिकांश वैज्ञानिक पृथ्वी को गोल मानते हैं तो कुछ आधुनिक वैज्ञानिक पृथ्वी के गोल संबंधी मान्यता का खण्डन भी कर रहे हैं। लंदन में 'फ्लैट अर्थ सोसायटी' नामक संस्था पृथ्वी को चपटा सिद्ध करने के प्रयासों में जुटी है। अतः प्रथम मान्यता वाले लोगों के अनुसार वैज्ञानिक तथ्यों को अन्तिम सत्य के रूप में नहीं स्वीकारा जा सकता।

(2) दूसरी मान्यता वाले विद्वानों का मानना है कि आगमों में प्रयुक्त शब्दावली का आज सही अर्थ लगाने की जरूरत है। आचार्यों द्वारा प्रयोग किये गये शब्द तात्कालिक समय में किस रूप में प्रयोग किये जाते थे? उन शब्दों के पीछे उनका क्या मन्तव्य था? यदि उनके सूत्रात्मक कथनों का सही अर्थ लगाया जाये तो बहुत हद तक वैज्ञानिक एवं दार्शनिक मान्यताओं में समानता खोजने में सफलता मिल सकती है।

● जैन मान्यतानुसार मध्य लोक को आगमों में 'झल्लरी' अथवा 'स्थाली' के आकार का बताया है। आचार्य महाप्रज्ञ ने अपने एक लेख (तुलसीप्रज्ञा, अप्रैल-जून, 1975) में लिखा है कि झल्लरी का एक अर्थ झाँझ नामक वाद्य यन्त्र भी है और स्थाली का अर्थ भोजन पकाने वाली हँडिया भी है पर आधुनिक युग में यह अर्थ प्रचलित नहीं है। यदि हम इनका झाँझ और हँडिया अर्थ मान लें तो वैज्ञानिकों की तरह ही जैन मान्यतानुसार भी पृथ्वी का आकार गोल सिद्ध हो जाता है।

भारतीय वैज्ञानिक शोध संस्थान (इसरो) के प्रो. राजमल जैन से अहमदाबाद में इन विषयों पर व्यक्तिगत चर्चा के दौरान इसी प्रकार का पक्ष उजागर किया। जहाँ काल गणना में कोड़ाकोड़ी शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ कोड़ी का अर्थ विद्वान लोग करोड़ समझकर गणना करते हैं; किन्तु यदि कोड़ी का अर्थ 20 अथवा 10 माना जाये तो अर्थों में बहुत कुछ सामंजस्य बैठ सकता है। आगमों में धनुष्य शब्द का प्रयोग ऊँचाई की नाप बताने के लिये होता है, जिसका अर्थ चार हाथ अर्थात् लगभग 5 फीट माना जाता है, किन्तु यदि धनुष्य का अर्थ आयुर्वेद के अनुसार रीढ़ की हड्डी से लिया जाये तो वह नाप कुछ इंचों में होगी, जो कि अधिक उपयुक्त है।

विद्वान लोग अथवा नवीन शोधार्थी यदि इस दिशा में और प्रयास करें तो परस्पर की खाई को थोड़ा-बहुत कम किया जा सकता है।

● जैनाचार्यों ने हर क्षेत्र में अपनी अनेकान्तिक दृष्टि को मुख्य रखा है। लोक के संदर्भ में भी उनकी यह दृष्टि परिलक्षित हुई है। उन्होंने 'लोक' शब्द का प्रयोग कभी बाह्य जगत के लिये तो कभी अंतरंग जगत के लिये भी किया है। जैन शास्त्रों में ऊर्ध्व, मध्य, अधो लोक के अतिरिक्त निज चैतन्य आत्मा के लिये भी लोक शब्द का प्रयोग हुआ है। तीन लोक की चर्चायें बहिर्मुखी होने से व्यवहार से लोक कही जाती हैं। निश्चय से तो अपना आत्मा ही लोक है; अतः जैन मनीषियों ने शुद्ध दृष्टि से अपने अंतरंग स्वरूप को ही निहारने की प्रेरणा दी है।

आचार्य कुन्दकुन्द वारसाणुवेक्खा में कहते हैं कि अशुभ उपयोग से नरक/तिर्यंच गति प्राप्त होती है, शुभ उपयोग से देव/मनुष्य गति का सुख मिलता है एवं शुद्ध उपयोग से मुक्ति की प्राप्ति होती है - इस तरह लोक का विचार करना चाहिये। लोकालोक का विचार करने से तत्त्वज्ञान निर्मल होता है, हमें केवलज्ञान की महिमा आती है। केवलज्ञान से ज्ञानस्वभाव की और ज्ञानस्वभाव से ज्ञायक आत्मा की महिमा आती है। इस प्रकार दृष्टि स्वभाव सन्मुख होकर अपने में समा जाती है। यही समस्त दुःखों से मुक्ति प्राप्त करने का उपाय है।

इसप्रकार तीन लोक के आश्रय से की गई सम्पूर्ण चर्चाओं में अधोलोक की चर्चा पाप का फल दिखाने वाली, ऊर्ध्वलोक में देवादि विमानों की चर्चा पुण्य का फल दिखाने वाली तथा सिद्धालय की चर्चा यथार्थ धर्म जीवन में प्रकट करने की प्रेरणा देने के लिये है।

● जैन आगमों का मूल स्रोत तीर्थंकरों की वाणी है, उसे सुनकर गणधरों के द्वारा द्वादशांग की रचना की जाती है। द्वादशांग का अंतिम भेद दृष्टिवाद है। इसके पाँच भेद हैं- (1) परिकर्म (2) सूत्र (3) प्रथमानुयोग (4) पूर्वगत और (5) चूलिका। प्रथम भेद परिकर्म के अन्तर्गत व्याख्याप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति की रचना हुई। ये आगम जैन दृष्टि से तीन लोक का विशद विवेचन करने वाले थे, किन्तु वे सब आगम आज अपने मूल स्वरूप में नहीं हैं, इनका बहुभाग विषय वर्तमान में अनुपलब्ध है।

आगम की तीन लोक संबंधी बातों के बारे में वैज्ञानिकों द्वारा जो प्रश्न उठाये जाते हैं, यदि वर्तमान विद्वानों अथवा उपलब्ध ग्रन्थों में उन बातों का कोई जवाब नहीं मिलता है तो उसका एक कारण आगम ग्रन्थों का बहुभाग विलुप्त जो जाना भी है। स्वयं आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर प्रकरण वश विषय के विलुप्त हो जाने अथवा नष्ट हो जाने का उल्लेख किया है।

प्रस्तुत शोध-कार्य के दौरान हमने तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ के विशालकाय तीन भागों की पाँच हजार सात सौ छियत्तर (5776) गाथाओं में से उन सभी गाथाओं को संकलित कर परिशिष्ट के रूप में प्रस्तुत किया है, जिनमें विषय नष्ट होने संबंधी उल्लेख है। ये वे विषय हैं, जो तिलोयपण्णत्ती की रचना काल में अर्थात् लगभग 2000 वर्ष पूर्व विलुप्त हो चुके थे।

इससे सिर्फ अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन काल से अब तक विशाल जैन साहित्य काल के गाल में समा गया। उपलब्ध साहित्य में भी सैकड़ों, हजारों ग्रन्थ आज ताड़पत्रों पर पाण्डुलिपियों के रूप में दीमक के ग्रास बन रहे हैं, उन सब पर शीघ्र अनुसंधानपरक कार्य होने चाहिये। यदि इस दिशा में कार्य किये जायें तो संभवतः वैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों में दिखने वाला परस्पर विरोध कुछ कम हो सकता है; अतः विलुप्त ज्ञान को प्राप्त करने हेतु योजनाबद्ध तरीके से ठोस कदम उठाये जा सकते हैं।

आगम हमारी प्राचीन धरोहर है। हमारा प्रयास इस पुरातन धरोहर को बचाने में अथवा आगमों एवं विज्ञान संबंधी धारणाओं की परस्पर दूरी को कम करने की दिशा में होना चाहिये, ताकि वर्तमान युवा पीढ़ी के हृदय में इस प्राचीन ज्ञान के प्रति आस्था कायम रह सके। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय जैन दृष्टि से तीन लोक का समीक्षात्मक अध्ययन करना रहा है। भविष्य में इन विषयों के संदर्भ में वैदिक एवं बौद्ध मान्यताओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है।

इस विषय पर विशेष अध्ययन एवं लेखन करने के पश्चात् भी यह शोध समाप्त नहीं हो जाता; क्योंकि इन विषयों के शोध को काल में नहीं बांधा जा सकता। शोध एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। इन विषयों की अनसुलझी गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास अनवरत जीवनपर्यंत चलता रहना चाहिये।

परिशिष्ट – 1

प्रस्तुत शोध–कार्य के दौरान हमने तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ के विशालकाय तीन भागों की पाँच हजार सात सौ छियत्तर (5776) गाथाओं में से उन सभी गाथाओं को संकलित किया है, जिनमें आचार्य यतिवृषभ ने किसी विशिष्ट प्रकरण संबंधी विषय के विलुप्त अथवा नष्ट होने संबंधी उल्लेख किया है।

बिदुओ महाहियारो (द्वितीय महाधिकार)

अवसेस–इंदयाणं, पुव्वादि–दिसासु सेढिबद्धाणं।
णट्ठाइं णामाइं, पढमाणं बिदिय–पहुदि–सेढीणं।।54।।

अर्थ – शेष द्वितीयादिक इन्द्रक बिलों के समीप पूर्वादि दिशाओं में स्थित श्रेणीबद्ध बिलों के नाम और पहले इन्द्रक बिलों के समीप स्थित द्वितीयादिक श्रेणीबद्ध बिलों के नाम **नष्ट हो गये** हैं।।54।।

तदिओ महाहियारो (तृतीय महाधिकार)

होंति पयण्णय–पहुदी, जेत्तियमेत्ता य सयल–इंदेसु।
तत्परिमाण–परूवण उवएसो णत्थि काल–वसा।।88।।

अर्थ – सम्पूर्ण इन्द्रों में जितने प्रकीर्णक आदिक देव हैं, काल के वश से उनके प्रमाण के प्ररूपण का **उपदेश नहीं है**।।88।।

इंदादी पंचाणं, सरिसो, आहार–काल–परिमाणं।
तणुरक्ख–प्यहुदीणं, तस्सिं उवदेस–उच्छिण्णो।।113।।

अर्थ – इन्द्रादिक पाँच (इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश और पारिषद) के आहार–काल का प्रमाण सदृश है। इसके आगे तनुरक्षकादि देवों के आहार–काल के प्रमाण का उपदेश **नष्ट हो गया** है।।113।।

पडिइंदादि–चउण्हं, इंदस्सरिता हवंति उस्सासा।
तणुरक्ख–पहुदीसुं, उवएसो संपइ पणट्ठो।।118।।

अर्थ – प्रतीन्द्रादिक चार देवों के उच्छ्वास इन्द्रों के सदृश ही होते हैं। इसके आगे तनुरक्षकादि देवों में उच्छ्वास-काल के प्रमाण का उपदेश इस समय **नष्ट हो गया** है।।118।।

जेत्तियमेत्त आऊ पइण्ण-अभियोग-किब्बिससुराणं।
तप्परिमाण परूवण उवएसस्सप्पहि पणट्ठो।।161।।

अर्थ – प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक देवों की जितनी-जितनी आयु होती है, उसके प्रमाण के प्ररूपण के उपदेश इस समय **नष्ट हो चुके** हैं।।161।।

जेत्तियमेत्ता आऊ, सरीररक्खादियाण देवीणं।
तस्स पमाण-णिरूवम-उवदेसो णत्थि काल-वसा।।174।।

अर्थ – अंगरक्षक आदि देवों की देवियों की जितनी आयु होती है, उसके प्रमाण के कथन का उपदेश काल के वश से **इस समय नहीं** है।

चउत्थो महाहियारो (चतुर्थ महाधिकार)

उच्छेहवास पहुदिसु, दारब्भवणाण जेत्तिया संखा।
तप्परिमाण परूवण उवएसो संपहि पणट्ठो।।49।।

अर्थ – द्वार-भवनों की ऊँचाई तथा विस्तार आदि का जितना प्रमाण है, उस प्रमाण के प्ररूपण का उपदेश इस समय **नष्ट हो चुका** है।।49।।

मज्झिम-उवरिमभागे, धूलीसालाण रूंद-उवएसो।
काल-वसेण पणट्ठो, सरितीरूप्पण्ण-विडवो व्व।।758।।

अर्थ – धूलिसालों के मध्य और उपरिम भाग के विस्तार का उपदेश कालवश से नदी-तीरोत्पन्न वृक्ष के सदृश **नष्ट हो गया** है।।758।।

जिणपुर पासादाणं, उस्सेहो णिय-जिणिंद-उदएण।
बारस-हदेण सरिसो, णट्ठो दीहत्त-वास-उवदेसो।।761।।

अर्थ – जिनपुर और प्रासादों की ऊँचाई अपने-अपने तीर्थंकर की ऊँचाई से बारह-गुणी होती है। इनकी लम्बाई और विस्तार के प्रमाण का उपदेश **नष्ट हो गया** है।।761।।

णट्टय-सालाण पुढं, उस्सेहो णिय-जिणिंद-उदएहिं।
बारस-हवेहि सरिसो, णट्ठा दीहत्त-वास-उवएसा।।765।।

अर्थ – नाट्यशालाओं की ऊँचाई बारह से गुणित अपने-अपने तीर्थंकरों के शरीर की ऊँचाई के सदृश होती है तथा इनकी लम्बाई एवं विस्तार का उपदेश **नष्ट हो गया** है।।765।।

पीढत्तयस्स कमसो, सोवाणं घउदिसासु पत्तेक्कं।
अट्ठ घउ घउ पमाणं, जिण-जाणिद-दीह-वित्थारा।।779।।

अर्थ – चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में इन तीनों पीठों की सीढ़ियों का प्रमाण क्रमशः आठ, चार और चार है। इन सीढ़ियों की लम्बाई और विस्तार जिनेन्द्र ही जानते हैं अर्थात् उसका उपदेश **नष्ट हो गया** है।।779।।

दीहत्त-रूंद-माणं, ताणं संपइ पणट्ठ-उयएसं।
भव्वाभितय-णच्चण-पदाहिणं तेसु कुव्वंति।।858।।

अर्थ – इन स्तूपों की लम्बाई एवं विस्तार के प्रमाण का उपदेश इस समय **नष्ट हो चुका** है। भव्य-जीव इन स्तूपों का अभिषेक, पूजन और प्रदक्षिणा करते हैं।।856।।

अण्णे विविहा-भंगा, चारणरिद्धीए भासिदा भेदा।
ताण सरूवं कहणे, उवएसो अम्ह उच्छिण्णो।।1057।।

अर्थ – विविध भंगों से युक्त चारण-ऋद्धि के अन्य भेद भी भासित होते हैं, परन्तु उनके स्वरूप का कथन करने वाला उपदेश हमारे लिए **नष्ट हो चुका** है।।1057।।

उस्सेह-आउ-तित्थयरदेव-पच्चक्ख-भाव-पहुदीसुं।
एदाण णारदाणं, उवएसो अम्ह उच्छिण्णो।।1483।।

अर्थ – इन नारदों की ऊँचाई, आयु और तीर्थंकर देवों के (प्रति) प्रत्यक्ष-भावादिक के विषय में हमारे लिए उपदेश **नष्ट हो चुका** है।।1483।।

सेसाणं उस्सेहे, संपदि अम्हाण णत्थि उवदेसो।
कुलकर-पहुदी णामा, एदाणं होंति गुणणामा।।1593।।

अर्थ – शेष कुलकरों की ऊँचाई के विषय में हमारे पास इस समय **उपदेश नहीं** है। इनके जो कुलकर आदि नाम हैं, वे गुण (सार्थक) नाम हैं।।1593।।

उच्छेहाऊ-पहुदिसु सेसाणं णत्थि अम्ह उवएसो।
एदे तित्थयर-जिणा, तदिय-भवे तिभुवणस्स खोहकरं।।1804।।

अर्थ – शेष तीर्थंकरों की ऊँचाई और आयु आदि के विषय में हमारे पास **उपदेश नहीं** है। ये तीर्थंकर जिनेन्द्र तृतीय भव में तीनों लोकों को आश्चर्य करते हैं।।1804।।

होंति पइण्णय-पहुदी ताणं भवणं वि पउम-पुप्फेसुं।
उच्छिण्णो काल-वसा, तेसुं परिमाण-उवएसो।।1711।।

अर्थ – पद्म पुष्पों पर स्थित जो प्रकीर्णक आदिक देव हैं, उनके भवनों के प्रमाण का उपदेश कालवश **नष्ट हो गया** है।।1711।।

उच्छेह-प्यहुदीसुं, संपहि अम्हाण णत्थि उवदेसो।
तस्स य चउदिदसासुं, पासादा होंति रयणमय।।1733।।

अर्थ – इस जिनभवन की ऊँचाई आदि के विषय में इस समय हमारे पास **उपदेश नहीं** है। जिन-भवन के चारों ओर रत्नमय प्रासाद हैं।।1733।।

एक्कं कोसं गाढो, सो णिलओ विविह-केदु-रमणिज्जो।
तस्सायाम-पमाणे, उवएसो णत्थि अम्हाणं।।1974।।

अर्थ – वह प्रसाद एक कोस गहरा और विविध प्रकार की ध्वजाओं से रमणीय है, उसकी लम्बाई के प्रमाण का **उपदेश हमारे पास नहीं** है।।1974।।

सोमणससेल-उदए, चउभजिदे होंतिकूड-उदयाणिं।
वित्थारायामेसुं, कूडाणं णत्थि उवएसो।।2057।।

अर्थ – सौमनस गजदन्त की ऊँचाई में चार का भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो, उतनी इन कूटों की ऊँचाई है। इन कूटों के विस्तार और लम्बाई के विषय में **उपदेश नहीं है**।।2057।।

दीहत्ते वित्थारे, उवएसो ताण संपइ पणट्ठो।
आदिमकूडुच्छेहो, पणवीसजुदं च जोयणाणसयं।।2072।।

अर्थ – उन कूटों की लम्बाई एवं विस्तार-विषयक उपदेश इस समय **नष्ट हो चुका** है। इनमें से प्रथम कूट की ऊँचाई एक सौ पच्चीस योजन है और अन्तिम कूट की ऊँचाई का प्रमाण एक सौ योजन है।।2072।।

जमगगिरीणं उवरिं, अवरे वि हवंति दिव्वपासादा।
उच्छेह-वास-पहुदिसु, उच्छिण्णो ताण उवएसो।।2107।।

अर्थ – यमक पर्वतों के ऊपर और भी (अन्य) दिव्य प्रासाद हैं। उनकी ऊँचाई एवं विस्तारादि का उपदेश नष्ट हो गया है।।2107।।

पुह-पुह पोखरणीणं, समंतदो होंति पट्ठकूडाणिं।
एदाण उदय पहुदिसु उवएसो संपइ पणट्ठो।।2215।।

अर्थ – पुष्करणियों के चारों ओर पृथक्-पृथक् आठ कूट हैं। इन कूटों की ऊँचाई आदि का उपदेश इस समय **नष्ट हो चुका** है।।2215।।

णवरि विसेसो तस्सि, सलाग पुरिसा हवंति जे केई।
ताणं णामप्पहुदिसु, उवदेसो संपइ पणट्ठो।।2393।।

अर्थ – विशेष यह कि उस क्षेत्र में जो कोई शलाका-पुरुष होते हैं, उनका नामादि-विषयक उपदेश इस समय **नष्ट हो चुका** है।।2393।।

छण्णव- छण्णम-एक्कं, छइअट्ठसत्तं कमेणभागा य।
दु-रहिद-तिण्णि-सयाइं, हिमवद-खिदिम्मि खेत्तफलं।।2404।।

अर्थ – छह, नौ, छह, शून्य, एक, छह, आठ और सात इस अंक क्रम से जो संख्या निर्मित हो उतने योजन और तीन सौ इकसठ से भाजित दो सौ अट्ठानवे भाग प्रमाण हैमवत-क्षेत्र का सूक्ष्म क्षेत्रफल है।।2404।।

नोट – महाहिमवान पर्वत के सूक्ष्म-क्षेत्रफल को दर्शानेवाली गाथा **कीड़ों द्वारा खाई जा चुकी है।**

ताणं हेट्ठिम मज्झिम उवरिम वासाणि संपइ पणट्ठा।
तेसुं वर पासादा, विचित्त रूवा विरायंति।।2489।।

अर्थ – इन पर्वतों के नीचे का, मध्य का और ऊपर का जो कुछ विस्तार है, उसका प्रमाण इससमय **नष्ट हो गया** है। इन पर्वतों पर विचित्र रूपवाले उत्तम प्रासाद विराजमान हैं।।2489।।

उच्छेह वास पहुदिसु उवएसो तस्स संपई पणट्ठो।
चित्त चउ-वण्ण चारू, जिणिंद भवणेहि रमणिज्जो।।2507।।

अर्थ – (वह मागधद्वीप) चित्त को प्रिय रंगों से सुन्दर एवं जिनेन्द्र भवनों से रमणीय है। इस समय उस द्वीप के उत्सेध और विस्तारादि के विषय में उपदेश **नष्ट हो गया** है।।2507।।

पणिधीए जंबुदीवं, खिदि वण्णिद वइजयंत दारेस।
संखेज्ज जोयणाणिं, गंतूणं लवणसलिलम्मि।।2509।।

वरतणु णामो दीओ, जिणिंद पासाद भूसिदो रम्मो।
रूंदादिसु उवदेसो, काल वसा तस्स उच्छण्णो।।2510।।

अर्थ – जम्बूद्वीप के पार्श्वभाग के क्षेत्र में (पूर्व) वर्णित वैजयन्त द्वार से लवणसमुद्र के जल में संख्यात योजन जाकर जिनेन्द्र भवनों से विभूषित अत्यन्त रमणीय वरतनु नामक द्वीप है, जिसके विस्तार आदि का उपदेश कालवश **नष्ट हो गया** है।।2509-2510।।

मंदरगिरिंद उत्तर दक्खिण भागेसु भद्दसालाणं।
जं विक्खंभ पमाणं, उवएसो तस्स उच्छिण्णो।।2629।।

अर्थ – मन्दर पर्वतों के उत्तर-दक्षिण भागों में भद्रशालवनों का जितना विस्तार है, उसके प्रमाण का उपदेश **नष्ट हो गया** है।।2629।।

ताणं गुहाण रूंदे, उदए बहुलम्मि अम्ह उवएसो।
काल वसेण पणट्ठो, सरिकूले जाद विडओ व्व।।2797।।

अर्थ – उन गुफाओं के विस्तार, ऊँचाई और बाहल्य का उपदेश कालवश हमारे लिए नदी तट पर उत्पन्न हुए वृक्ष के सदृश **नष्ट हो गया** है।।2797।।

उत्तरदक्खिण भागट्ठिदाण जो होदि भद्दसालवणं।
विक्खंभो काल वसा, उच्छिण्णो तस्स उवएसो।।2867।।

अर्थ – उत्तर-दक्षिण भाग में स्थित भद्रशाल वन का जो कुछ विस्तार है, उसका उपदेश कालवश **नष्ट हो गया** है।।2867।।

गाथा 2924 के पश्चात् विषय अनुसार चार गाथायें और होनी चाहिये (टीकाकार लिखते हैं, यहाँ सम्भवतः 4 गाथायें **लुप्त प्रतीत होती हैं।**)

पंचमो महाहियारो (पंचम महाधिकार)

सेसाणं दीवाणं, वारि-णिहीणं च अहिवई देवा।
जे केइ ताण णामं, सुवएसो संपहि पणिट्ठो।।48।।

अर्थ – शेष द्वीप समुद्रों के जो कोई भी अधिपति देव हैं, उनके नामों का उपदेश इस समय **नष्ट हो गया** है।।48।।

इस अधिकार की गाथा 89 के पश्चात् टीकाकार लिखते हैं कि यहाँ लांतव और कापिष्ठ इन्द्र की भक्ति को प्रदर्शित करने वाली दो **गाथाएँ छूट गई** हैं।

तग्गिरिणो उच्छेहे, वासे कूडेसु जेत्तियं माणं।
तस्सिं काल वसेणं, उवएसो संपइ पणट्ठो।।242।।

अर्थ – इस पर्वत की ऊँचाई, विस्तार और कूटों का जितना प्रमाण है, उसका उपदेश इस समय कालवश **नष्ट हो चुका** है।।242।।

छट्ठो महाहियारो (छठा महाधिकार)

णयरेसु तेसु दिव्वा, पासादा कणयरजदरयणमया।
उच्छेहादिसु तेसुं, उवएसो संपइ पणट्ठो।।66।।

अर्थ – उन नगरों में सुवर्ण, चाँदी एवं रत्नमय जो दिव्य प्रासाद हैं, उनकी ऊँचाई आदि का उपदेश इस समय **नष्ट हो गया** है।।66।।

भोमिंदाणपइण्णय अभिजोग्ग सुरा हवंति जे केई।
ताणं पमाण हेदू उवएसो संपइ पणट्ठो।।76।।

अर्थ – व्यन्तरेन्द्रों के जो कोई प्रकीर्णक और आभियोग्य आदि देव होते हैं, उनके प्रमाण का निरूपक उपदेश इस समय **नष्ट हो चुका** है।।76।।

सत्तमो महाहियारो (सप्तम महाधिकार)

संपहि कालवसेणं, ताराणामाण णत्थि उवएसो।
एदाणं सव्वाणं, परमाणाणिं परूवेमो।।32।।

अर्थ – इस समय काल के वश से ताराओं के नामों का **उपदेश नहीं है।** अब इन सबका प्रमाण कहता हूँ।।32।।

परिहीसु ते चरंते, ताणं कणयाचलस्स विच्चालं।
अण्णं पि पुव्व भणिदं, कालवसादो पणट्ठमुवएसं।।460।।

अर्थ – वे ग्रह इन परिधियों में संचार करते हैं। इनका मेरु पर्वत से अन्तराल तथा और भी जो पूर्व में कहा जा चुका है, उसका उपदेश कालवश **नष्ट हो चुका** है।।460।।

रिक्खगमणादु अहियं, गमणं जोणेज्ज सयलताराणं।
ताणं णाम प्यहुदिसु, उवएसो संपइ पणट्ठो।।498।।

अर्थ – सब ताराओं का गमन नक्षत्रों के गमन से अधिक जानना चाहिये। इनके नामादिक का उपदेश इस समय नष्ट हो चुका है।।498।।

अट्ठमो महाहियारो (अष्टम महाधिकार)

पीढाणीए दोण्हं अहिवइ देओ हवेदि हरिणामो।
सेसाणीयवईणं, णामेसुं णत्थि उवएसो।।276।।

अर्थ – दोनों (दक्षिणेन्द्र और उत्तरेन्द्र) की पीठानीक (अश्वसेना) का अधिपति हरि नामक देव होता है। शेष अनीकों के अधिपतियों के नामों का **उपदेश नहीं** है।।276।।

जे अभियोग पइण्णय किव्विसिया होंति लोयपालाणं।
ताण पमाण णिरूवण उवएसा संपइ पणट्ठो।।296।।

अर्थ – लोकपालों के जो आभियोग्य, प्रकीर्णक और किल्विषक देव होते हैं उनके प्रमाण के निरूपण का उपदेश इस समय **नष्ट हो गया** है।।296।।

ताणं विमाण संखा उवएसो णत्थि काल दोसेण।
ते सव्वे वि दिगिंदा, तेसु विमाणेसु कीडंते।।302।।

अर्थ – उन विमानों की संख्या का उपदेश कालवश **इस समय नहीं है।** ये सब लोकपाल उन विमानों में क्रीड़ा किया करते हैं।।302।।

जाओ पइण्णयाणं, अभियोग सुराण किब्भिसाणं च।
देवीओ ताण संखा, उवएसो संपइ पणट्ठो।।331।।

अर्थ – प्रकीर्णक, आभियोग्य देव और किल्विषक देवों की जो देवियाँ हैं, उनकी संख्या का उपदेश इस समय **नष्ट हो गया** है।।331।।

ताणं पइण्णएसुं, अभियोग सुरेसु किब्बिसेसुं च।
आउ पमाण णिरुवण उवएसो संपहि पणट्ठो।।526।।

अर्थ – उनके प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विष देवों में आयु प्रमाण के निरूपण का उपदेश इस समय **नष्ट हो गया** है।।526।।

तणुरक्खण सुराणं, तिप्परिसप्पहुदि आण देवीणं।
आउ पमाण णिरूवण उवएसो संपहि पणट्ठो।।543।।

अर्थ – तनुरक्षक देव और तीनों पारिषद् आदि देवों की देवियों के आयु प्रमाण के निरूपण का उपदेश इस समय **नष्ट हो गया** है।।543।।

गाथा 549 व 550 के बीच लान्तव कल्प के विरह काल को दर्शाने वाली **गाथा नहीं** है।

इंदप्पहुदि चउण्हं, देवीणं भोयणम्मि जो समओ।
तस्स पमाण परूवण उवएसो संपहि पणट्ठो।।557।।

अर्थ – इन्द्र आदि चार (इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक और त्रायस्त्रिंश) की देवियों के भोजन का जो काल है, उसके प्रमाण के निरूपण का उपदेश इस समय **नष्ट हो गया** है।।557।।

वरुणस्स असणकालो, होदि कुबेरादु किंचि अदिरित्तो।
सेसाहार पमाणं उवएसो संपहि पणट्ठो।।562।।

अर्थ – वरुण लोकपाल का आहार काल कुबेर के आहार काल से कुछ अधिक अर्थात् पन्द्रह दिन है। शेष (सानत्कुमार आदि इन्द्र, उनके परिवार के देव-देवियों) के आहार काल के प्रमाण का उपदेश इस समय **नष्ट हो गया** है।।562।।

उक्त संकलित गाथाओं से इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि हजारों वर्ष के इतिहास में बहुत कुछ काल के गाल में समाया जा चुका है। उक्त गाथाओं में विलुप्त होने की बात का उल्लेख प्रकरणवश हो गया है। अन्यथा यह कहना संभव नहीं है कि क्या नष्ट हो गया।

●

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (अकारादि क्रम से)

(अ) मूल ग्रन्थ

अष्टपाहुड : आचार्य कुन्दकुन्द
सम्पादक – डॉ. हुकमचंद भारिल्ल
पं. टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट, जयपुर, दसवाँ संस्करण 2008

आदिपुराण : आचार्य जिनसेन
सम्पादक – डॉ. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली
भाग–1 दसवाँ संस्करण 2004
भाग–2 नौवाँ संस्करण 2003

आदिपुराण : महाकवि पुष्पदंत
जैन विद्या संस्थान श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

इष्टोपदेश एवं समाधितंत्र : आचार्य पूज्यपाद
श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई
प्रथम संस्करण 2003

उत्तराध्ययन सूत्र (गुजराती प्रति) : मूल अंगबाह्य आगम
भाषान्तरकर्त्ता – शास्त्री जेठालाल हरिभाई
भावनगर, विक्रम संवत् 1982

करकण्ड चरिउ : मुनि कनकामर
भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सन्–1964

कार्तिकेयानुप्रेक्षा : स्वामी कार्तिकेय
सम्पादक – पं. महेन्द्रकुमार पाटनी, काव्यतीर्थ
श्री दिगम्बर जैन शिक्षण समिति, इंदौर एवं
पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, चतुर्थ सं. 1996

गणितसार संग्रह : महावीराचार्य
सम्पादक – लक्ष्मीचंद्र जैन जबलपुर, गुलाबचंद हीराचंद दोषी जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1963

गणितानुयोग : सम्पादक – मुनि कन्हैयालाल 'कमल'
प्रकाशक – आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद, द्वितीय संस्करण

गोम्मटसार कर्मकाण्ड : श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, चतुर्थ सं. 1978

गोम्मटसार जीवकाण्ड : श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती
श्रीमद राजचन्द्र आश्रम, अगास, छठा सं. 1985
क्षत्र चूड़ामणि : वादीभसिंह सूरि
प्रकाशक – पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 2008
जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र : स्थविरप्रणीत षष्ठ उपांग
सम्पादक – डॉ. छगनलाल शास्त्री, पं. शोभाचंद्र भारिल्ल
श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1986
जंबूदीवपण्णत्ति संगहो : पउमणदिकओ
सम्पादक – प्रो. ए. एन. उपाध्याय एवं प्रो. एच. एल. जैन
जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1958, वि.सं. 2014
जंबूद्वीप (लघु) संग्रहणी : आचार्य हरिभद्र सूरि
सम्पादक – आचार्य विजयसूर्योदयसूरिशिष्य नंदीघोष विजय
प्रकाशक – श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, खंभात, 1988
ज्ञानार्णव : आचार्य शुभचन्द्र
अनुवाद – पन्नालाल बाकलीवाल
प्रकाशक – श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगास, सप्तम सं. 1998
तत्त्व भावना : श्री अमितगति आचार्य
(सामायिक पाठ) प्रकाशक – श्री 105 क्षुल्लक बाहुबलीजी महाराज
द्वितीयावृत्ति, वीर सं. 2499
तत्त्वार्थसूत्र : आचार्य उमास्वामी
वीर पुस्तक भण्डार, जयपुर, 2005
तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) : भट्ट अकलंकदेव
सम्पादक – प्रो. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य
भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
भाग–1 पंचम संस्करण 1999, आठवाँ संस्करण 2008
भाग–2 पंचम संस्करण 1999, आठवाँ संस्करण 2009
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार : श्री विद्यानंदस्वामी
(सप्त खण्ड) सम्पादक – पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री
आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला, सोलापुर
: प्रथम खंड, सन् 1949
: द्वितीय खंड, सन् 1951
: तृतीय खंड, सन् 1953
: चतुर्थ खंड, सन् 1956

: पंचम खंड, सन् 1964
: षष्ठ खंड, सन् 1969
: सप्तम खंड, सन् 1984

तिलोयपण्णत्ती : आचार्य यतिवृषभ
टीकाकर्त्री – आर्यिका विशुद्धमति
सम्पादक – डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी
श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा,
भाग– 1, प्रथम सं. 1984 (तिजारा, अलवर, तृतीय सं. 1997)
भाग–2, प्रथम सं. 1986
भाग – 3, प्रथम सं. 1988

तिलोयपण्णत्ती : आचार्य यतिवृषभ
(त्रिलोक प्रज्ञप्ति) सम्पादक – प्रो. आदिनाथ उपाध्याय एवं प्रो. हीरालाल
जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
भाग–1, 1956
भाग–2, 1951

त्रिलोकसार : श्रीमन्नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती
टीकाकर्त्री – आर्यिका विशुद्धमति
सम्पादक – पं. रतनचंद जैन मुख्तार, डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी
श्री शान्तिवीर दि. जैन संस्थान, महावीरजी, वीर नि. सं. 2501

नियमसार : आचार्य कुन्दकुन्द
संस्कृत टीका – श्री पद्मप्रभमलधारी देव
श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, सप्तम सं. 1993

पद्मनंदी पंचविंशतिका : आचार्य पद्मनंदी
सम्पादक – ब्र. यशपाल जैन व पं. राकेश जैन शास्त्री
श्री कुन्दकुन्द दि. स्वाध्याय मंडल ट्रस्ट, नागपुर, सं. 1996

पद्म पुराण भाग–3 : आचार्य रविषेण
भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पाँचवाँ सं. 1997

पाण्डव पुराण : शुभचन्द्राचार्य
अनुवादक एवं सम्पादक – पण्डित जिनदास शास्त्री
प्रकाशक – भरतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद,
(भरतसागरजी महाराज की स्वर्ण जयन्ती वर्ष)

पुरुषार्थसिद्धियुपाय : आचार्य अमृतचन्द्र
प्रकाशक – कल्याणमल राजमल पाटनी सिद्ध चेतना ट्रस्ट
कोलकाता व पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, पंचम सं. 1995

पंचास्तिकाय संग्रह : आचार्य कुन्दकुन्द
संस्कृत टीका – आचार्य अमृतचंद्र
पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, छठा सं. 1998
पंचास्तिकाय (तात्पर्यवृत्ति) : आचार्य कुन्दकुन्द
संस्कृत टीका – आचार्य जयसेन
सम्पादक – ब्र. कल्पना जैन, सागर
तीर्थधाम मंगलायतन, अलीगढ़, प्रथम सं. 2010
प्रवचनसार : आचार्य कुन्दकुन्द
संस्कृत टीका (तत्त्वप्रदीपिका) – आचार्य अमृतचंद्र
सम्पादक – डॉ. हुकमचंद भारिल्ल
श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, 1985
प्रशमरति प्रकरण : वाचक श्री उमास्वामी
(गुजराती प्रति) प्रकाशक – श्री महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रांति मार्ग, मुम्बई
प्रथम आवृत्ति, वि.सं. 2042
बृहद द्रव्यसंग्रह : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव
संस्कृत वृत्ति – श्री ब्रहादेव सूरि
श्री दि. जैन शिक्षण संयोजन समिति, इन्दौर, द्वितीय सं. 1995
भक्तामर स्तोत्र : आचार्य मानतुंग
प्रकाशक / मुद्रक – वीर प्रेस, मनिहारों का रास्ता, जयपुर
भगवती आराधना : आचार्य शिवार्य
सम्पादक – पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री
जैन संस्कृति संरक्षण संघ, सोलापुर, प्रथम सं. 1978
भगवतीसूत्र : मूल आगम – पंचम अंग (व्याख्या प्रज्ञप्ति)
प्रधान सम्पादक – श्री अमरमुनि
पद्म प्रकाशन, पद्म धाम, नरेला मण्डी, दिल्ली
प्रथम खण्ड, प्रथमावृति, सन् 2005
द्वितीय खण्ड, प्रथमावृत्ति, सन् 2006
महापुराण : महाकवि पुष्पदंत
सम्पादक – डॉ. पी. एल. वैद्य
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली
भाग–1, द्वितीय सं. 2001
भाग–2, द्वितीय सं. 2001
भाग–3, द्वितीय सं. 2001

भाग-4, द्वितीय सं. 2001
भाग-5, प्रथम सं. 1999

मूलाचार : आचार्य वट्टकेरस्वामी
सम्पादकत्रय - पण्डित कैलाश चन्द शास्त्री, पं. जगन्मोहनलाल
शास्त्री एवं पं. डॉ. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
पूर्वार्द्ध - द्वितीय संस्करण, सन् 1992
उत्तरार्द्ध - चतुर्थ संस्करण, सन् 1999

मेरुमंदर पुराण : श्री वामनाचार्य
हिन्दी टीकाकार - आचार्य श्री देशभूषण
प्रकाशक - ताराचन्द जैन, जयपुर, वि. सं. 2029

रत्नकरण्ड श्रावकाचार : आचार्य समन्तभद्र
सम्पादक - मोहनलाल जैन शास्त्री, काव्यतीर्थ
प्रकाशक - सरल जैनग्रन्थ भण्डार, जबलपुर, वीर नि. सं. 2519

लोक विभाग : श्री सिंहसूरि
सम्पादक - प्रो. ए.एन. उपाध्ये, डॉ. हीरालाल जैन
प्रकाशक - जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1962

वारसाणुवेक्खा : आचार्य कुन्दकुन्द
सम्पादक - डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री
प्रकाशक - पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 1991

षट् खण्डागम : आचार्य पुष्पदंत-भूतबलि
(धवला टीका समन्वित) टीकाकार - आचार्य वीरसेनस्वामी
प्रकाशक - जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
सम्पादक - डॉ. हीरालाल जैन
पुस्तक-3, सन् 1980, सन् 2002 (तृतीय आवृत्ति)
पुस्तक-4, सन् 1996 (तृतीय आवृत्ति)
पुस्तक-9, सन् 2000 (तृतीय आवृत्ति)
पुस्तक-11, सन् 2003 (तृतीय आवृत्ति)
पुस्तक-13, सन् 1993 (द्वितीय आवृत्ति)

षट्दर्शनसमुच्चय : हरिभद्रसूरि
सम्पादक - डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य
प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पंचम सं. 2000

श्रीमद् भागवत सुधासागर : प्रकाशक - गीताप्रेस गोरखपुर, 23वाँ सं., संवत् 2053

श्रीमद्भगवद्गीता : प्रकाशक – गीताप्रेस गोरखपुर, 182वाँ संस्करण, सं. 2055
श्री विष्णु महापुराणम् : प्रकाशक – नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985
समयसार : आचार्य कुन्दकुन्द
श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, दसवाँ सं. 1995
समणसुत्तं : सम्पादक – कैलाशचन्द्र शास्त्री, नथमल मुनि
प्रकाशक – सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट,
वाराणसी, द्वितीय सं. 1975
समाधितंत्र : आचार्य पूज्यपाद
संस्कृत टीका – आचार्य प्रभाचन्द्र
प्रकाशक – श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर
श्री आदिनाथ–कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़
सर्वार्थसिद्धि : आचार्य पूज्यपाद
सम्पादक – सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, छठा सं. 1995
हरिवंशपुराण : आचार्य जिनसेन
सम्पादक – पं. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1962

(ब) सहायक ग्रन्थ

अशोकसागरसूरि मुनि : खगोल शास्त्रों में पू. पं. श्री अनयत्तागरजी ने जो कहा
प्रकाशक – श्री जंबूद्वीप वर्धमान जैन पेढी, पालीताणा, वि.सं. 2061
कटारिया मिलापचन्द्र : जैन निबन्ध रत्नावली
प्रकाशक – श्री वीर शासक संघ, कलकत्ता, प्रथम सं. 1968
कटारिया मिलापचन्द्र : जैन निबन्ध रत्नावली (द्वितीय भाग)
प्रकाशक – श्री भारतवर्षीय दि. जैन संघ, मथुरा, प्र. सं. 1990
कनकनंदीजी वैज्ञानिक मुनि : ब्रह्माण्ड के रहस्य
प्रकाशक – वीतरागवाणी ट्रस्ट रजिस्टर्ड, सैलसागर,
टीकमगढ़, प्रथमावृत्ति 2004
कासलीवाल पं. सदासुखदास : श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका
सम्पादक – मन्नूलाल जैन, सागर
प्रकाशक – श्री मध्यक्षेत्रीय मुमुक्षु मंडल संघ, सागर, 1983
कासलीवाल पं. सदासुखदास : श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका
प्रकाशक – श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, अजमेर, तृतीय सं. 1998

कनकनंदी उपाध्याय : विश्व विज्ञान रहस्य
धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन, बड़ौत, प्रथम सं. 1991
गोस्वामी अर्चना, पुरोहित अमित : उड़न तश्तरी का रहस्य
प्रकाशक – पत्रिका प्रकाशन, जयपुर, 2011
ज्ञानमति आर्यिका : त्रिलोक भास्कर
प्रकाशक – दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान, प्रथम सं. 1974
चेतनदास पण्डित : तत्त्वार्थसूत्र वचनिका (तत्त्वार्थसार भाग–1 व 2)
हिन्दी अनुवादिका – ब्र. कल्पना जैन, सागर
प्रकाशक – दीप प्रिन्टर्स, मनोहर लाल जैन, नई दिल्ली, 2010
छाबड़ा पं. जयचंद : सर्वार्थसिद्धि वचनिका
प्रकाशक – आचार्य शांतिसागर दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था, फलटण–सतारा, वीर नि. सं. 2481
छाबड़ा पं. जयचंद : सर्वार्थसिद्धि वचनिका
अनुवादक – धनकुमार जैन
प्रकाशक – श्री अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद ट्रस्ट, जयपुर, 2011
छाबड़ा श्रीमती पूजा प्रकाश : तत्त्वार्थ सूत्र (रेखाचित्र एवं तालिकाओं में)
प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, वि. सं. 2537
जैन अभयकुमार पण्डित : जैन विधि विधान
सम्पादक, प्रकाशक – अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन
ए–4 बापूनगर, जयपुर, प्रथम संस्करण – 26 जनवरी 1996
जैन किशनचंद पण्डित : पंचपरावर्तन अर्थात् संसार परिभ्रमण
प्रकाशक – श्री दि. जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अलवर, 2003
जैन किशनचंद पण्डित : क्या ईश्वर सृष्टि कर्त्ता है?
प्रकाशक – श्री दि. जैन मुमुक्षु मंडल, अलवर, द्वितीय सं. 1987
जैन पन्नालाल : तीन लोक रूपरेखा चित्र रचना
प्रकाशक – जैन साहित्य सदन श्री दिगम्बर जैन लाल मंदिर
चांदनी चौक, दिल्ली, 1974
जैन पन्नालाल साहित्याचार्य : करणानुयोग दीपक
प्रकाशक – श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, कोटा
भाग–2, वि.सं. 2043
भाग–3, दि. सं. 2047
जैन डॉ. महेन्द्रकुमार : जैन दर्शन
प्रकाशक – श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रंथमाला, वाराणसी, 1974

जैन डॉ. हीरालाल : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान
प्रकाशक – कला एवं संस्कृति विभाग, राज. सरकार, जयपुर, 2003

जैन धन कुमार : धर्म क्यों करें, कैसे जानें ?
सम्पादक – पं. संजीव कुमार गोधा, जयपुर
प्रकाशक – आर्जव ग्राफिक्स, जयपुर, द्वितीय सं.

जैन राकेश, निहालचंद : तत्त्वार्थसूत्र निकष (सतना संगोष्ठी–2004, सम्पादित)
प्रकाशक – श्री महावीर दि. जैन पारमार्थिक संस्था, सतना, 2005

जैन पण्डित कैलाशचन्द्र : जिनागमसार (संकलन)
सम्पादक – पवन जैन, अलीगढ़
प्रकाशक – श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, देहरादून, 1996

जैन ब्रह्मचारी विमला : धवलासार
प्रकाशक – दि. जैन मुमुक्षु मंडल ट्रस्ट, उदयपुर, प्रथम सं. 1994

जैन ब्रह्मचारी हरिलाल : चौबीस तीर्थंकर महापुराण
प्रकाशक – अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, खैरागढ़ एवं
कहान स्मृति प्रकाशन, सोनगढ़ 1993

जैन भूपालसिंह : जैन भौगोलिक चित्रावली
प्रकाशक – श्री दि. जैन शोध संस्थान, मुजफ्फरनगर, 1989

जैन भूपालसिंह : जैन आगम में योजन का माप
प्रकाशक – श्री दि. जैन शोध संस्थान, मुजफ्फरनगर, 1989

जैन भूपालसिंह : जैन भूमण्डल आधुनिक विज्ञान
प्रकाशक – श्री दि. जैन शोध संस्थान, मुजफ्फरनगर, 1990

जैन महेन्द्रकुमार : लोकानुप्रेक्षा
प्रकाशक – अनुप्रेक्षा प्रकाशन, भोपाल, प्रथम सं. 2010

जैन डॉ. धर्मेन्द्र : तिलोयपण्णत्ती का सांस्कृतिक मूल्यांकन
प्रकाशक – प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान बासोकुंड, मुजफ्फरनगर (बिहार), प्रथम सं. 2010

जैन ब्र. रवीन्द्र कुमार : जंबूद्वीप एवं हस्तिनापुर परिचय
प्रकाशक – त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, सप्तम सं. 2002

शास्त्री डॉ. नेमिचन्द्र : भारतीय ज्योतिष
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 19 वाँ सं. 1999

टेकचन्द पण्डित : सुदृष्टि तरंगिणी
सम्पादक – पं. कमल कुमार जैन, शास्त्री
प्रकाशक – जैन पुस्तक भवन, कलकत्ता, वीर नि. सं. 2497

टोडरमल पण्डित : त्रिलोकसार भाषा वचनिका
सम्पादक – पं. मनोहरलाल शास्त्री
प्रकाशक – जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, हीराबाग, मुंबई, 1911
टोडरमल पण्डित : मोक्षमार्ग प्रकाशक
सम्पादक – डॉ. हुकमचंद भारिल्ल
प्रकाशक – कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट
तुलसी आचार्य : श्री जैन सिद्धान्त दीपिका (मूलसूत्रार्थ)
प्रकाशक – जैन श्वेताम्बर तेरांपथी महासभा, कलकत्ता, सं. 202
त्रिपाठी पं. रुद्रदेव : परदा गिर चुका है चांद यात्रा का
प्रकाशक – श्री जंबूद्वीप विज्ञान रिसर्च केंद्र, पालीताणा, वि.सं. 2061
त्रिपाठी पं. रुद्रदेव : पृथ्वी और चांद सितारे जैन दर्शन की आँखों से
प्रकाशक – श्री जंबूद्वीप विज्ञान रिसर्च केंद्र, पालीताणा, वि.सं. 2061
दिनकर रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय
प्रकाशक – लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002
दोशी श्री रामजीभाई माणेकचंद : मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र)
प्रकाशक – श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ़, प्रथमावृत्ति वीर नि. सं. 2480
दौलतराम कवि : छहढाला
प्रकाशक – पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 2007
दौलतराम कवि : दौलत भजन सौरभ
प्रकाशक – जैन विद्या संस्थान, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी, 2001
द्यानतराय कवि : चर्चा शतक
प्रकाशक – श्रीमती गीतादेवी वीरचन्द जैन, इन्दौर, द्वि. सं. 1997
धर्मभूषण आचार्य : जैन दर्शन गणित
प्रकाशक – अ. भा. जैन युवा फैडरेशन, मेरठ, चतुर्थ सं. 2003
प्रकाश डॉ. : भारतीय सृष्टिविद्या
सम्पादक – लक्ष्मीचंद्र जैन जगदीश
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, वीर नि. सं. 2500
बरैया पं. गोपालदासजी : श्री जैन सिद्धान्त प्रवेशिका
प्रकाशक – तीर्थधाम मंगलायतन, श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द
कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़, 2004
भारिल्ल डॉ. हुकमचंद : बारह भावना : एक अनुशीलन
प्रकाशक – पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 1993

भारिल्ल डॉ. हुकमचंद : वीतराग विज्ञान पाठमाला भाग-2
प्रकाशक - पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 1989

भारिल्ल डॉ. हुकमचंद : शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर
प्रकाशक - पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, सप्तम सं. 2012

भारिल्ल डॉ. हुकमचंद : बृहद् जिनवाणी संग्रह (सम्पादित)
प्रकाशक - अ.भा. जैन युवा फैडरेशन, जयपुर, 12वाँ सं. 2010

भिसीकर पं. नरेन्द्र शास्त्री : जैन भूगोल
प्रकाशक - जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, प्रथमावृत्ति 1990

महेन्द्रकुमार मुनि द्वितीय : विश्व प्रहेलिका
सम्पादक - मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'
प्रकाशक - जेठालाल एस. जवेरी, बम्बई, 1969

रायमल्ल ब्र. : चर्चा संग्रह
सम्पादक - डॉ. उत्तमचंद जैन, सिवनी
प्रकाशक - भबूतमल भंडारी परिवार, बैंगलोर, 2000

वर्णी मनोहरलालजी : मोक्षशास्त्र प्रवचन भाग-13 से 18
प्रकाशक - सहजानन्द शास्त्रमाला, रणजीतपुरी, मेरठ, 1987

विजयोदय सूरि : जम्बूद्वीप (लघु) संग्रहणी
प्रकाशक - श्री जैन ग्रंथ प्रकाशन समिति, खंभात, 1988

शास्त्री पं. कैलाशचन्द्र : जैन धर्म
प्रकाशक - भारतवर्षीय दि. जैन संघ, चौरासी मथुरा, 2003

शास्त्री पं. फूलचन्द : मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र)
प्रकाशक - श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन शोध संस्थान नरिया, वाराणसी, द्वितीय सं. 1991

शास्त्री मोहनलाल काव्यतीर्थ : मोक्षशास्त्र
प्रकाशक - जवाहरगंज, जबलपुर, पंचम सं. वीर नि. सं. 2505

शीतलमति आर्यिका : त्रिलोकसार भाषा टीका
प्रकाशक - श्री दिगम्बर जैन विजया ग्रंथ प्रकाशन समिति, झोटवाड़ा, जयपुर, प्रथमावृत्ति

सर्राफ मोतीचंद जैन शास्त्री : जैन ज्योर्तिलोक
प्रकाशक - जैन त्रिलोक शोध संस्थान, वीर विज्ञान विहार, नजफगढ़, दिल्ली, द्वितीयावृत्ति वीर नि. सं. 2029

स्याद्वादमति आर्यिका : मोक्षशास्त्र
प्रकाशक - भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद् 2004

श्रुतसागर उपाध्याय : तत्त्वार्थसूत्र (व्याख्या)
प्रकाशक – श्री श्रुत विद्या प्रकाशन, द्वितीय संस्करण

Jain Prof. L.C : Astronomy & Cosmology
Rajasthan Prakrit Bharti Sansthan, Jaipur
Sitaram Bhartia Institute of Scientific Research, New Delhi, First Edition, 1983

Jain Prof. L.C : Basic Mathematics
Rajasthan Prakrit Bharti Sansthan, Jaipur.
Sitaram Bhartia Institute of Scientific Research, New Delhi, First Edition, 1982

Jain Prof. G.R : Cosmology old & new
The trusties of the J.L. Jainies estate, Indore, 1942

Jnanmati Mataji : Jain Geography
Published by Digamber Jain Institute of
Comographic Research, Hastinapur

Kumar Ravi : The Jain Cosmosogy
English rendering R. Norman
Ravi kumar Publishers-Basel-PARIS
Distributed in India by Jaico Publishing House Bombay, Delhi, Benglore
Printed in 1981 by Graphica Gutenberg ITALY Micro Cosmolozy

Mahendra Muni : Microcosmology : Atom in the Jain Philosophy and Modern Science
Jain Vishva Bharti Institute, Ladnun
First Edition, 1995

(स) कोश ग्रन्थ

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
सम्पादक – प्रो. ए. एन. उपाध्ये, डॉ. हीरालाल जैन
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
भाग–1, आठवाँ संस्करण–2003
भाग–2, छठा संस्करण–2002
भाग–3, छठा संस्करण–2002
भाग–4, छठा संस्करण–2000
भाग–5, चतुर्थ संस्करण–2003

जैन लक्षणावली : सम्पादक – बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री
प्रकाशक – वीर सेवा मंदिर, दिल्ली
भाग–1, 1972
भाग–2, 1973
भाग–3, 1979

संस्कृत–हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे
प्रकाशक – मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि., दिल्ली, 1993

हिन्दी शब्दकोश : डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल व डॉ. बलजीत सिंह
डायमण्ड पब्लिकेशन्स, 2715, दरियागंज, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण, 1992

(द) पत्र–पत्रिकायें

जिनवाणी (मासिक) : प्रकाशक – विरदराज सुराणा, मंत्री – सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
दुकान नं. 182–183 के ऊपर, बापू बाजार, जयपुर–302003

धर्म मंगल (मासिक) : सलिल अपार्टमेंट, सानेवाड़ी, आँच, पुणे

जिनभाषित (मासिक) : सर्वोदय जैन विद्यापीठ
1 / 205, प्रोफेसर्स कॉलोनी, आगरा (उ.प्र.)

तुलसी प्रज्ञा (त्रैमासिक) : जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूँ

अनेकान्त (त्रैमासिक) : वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली

शोधादर्श (मासिक) : तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ.प्र. लखनऊ

तीर्थंकर वाणी (मासिक) : समन्वय ध्यान साधना केन्द्र, अमराईवाडी, अहमदाबाद

मोक्षगामी (मासिक) : डी–109, दिलशाद गार्डन, दिल्ली–95

मृत्यु सूचना देकर नहीं आती
अतः तू मरण का समय आने से पहले ही चेत जा।

मोह की महिमा तो देखो....
इस जीव को इस टेम्प्रेरी लाइफ में भी
सब कुछ परमानेंट चाहिए।

– डॉ. संजीवकुमार गोधा

परिशिष्ट – 2

तीन लोक की रचना

संकेत– को.=कोस
यो.=योजन

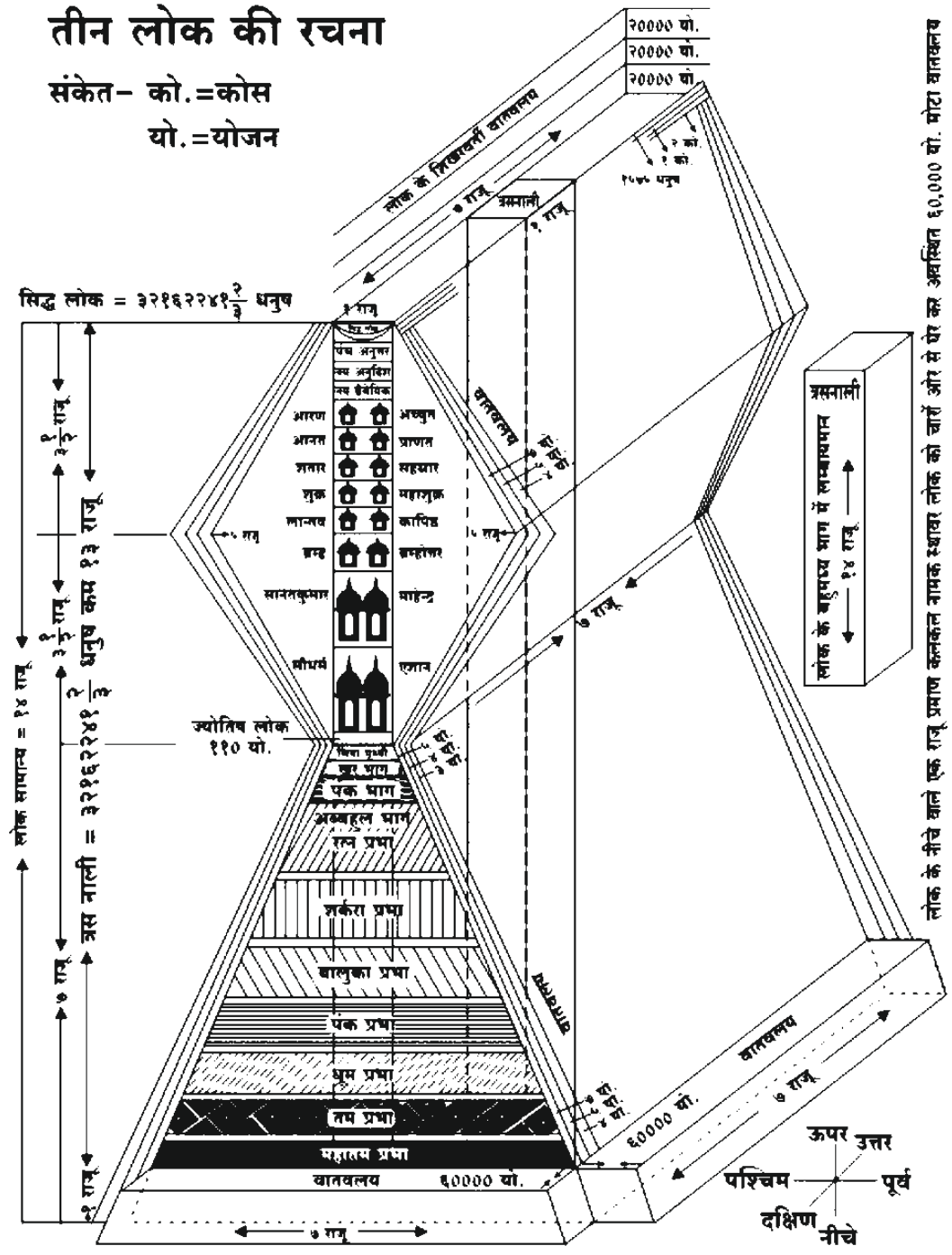

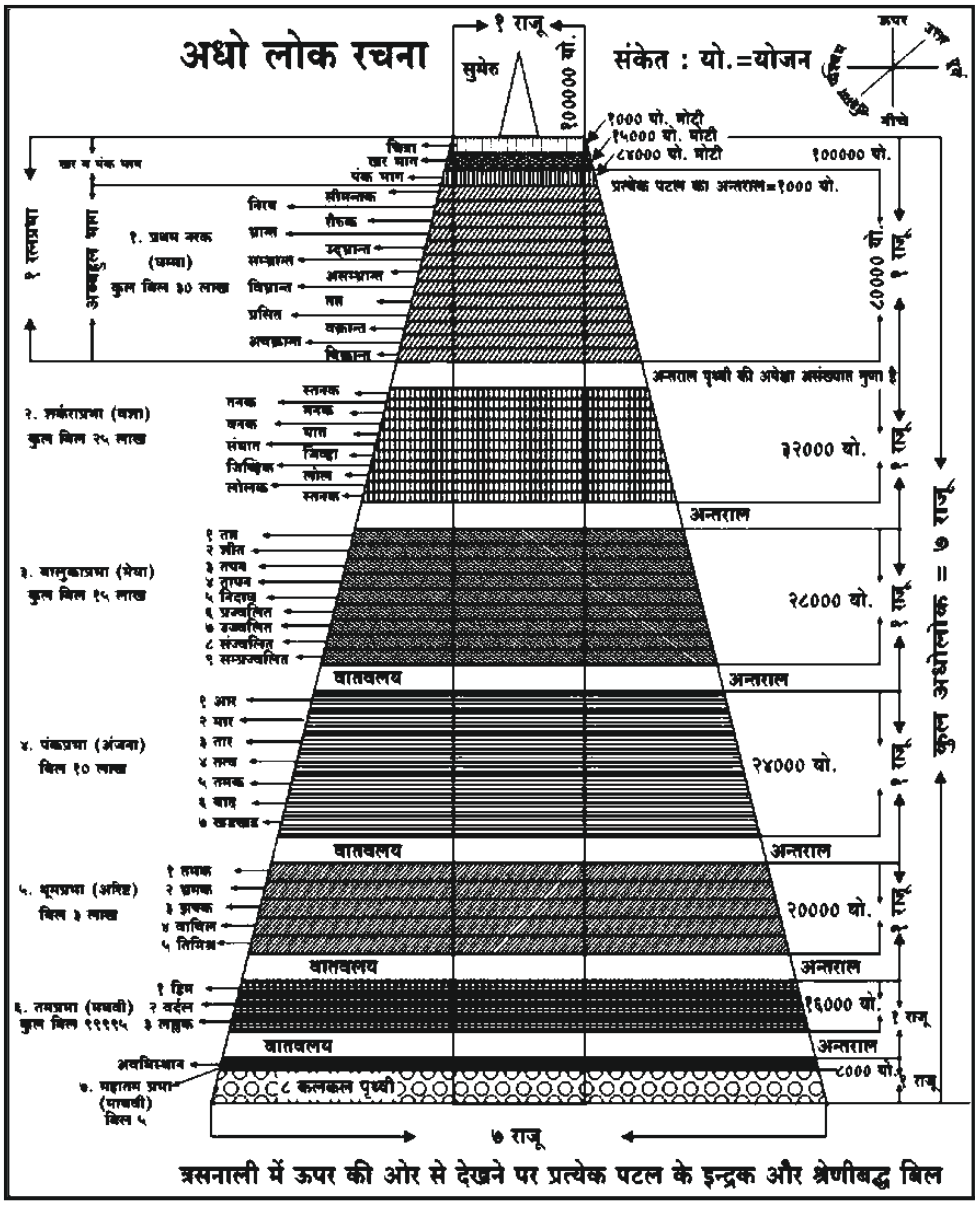
अधो लोक रचना
संकेत : यो.=योजन
१ राजू
सुमेरु
१००००० कि.मी.
ऊपर
नीचे
पू.
प.
उ.
द.
१००० यो. मोटी
१५००० यो. मोटी
८४००० यो. मोटी
१००००० यो.
खर भाग
पंक भाग
अब्बहुल भाग
१ रत्नप्रभा
प्रत्येक पटल का अन्तराल=१००० यो.
१. प्रथम नरक (घम्मा) कुल बिल ३० लाख
सीमन्तक
निरय
रौरुक
भ्रान्त
उद्भ्रान्त
सम्भ्रान्त
असम्भ्रान्त
विभ्रान्त
त्रस्त
त्रसित
वक्रान्त
अवक्रान्ता
विक्रान्ता
८०००० यो.
१ राजू
अन्तराल पृथ्वी की अपेक्षा असंख्यात गुणा है
२. शर्कराप्रभा (वंशा) कुल बिल २५ लाख
स्तनक
मनक
वनक
घात
संघात
जिह्वा
जिह्विक
लोलक
लोलवत्स
३२००० यो.
१ राजू
अन्तराल
३. वालुकाप्रभा (मेघा) कुल बिल १५ लाख
१ तप्त
२ त्रीत
३ तपन
४ तापन
५ निदाघ
६ प्रज्वलित
७ उज्ज्वलित
८ संज्वलित
९ सम्प्रज्वलित
२८००० यो.
१ राजू
वातवलय
अन्तराल
४. पंकप्रभा (अंजना) बिल १० लाख
१ आर
२ मार
३ तार
४ तत्त्व
५ तमक
६ वाद
७ खडखड
२४००० यो.
१ राजू
वातवलय
अन्तराल
५. धूमप्रभा (अरिष्ट) बिल ३ लाख
१ तमक
२ भ्रमक
३ झषक
४ वाचिल
५ तिमिश्र
२०००० यो.
१ राजू
वातवलय
अन्तराल
६. तमप्रभा (मघवी) कुल बिल ९९९९५ ३ लाख
१ हिम
२ वर्दल
३ लल्लक
१६००० यो.
१ राजू
वातवलय
अन्तराल
अवधिस्थान
७. महातम प्रभा (माघवी) बिल ५
८ कलकल पृथ्वी
८००० यो.
१ राजू
७ राजू
कुल अधोलोक = ७ राजू
त्रसनाली में ऊपर की ओर से देखने पर प्रत्येक पटल के इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिल
ईशान
उत्तर
वायव्य
पश्चिम
पू.
आग्नेय
नैऋत्य
दक्षिण
प्रथम नरक का प्रथम पटल
सीमन्तक
पटल
इन्द्रक
श्रेणीबद्ध
प्रकीर्णक
अन्तिम नरक का अन्तिम पटल
अवधि स्थान पटल
महा रौरव
महा काल
काल
अवधि-इन्द्रक स्थान
रौरव
यहाँ प्रत्येक दिशा में केवल एक-एक श्रेणीबद्ध है। विदिशाओं में नहीं है। न ही प्रकीर्णक है।

नन्दीश्वर द्वीप

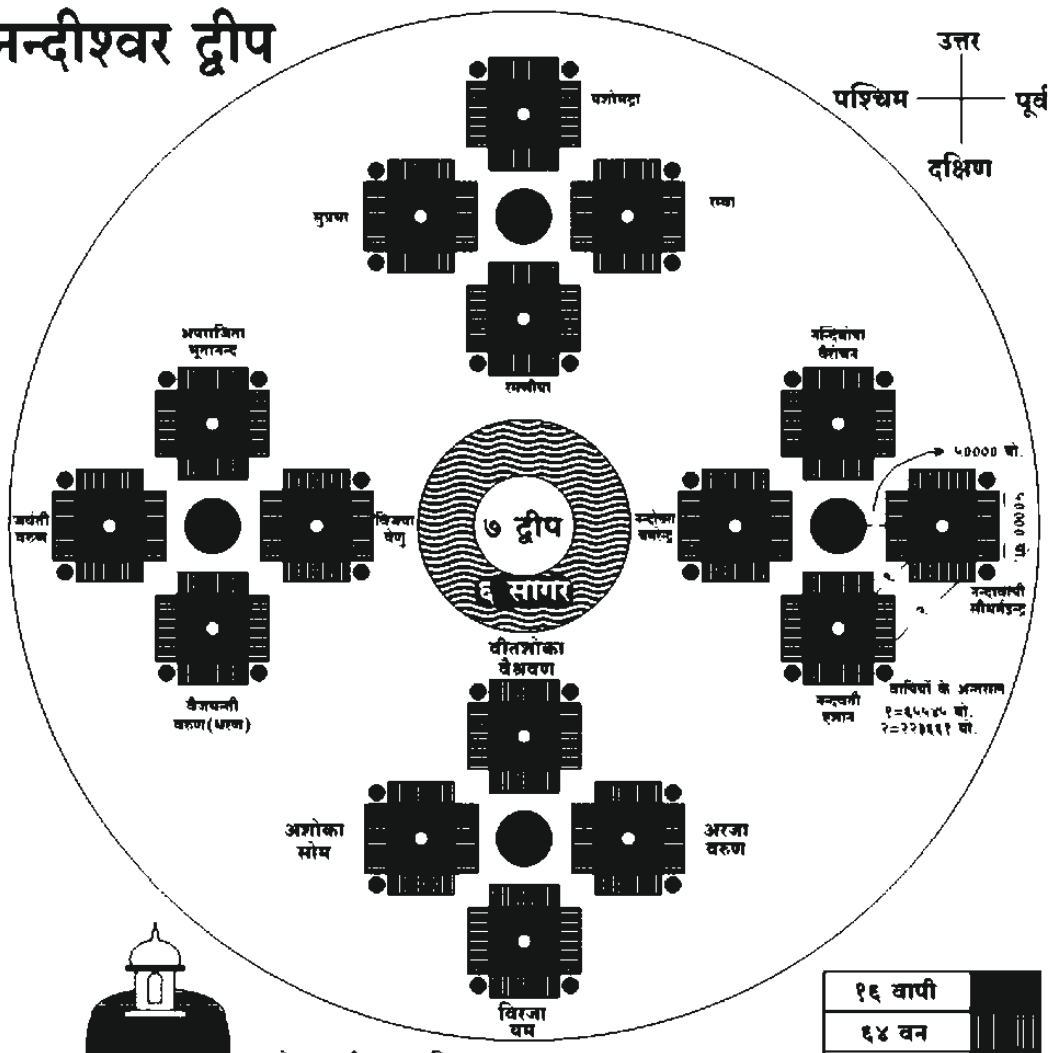

नोट – इसी प्रकार दधिमुख व रतिकर भी जानने। विशेषता यह कि उनके रंग क्रमशः श्वेत व लाल हैं; तथा उनका विस्तार क्रमशः १०००० यो. व १००० यो. है।

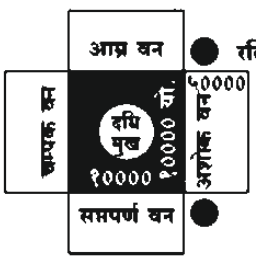

१६ वापी
६४ वन
१६ दधिमुख
३२ रतिकर
४ अंजन गिरि
६ समुद्र
७ द्वीप
वन में देवों के आवास

मध्य लोक की रचना

उत्तर
पश्चिम — पूर्व
दक्षिण

ऊपर से देखने पर मध्य लोक में त्रसनाली ऐसी दिखाई देती है।

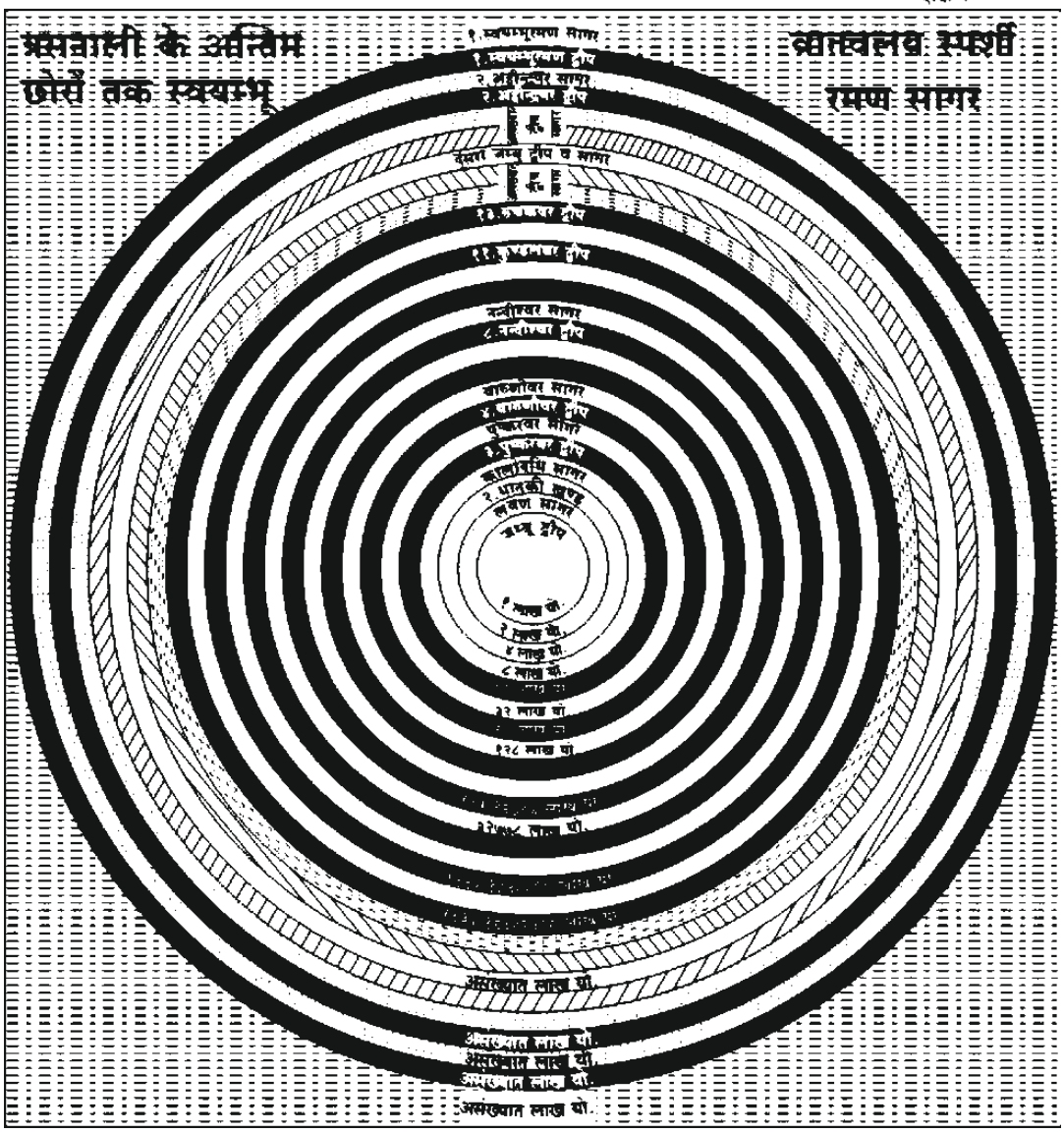

कुण्डल द्वीप-पर्वत

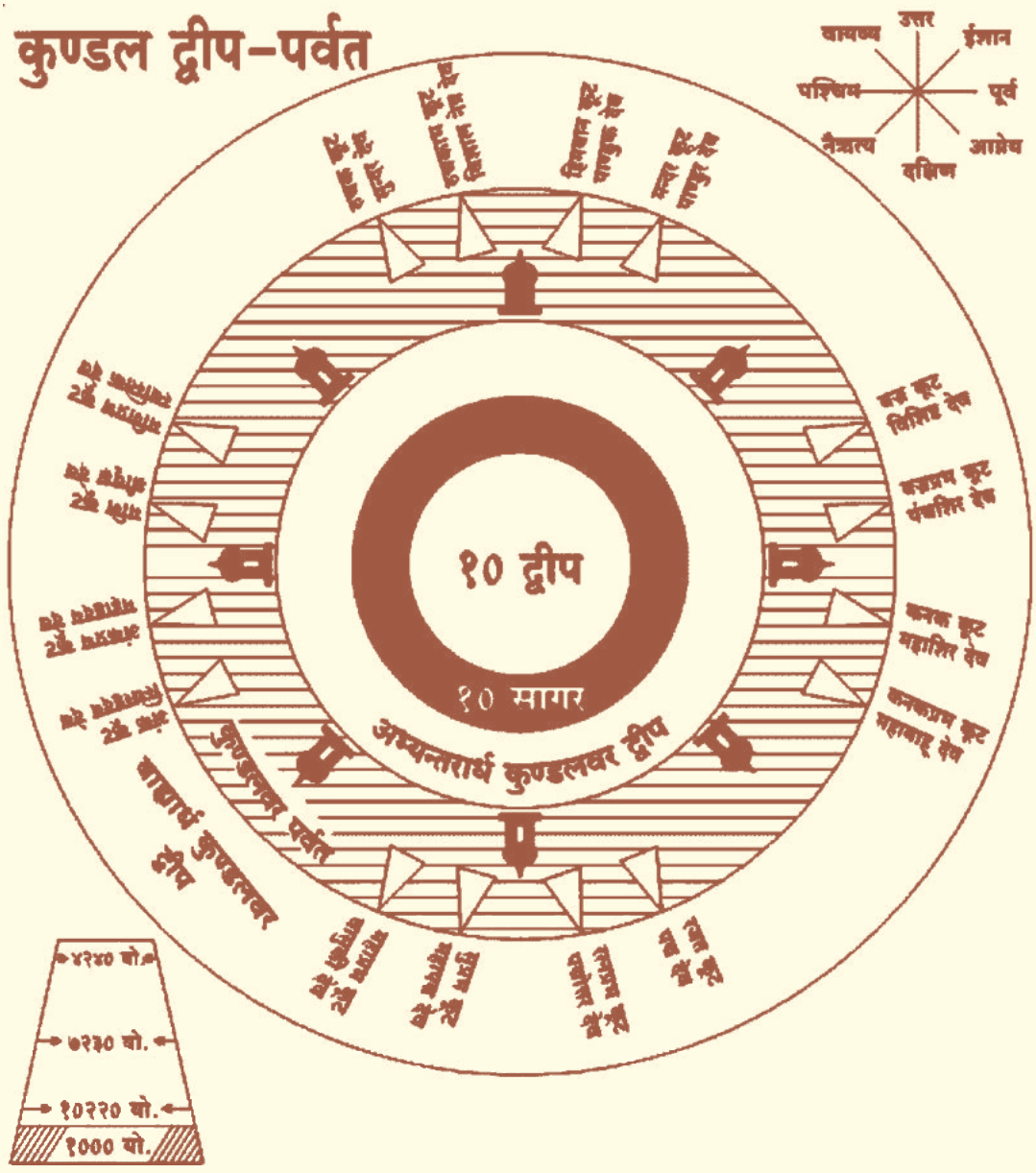

रुचकवर द्वीप–पर्वत

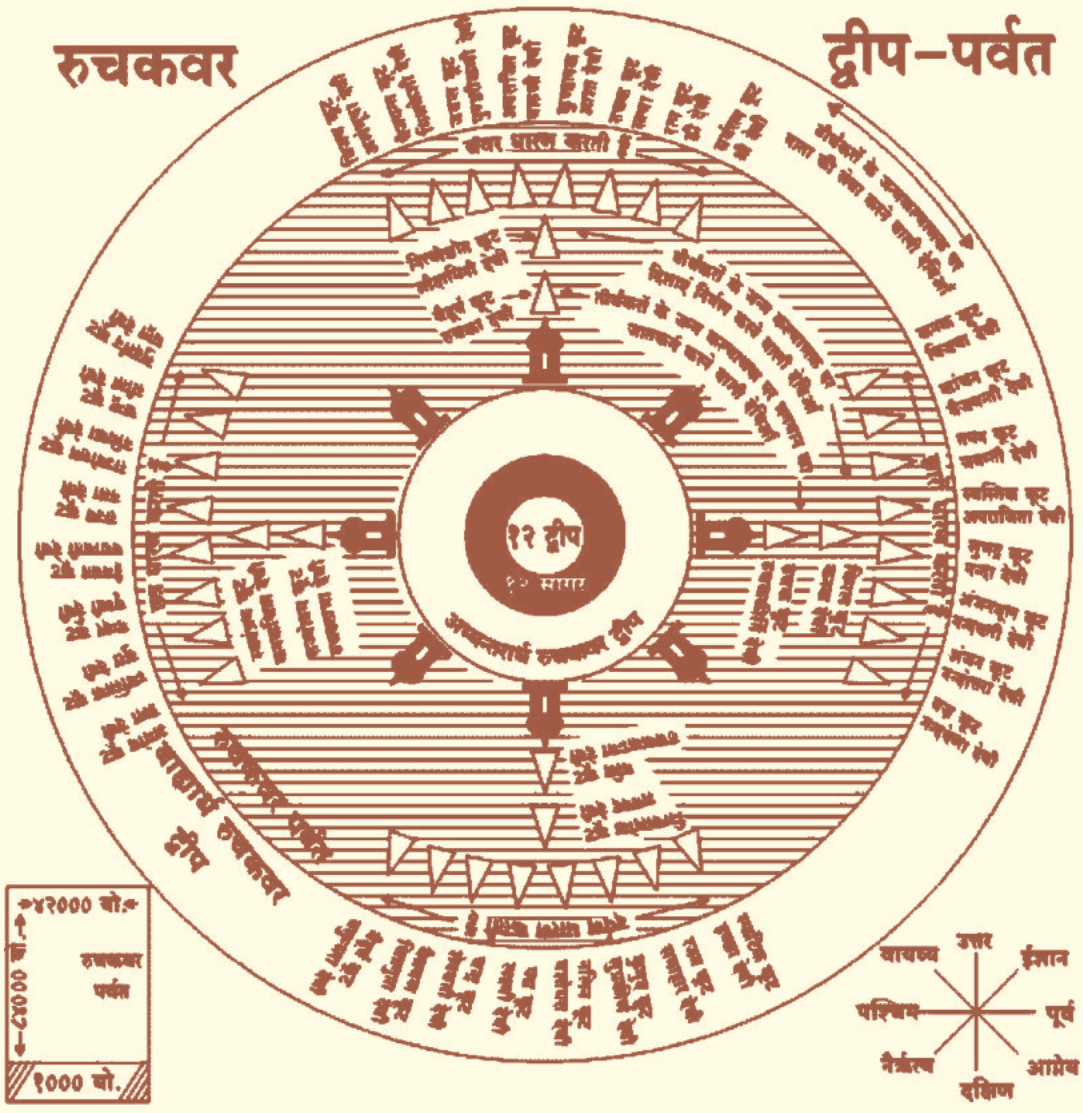

Gouache on paper, XVIth Century, Gujrat

पुरुषाकार तीन लोक

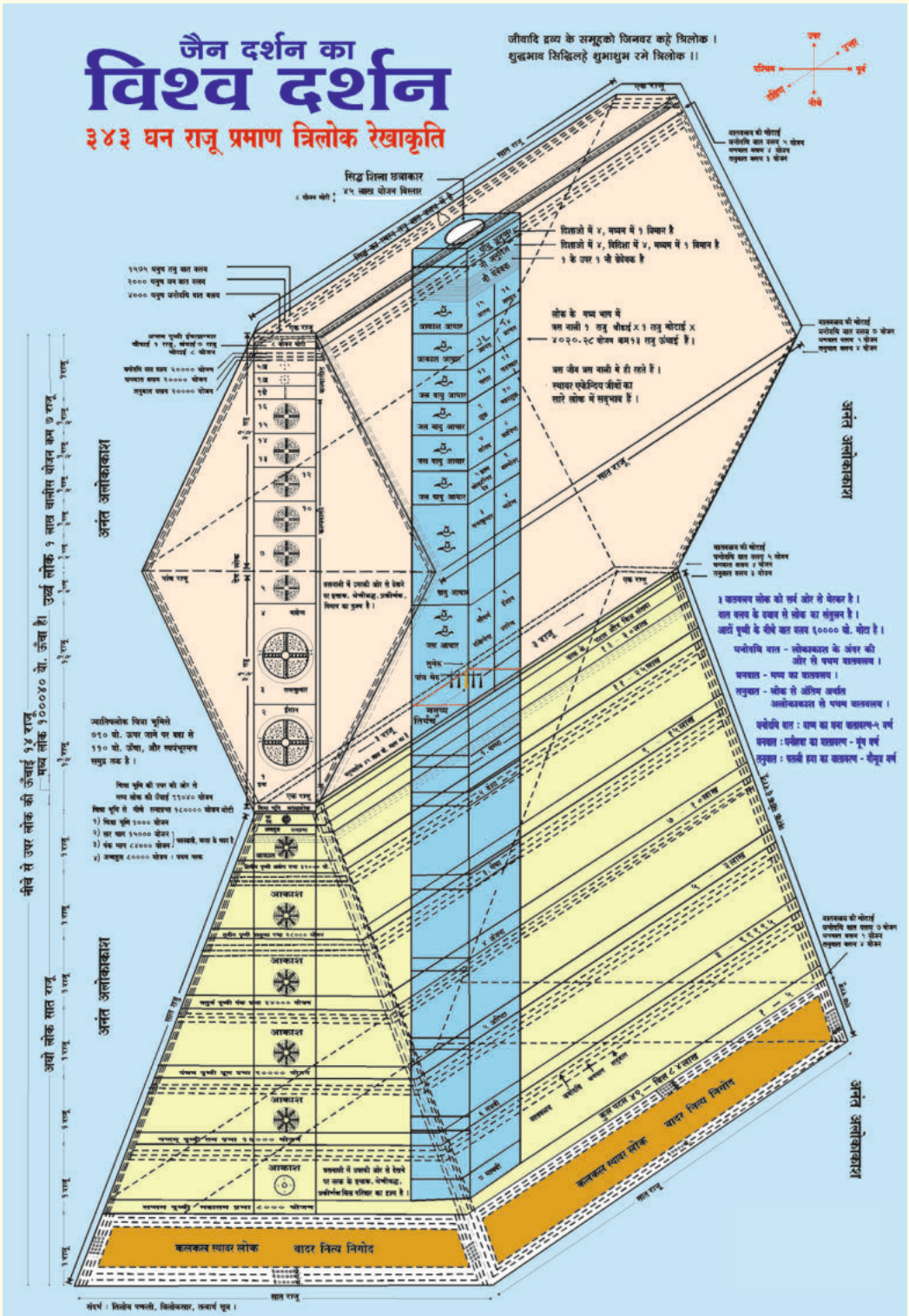
जैन दर्शन का
विश्व दर्शन
३४३ घन राजू प्रमाण त्रिलोक रेखाकृति
जीवादि द्रव्य के समूहको जिनवर कहे त्रिलोक ।
शुद्धभाव सिद्धिलहे शुभाशुभ रमे त्रिलोक ।।
सिद्ध शिला छत्राकार
४५ लाख योजन विस्तार
अनंत अलोकाकाश
अधो लोक सात राजू
कालकल्प स्थावर लोक
बादर नित्य निगोद
सात राजू
एक राजू

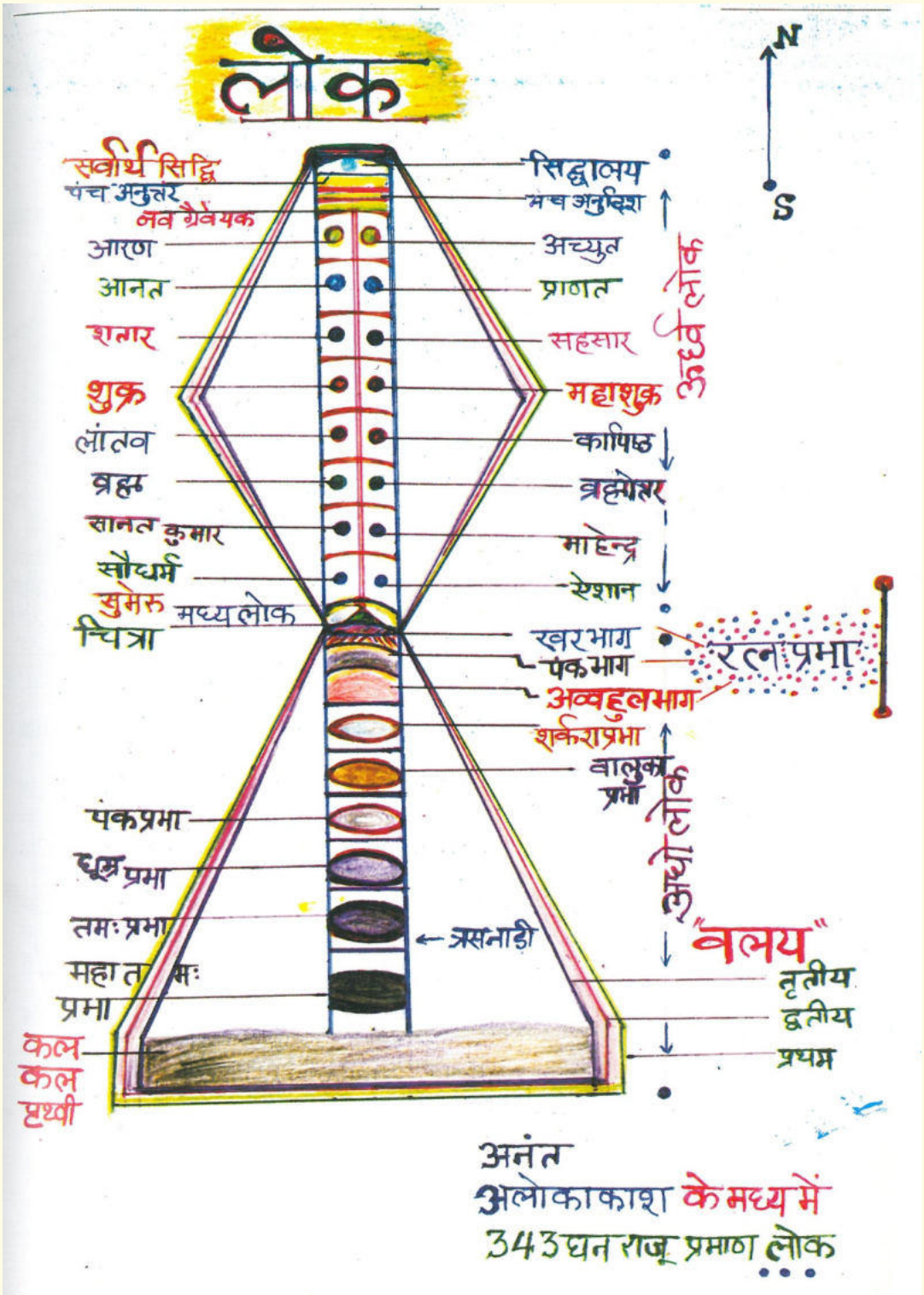
लोक
N
S
सर्वार्थ सिद्धि
पंच अनुत्तर
नव ग्रैवेयक
आरण
आनत
शतार
शुक्र
लांतव
ब्रह्म
सानत कुमार
सौधर्म
सुमेरु
चित्रा
मध्यलोक
सिद्धालय
अनुदिश
अच्युत
प्राणत
सहसार
महाशुक्र
कापिष्ठ
ब्रह्मोत्तर
माहेन्द्र
ईशान
ऊर्ध्वलोक
खरभाग
पंकभाग
अब्बहुलभाग
रत्नप्रभा
शर्कराप्रभा
वालुका प्रभा
अधोलोक
पंकप्रभा
धूम्र प्रभा
तमः प्रभा
महा तमः प्रभा
त्रसनाड़ी
"वलय"
तृतीय
द्वितीय
प्रथम
कल कल पृथ्वी
अनंत
अलोकाकाश के मध्य में
343 घन राजू प्रमाण लोक

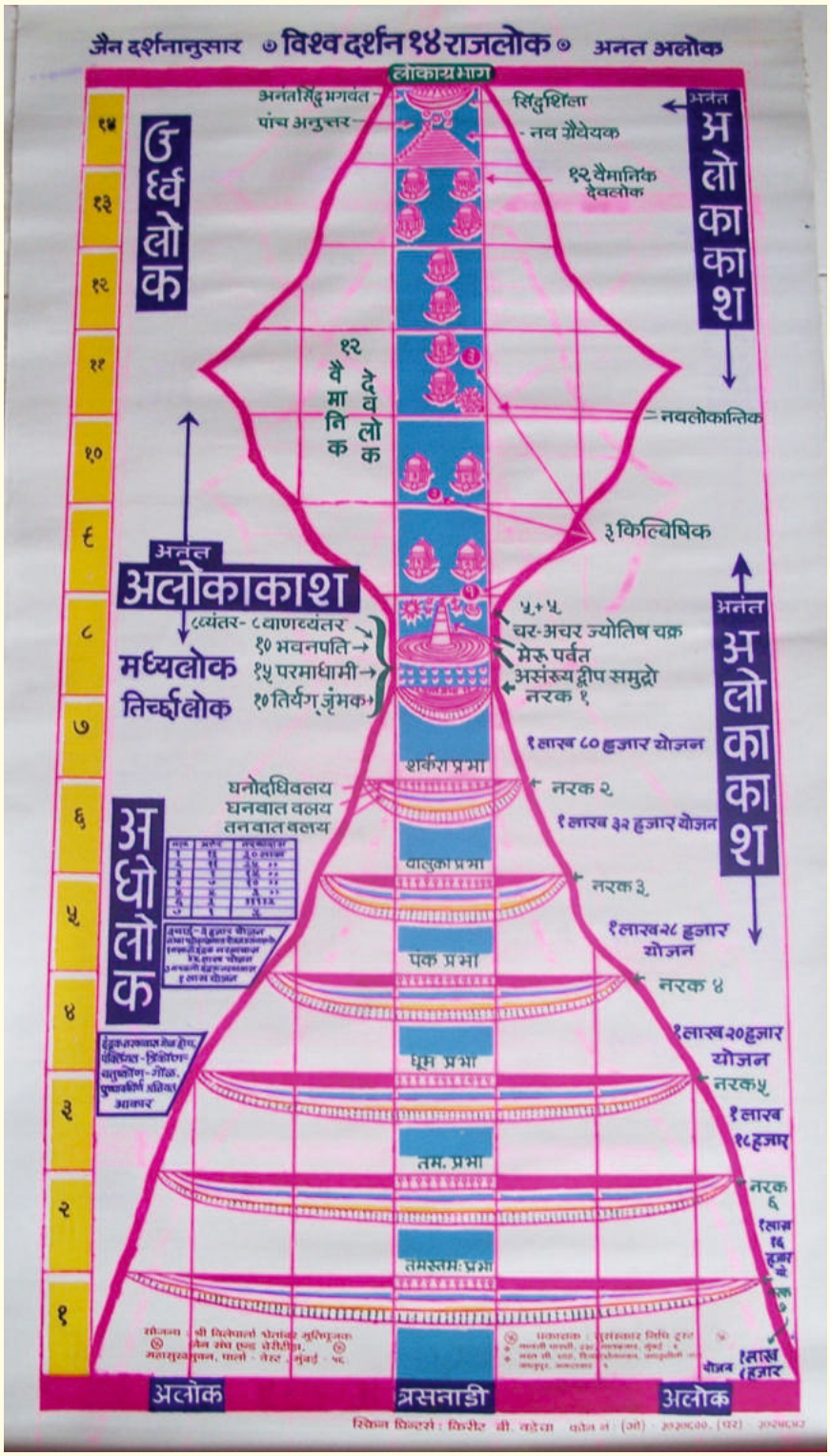
जैन दर्शनानुसार ◎ विश्व दर्शन १४ राजलोक ◎ अनत अलोक
लोकाग्र भाग
अनंतसिद्ध भगवंत
पांच अनुत्तर
सिद्धशिला
नव ग्रैवेयक
१२ वैमानिक देवलोक
अनंत अलोकाकाश
ऊर्ध्व लोक
१२ वैमानिक देवलोक
= नवलोकान्तिक
३ किल्बिषिक
अनंत अलोकाकाश
व्यंतर- ८ वाणव्यंतर
१० भवनपति
१५ परमाधामी
१० तिर्यग् जृंभक
मध्यलोक
तिर्च्छालोक
५+५
चर-अचर ज्योतिष चक्र
मेरू पर्वत
असंख्य द्वीप समुद्रो
नरक १
१ लाख ८० हजार योजन
शर्करा प्रभा
घनोदधिवलय
घनवात वलय
तनवात वलय
नरक २
१ लाख ३२ हजार योजन
अधो लोक
वालुका प्रभा
नरक ३
१ लाख २८ हजार योजन
पंक प्रभा
नरक ४
१ लाख २० हजार योजन
धूम प्रभा
नरक ५
१ लाख १८ हजार
तम: प्रभा
नरक ६
तमस्तम: प्रभा
अलोक
त्रसनाडी
अलोक
१४
१३
१२
११
१०
९
८
७
६
५
४
३
२
१

सौजन्य : श्री विलेपार्ला श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ एन्ड चेरीटीझ, महासुखभुवन, पार्ला - वेस्ट, मुंबई-५६.

प्रकाशक : सुसंस्कारनिधि ट्रस्ट
नानजी धारशी, २३८ भातबजार, मुंबई - ९.
भरत रसी. शाह, दिव्यदर्शनभवन, काळुशीनी पोळ, कालुपुर, अमदावाद - १.

प्रिन्टर्स : किरीट बी. वोरा, बम्बई. (ओ) ३७३७८०, (घर) ३७२४८४२

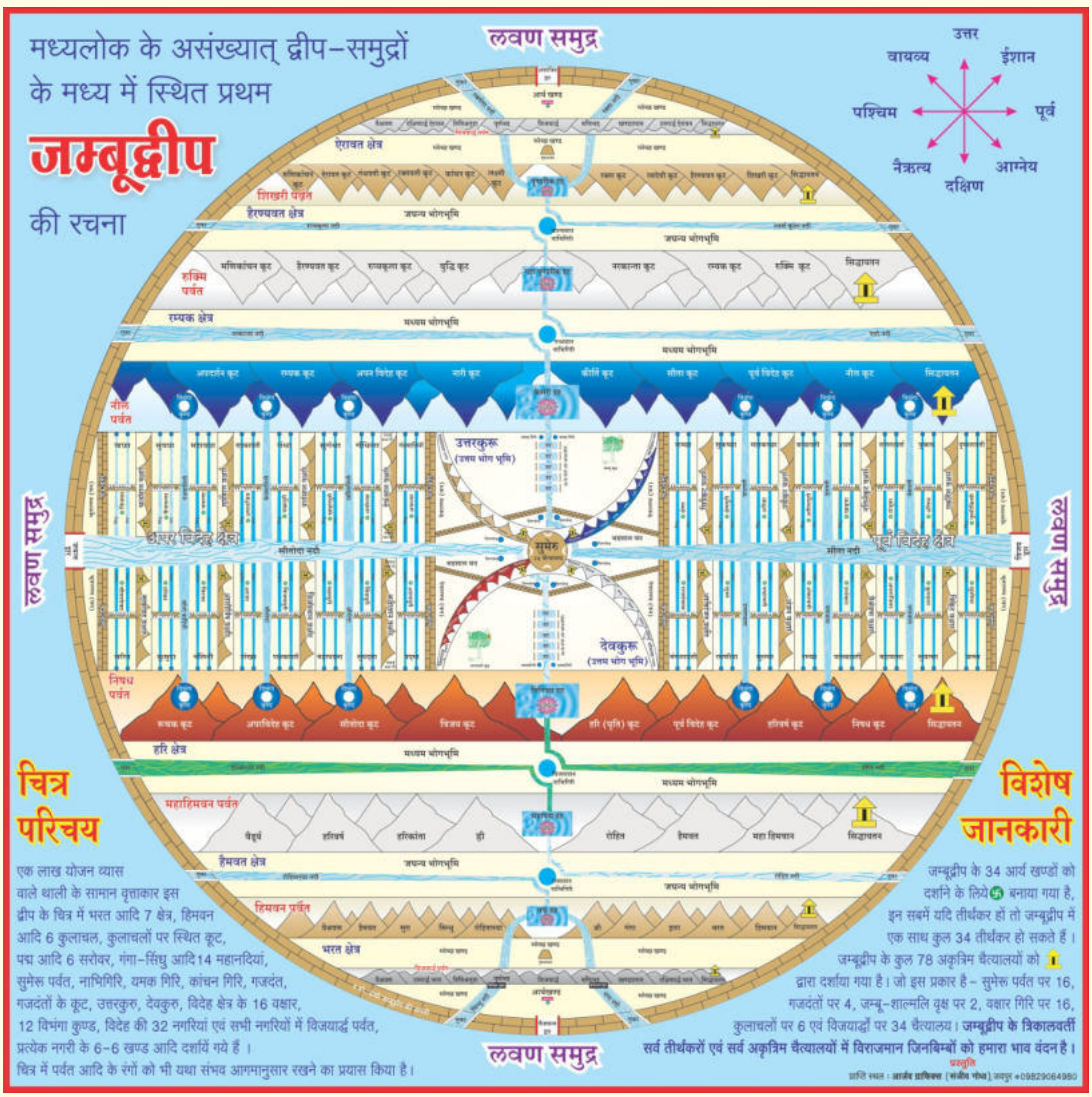
मध्यलोक के असंख्यात् द्वीप-समुद्रों के मध्य में स्थित प्रथम
जम्बूद्वीप
की रचना
लवण समुद्र
उत्तर
वायव्य
ईशान
पश्चिम
पूर्व
नैऋत्य
आग्नेय
दक्षिण
ऐरावत क्षेत्र
शिखरी पर्वत
हैरण्यवत क्षेत्र
रुक्मि पर्वत
रम्यक क्षेत्र
नील पर्वत
उत्तरकुरु
(उत्तम भोग भूमि)
सुमेरु
देवकुरु
(उत्तम भोग भूमि)
निषध पर्वत
हरि क्षेत्र
महाहिमवन पर्वत
हैमवत क्षेत्र
हिमवन पर्वत
भरत क्षेत्र
लवण समुद्र
लवण समुद्र
चित्र परिचय
एक लाख योजन व्यास वाले थाली के सामान वृत्ताकार इस द्वीप के चित्र में भरत आदि 7 क्षेत्र, हिमवन आदि 6 कुलाचल, कुलाचलों पर स्थित कूट, पद्म आदि 6 सरोवर, गंगा-सिंधु आदि14 महानदियां, सुमेरू पर्वत, नाभिगिरि, यमक गिरि, कांचन गिरि, गजदंत, गजदंतों के कूट, उत्तरकुरु, देवकुरु, विदेह क्षेत्र के 16 वक्षार, 12 विभंगा कुण्ड, विदेह की 32 नगरियां एवं सभी नगरियों में विजयार्द्ध पर्वत, प्रत्येक नगरी के 6-6 खण्ड आदि दर्शाये गये हैं ।
चित्र में पर्वत आदि के रंगों को भी यथा संभव आगमानुसार रखने का प्रयास किया है।
विशेष जानकारी
जम्बूद्वीप के 34 आर्य खण्डों को दर्शाने के लिये 34 बनाया गया है, इन सबमें यदि तीर्थंकर हों तो जम्बूद्वीप में एक साथ कुल 34 तीर्थंकर हो सकते हैं ।
जम्बूद्वीप के कुल 78 अकृत्रिम चैत्यालयों को द्वारा दर्शाया गया है। जो इस प्रकार है- सुमेरु पर्वत पर 16, गजदंतों पर 4, जम्बू-शाल्मलि वृक्ष पर 2, वक्षार गिरि पर 16, कुलाचलों पर 6 एवं विजयार्द्धों पर 34 चैत्यालय। जम्बूद्वीप के त्रिकालवर्ती सर्व तीर्थंकरों एवं सर्व अकृत्रिम चैत्यालयों में विराजमान जिनबिम्बों को हमारा भाव वंदन है।
प्रस्तुति
प्राप्ति स्थान : आर्यन ग्राफिक्स (संजीव गोधा) जयपुर +09829064993

जंबूद्वीप-लवण समुद्र
लवण समुद्र
विस्तार-२लाख योजन
चार दिशामें एक-एक
महापाताल कलशो ४
प्रत्येक विदिशा में
लघु कलशो १०७१
सूर्य - ४
चंद्र - ४
८ पंक्ति में लघुकलशो क्रमशः
२२३-२२२-२२१-२२०
२१८-२१८-२१७
२१६-२१५
उत्तर
अपराजित द्वार
जंबूद्वीप - १लाख योजन
लघुहिमवंत-शिखरी पर्वत
को ८ दाढामा
अंतरद्वीपो ५६
युगलिक क्षेत्र
एक दाढामा द्वीप ७
अंतर प्रमाण द्वीप प्रमाण
३०० योजन ३०० योजन
४०० " ४०० "
५०० " ५०० "
६०० " ६०० "
७०० " ७०० "
८०० " ८०० "
९०० " ९०० "
खंड - ५
खंड ३
खंड ४
खंड १
खंड २
पुंडरीक द्रह
विकटापाती
सुवर्णकूला नदी
रूप्यकूला नदी
महापुंडरीक द्रह
माल्यवंत
नरकांता नदी
नारीकांता नदी
रम्यक् क्षेत्र
केशरी द्रह
नीलवंत पर्वत
सीतोदा नदी
मेरु
सीता नदी
तिगिंछी द्रह
हरिकांता नदी
हरिसलिला नदी
गंधापाती
महापद्म द्रह
महा हिम वंत पर्वत
रोहितांशा नदी
रोहिता नदी
शब्दापाती
हिमवंत क्षेत्र
पद्म द्रह
खंड-३
खंड ४ नवभकूट
तमिस्रा गुफा प्रपाता
भरत क्षेत्र खंड-१
अयोध्या
प्रभास वरदाम मार्ग
भरत खंड-५
खंड-२
खंड-६
उत्तर
दक्षिण
पूर्व
पश्चिम
अंतर द्वीप
अनुवेलंधर
पाताल कलशे
जंबूद्वीप के खंड तथा विस्तार
क्षेत्र-पर्वत खंड योजनमान
भरत १ ५२६-६
लघुहिमवंत २ १०५२-१२
हिमवंत ४ २१०५-५
महाहिमवंत ८ ४२१०-५
हरिवर्ष १६ ८४२१-१
निषध ३२ १६८४२-२
महाविदेह ६४ ३३६८४-४
नीलवंत ३२ १६८४२-२
रम्यक् १६ ८४२१-१
जंबूद्वीपनी नदीया
प्रमाण नदी परिवार नदी
हरिसलिला-५६०००
सीतोदा-५३२०३८
सीता - ५३२०३८
नारीकांता-५६०००
नरकांता-५६०००
रूप्यकूला-२८०००
सुवर्णकूला-२८०००
रक्ता-१४०००
रक्तवती-१४०००
गंगा-१४०००
सिंधु - १४०००
रोहितांशा-२८०००
रोहिता-२८०००
हरिकांता-५६०००
पर्वत हिमवंत महाहिमवंत महापद्म
नदी गंगा सिंधु रोहितांशा रोहिता हरिकांता
पर्वत शिखरी हिरण्यवंत रुक्मी नीलवंत
नदी सुवर्णकूला रूप्यकूला नारी नरकांता रक्ता रक्तवती
क्षेत्र ऐरावत महैरण्यवत हरिवर्ष रम्यक् हैमवत
सं. यो. क.
रुक्मी ८-४२१०-१०
हिरण्यवंत ४-२१०५-५
शिखरी २-१०५२-१२
ऐरावत १-५२६-६
क्षेत्र-३/पर्वत-५
१९०/१लाख योजन
दक्षिण विजयंत द्वार
प्रकाशक : सुरेश्वर विधि ट्रस्ट
सौजन्य : श्री विलेपार्ले श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ एण्ड मेरीड्रेड, महासुखनगर, पार्ला - वेस्ट, मुंबई - ५६.
स्कैन प्रिन्टर्स : किरीट बी. वडेरा
फोन नं. : (ऑ) - ३७२७८००. (घर) - ३७२५८४७

Gouache on Cloth, XVIIIth Century,Gujrat

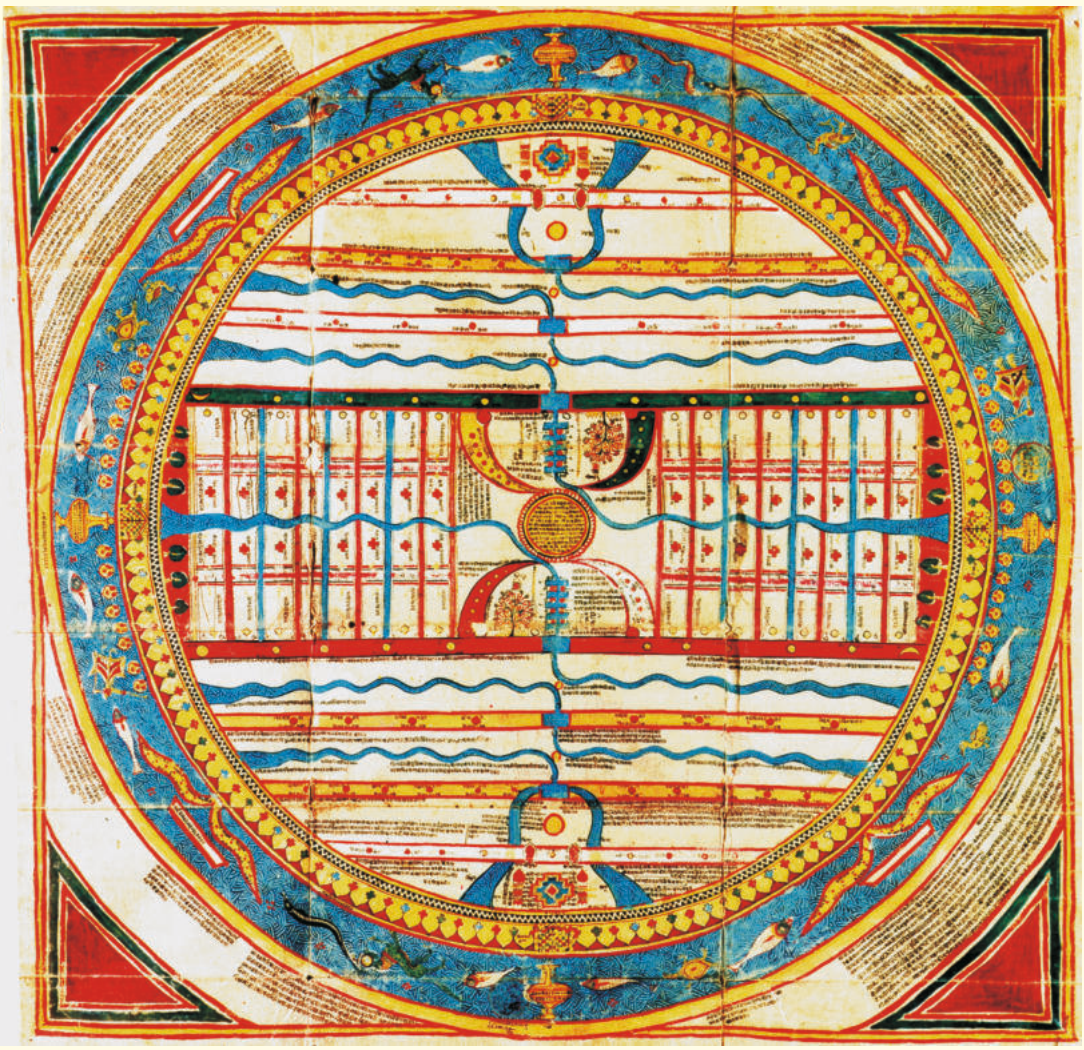

जम्बू द्वीप एवं लवण समुद्र

Gouache on paper, XVIII[th] Century, Gujrat

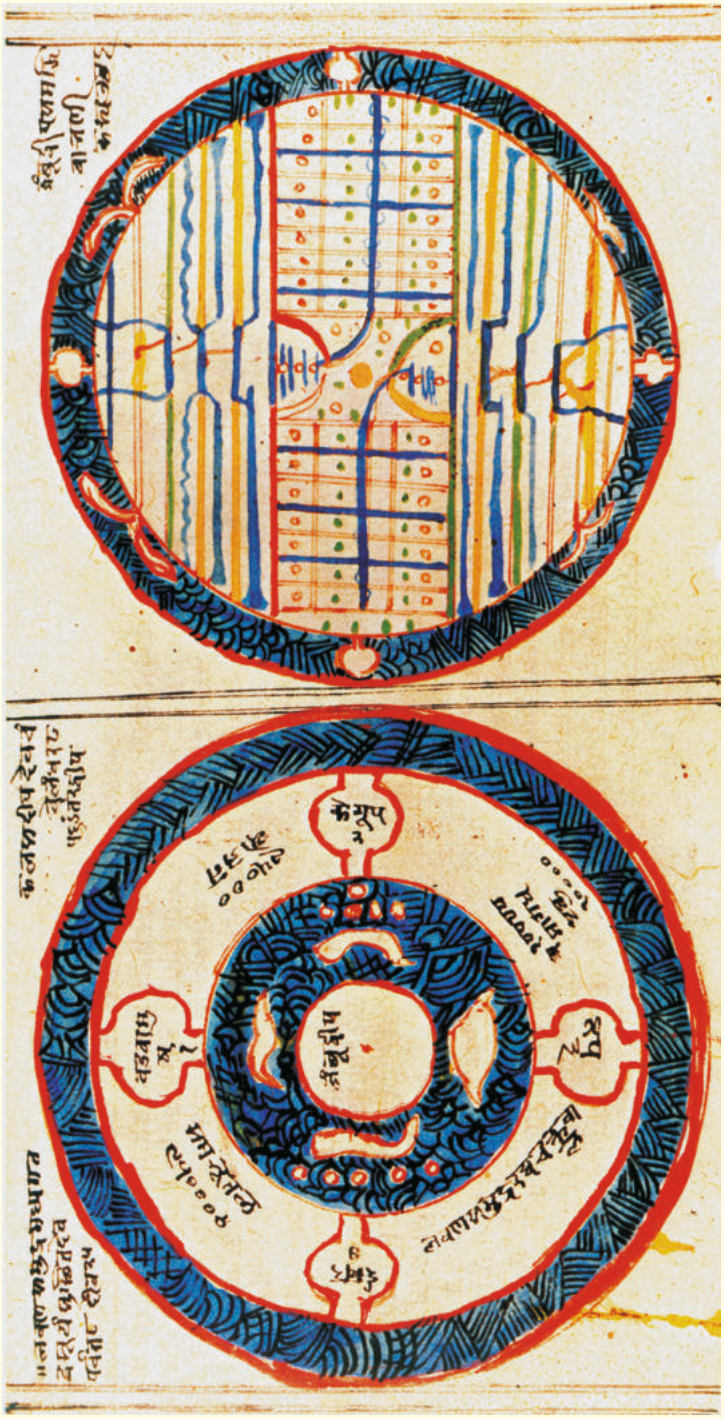

जम्बू द्वीप को घेरे हुए लवण समुद्र

Gouache on paper, XVIIth Century, Gujrat

जम्बू द्वीप और लवण समुद्र

Gouache on paper, XVIIIth Century, Rajasthan

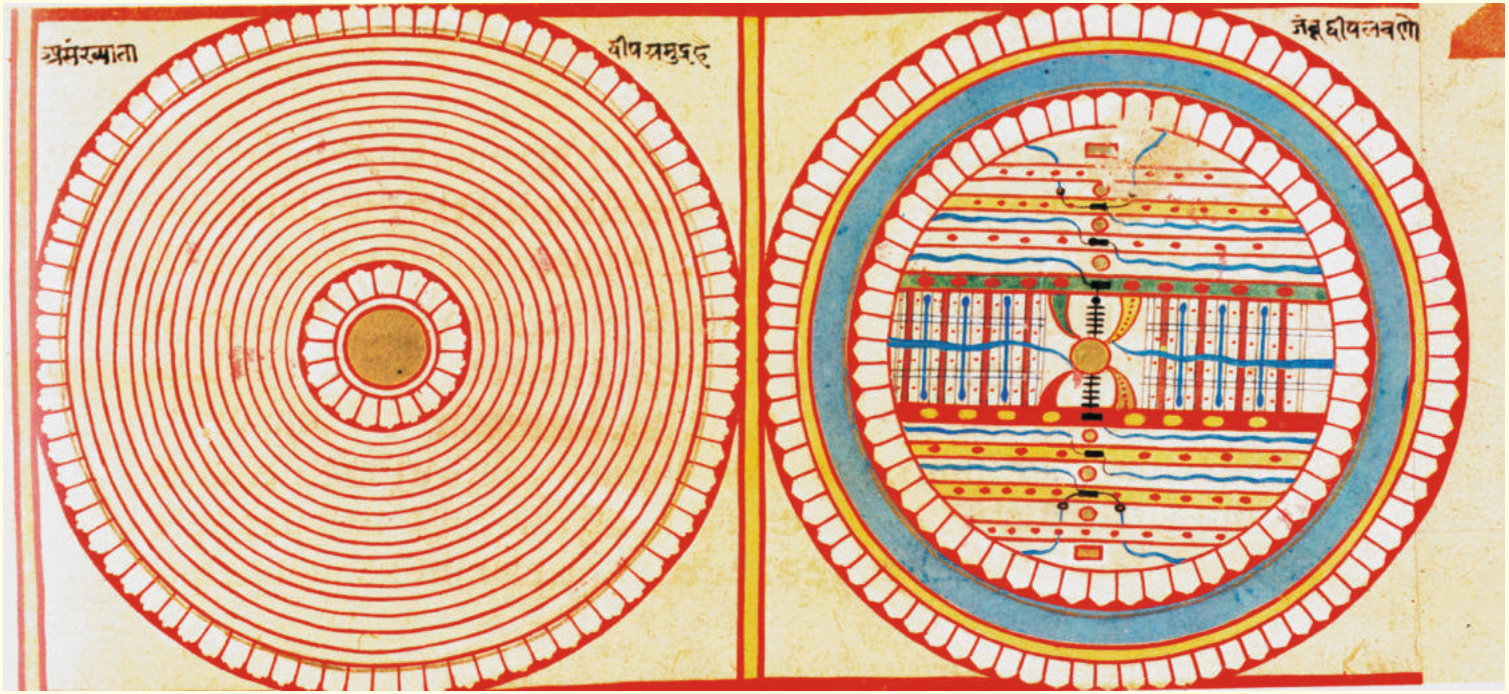

मध्य लोक के असंख्यात द्वीप–समुद्र

जम्बू द्वीप एवं लवण समुद्र

मध्य लोक

के ढाई द्वीप का विवरण

आगमक अनुसार भरत क्षेत्र के मानचित्र का प्रारूप - समावित प्रकल्पन -

जम्बूदीप के मान चित्रानुसार उसी के प्रमाण तथा एक ही स्केल पर जो प्रारूप बनता है। उसके रेखा चित्र का चित्रण किया गया है यह एक प्लेट जैसी संरचना प्रतीत होगी (यदि हम साइड से देखें तो)। अथवा एक ऐसा धनुष जिसका धनुष पृष्ठ का घुमाव (curvature) अत्यंत कम है।

यह संरचना पृथ्वी के किसी भी भूभाग-महाद्वीप से मेल नहीं खाती है।

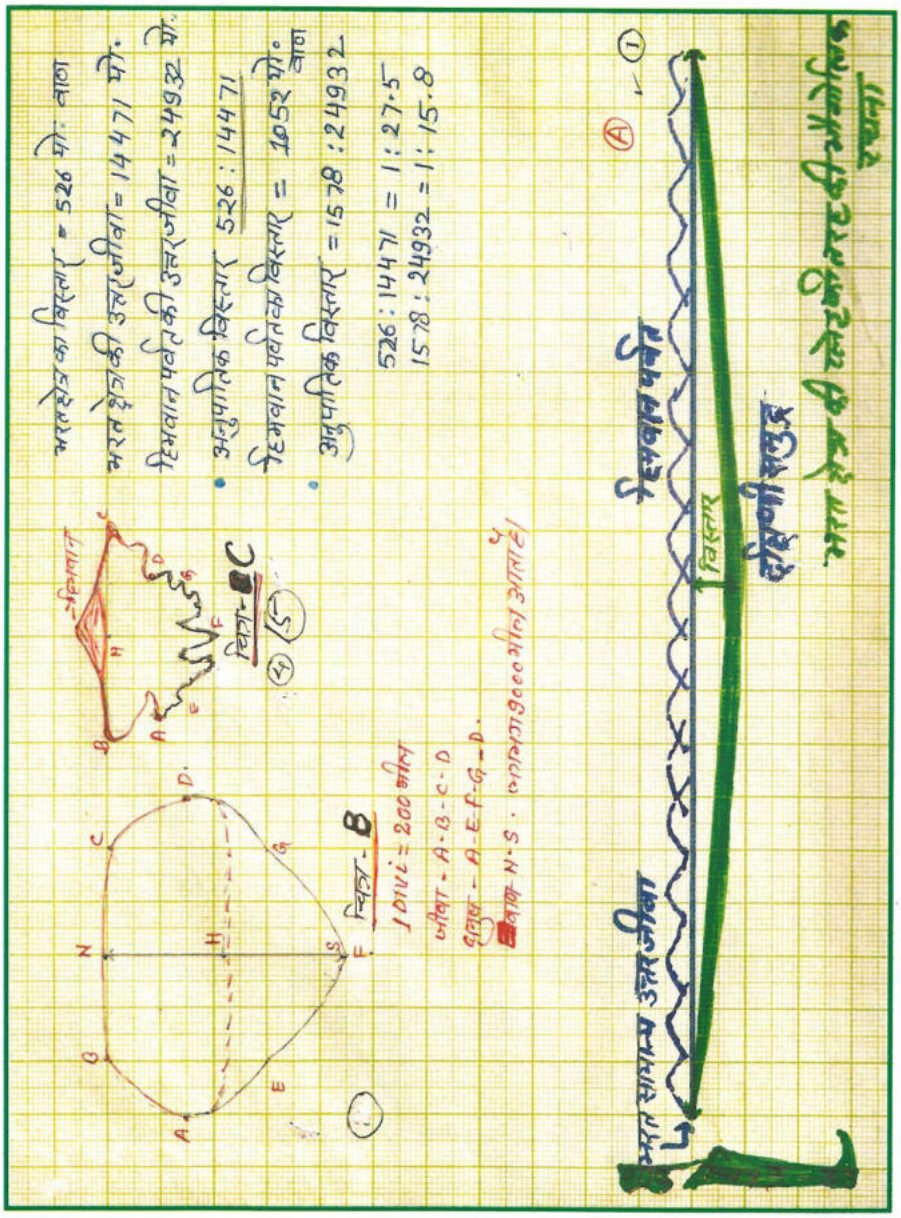

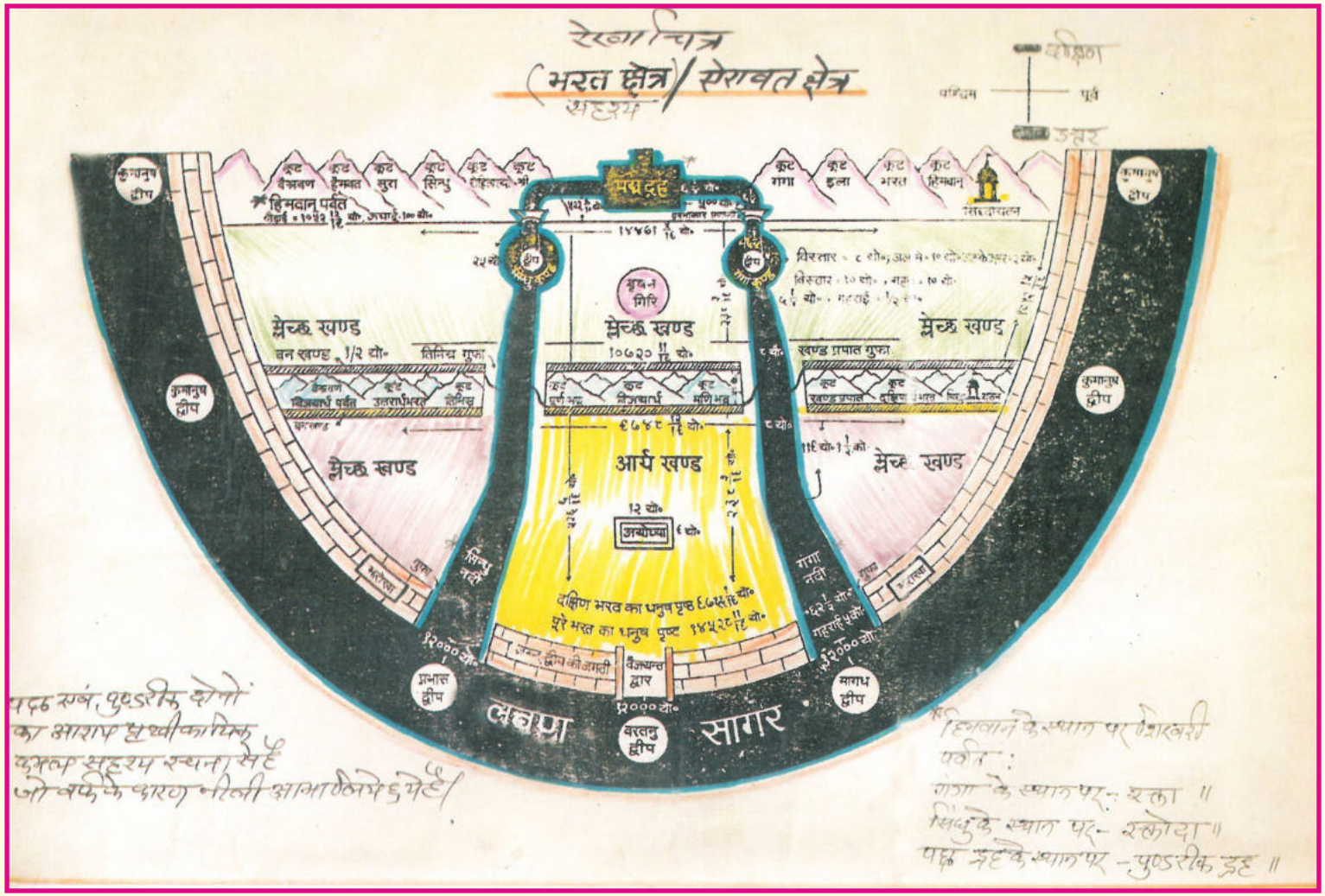
रेखा चित्र
(भरत क्षेत्र/ऐरावत क्षेत्र)
सहस्र
दक्षिण
पश्चिम
पूर्व
उत्तर
हिमवान पर्वत
पद्म द्रह
म्लेच्छ खण्ड
आर्य खण्ड
अयोध्या
वृषभ गिरि
लवण सागर
कुमानुष द्वीप
प्रभास द्वीप
वरतनु द्वीप
मागध द्वीप
सिन्धु नदी
गंगा नदी
वैजयन्त द्वार
जयन्त द्वार की जगती
दक्षिण भरत का धनुष पृष्ठ ६८५ ९/१९ यो०
दक्षिण भरत का धनुष पृष्ठ १४५२८ ११/१९ यो०
पद्म सर्व पुण्डरीक दोनों
का आधार पृथ्वीकायिक
कमल सदृश स्थान है
जो वर्षा के कारण नीली आभा लिये हुये है
हिमवान के स्थान पर ऐरावती
पर्वत :
गंगा के स्थान पर रक्ता ॥
सिंधु के स्थान पर रक्तोदा ॥
पद्म ह्रद के स्थान पर पुण्डरीक ह्रद ॥

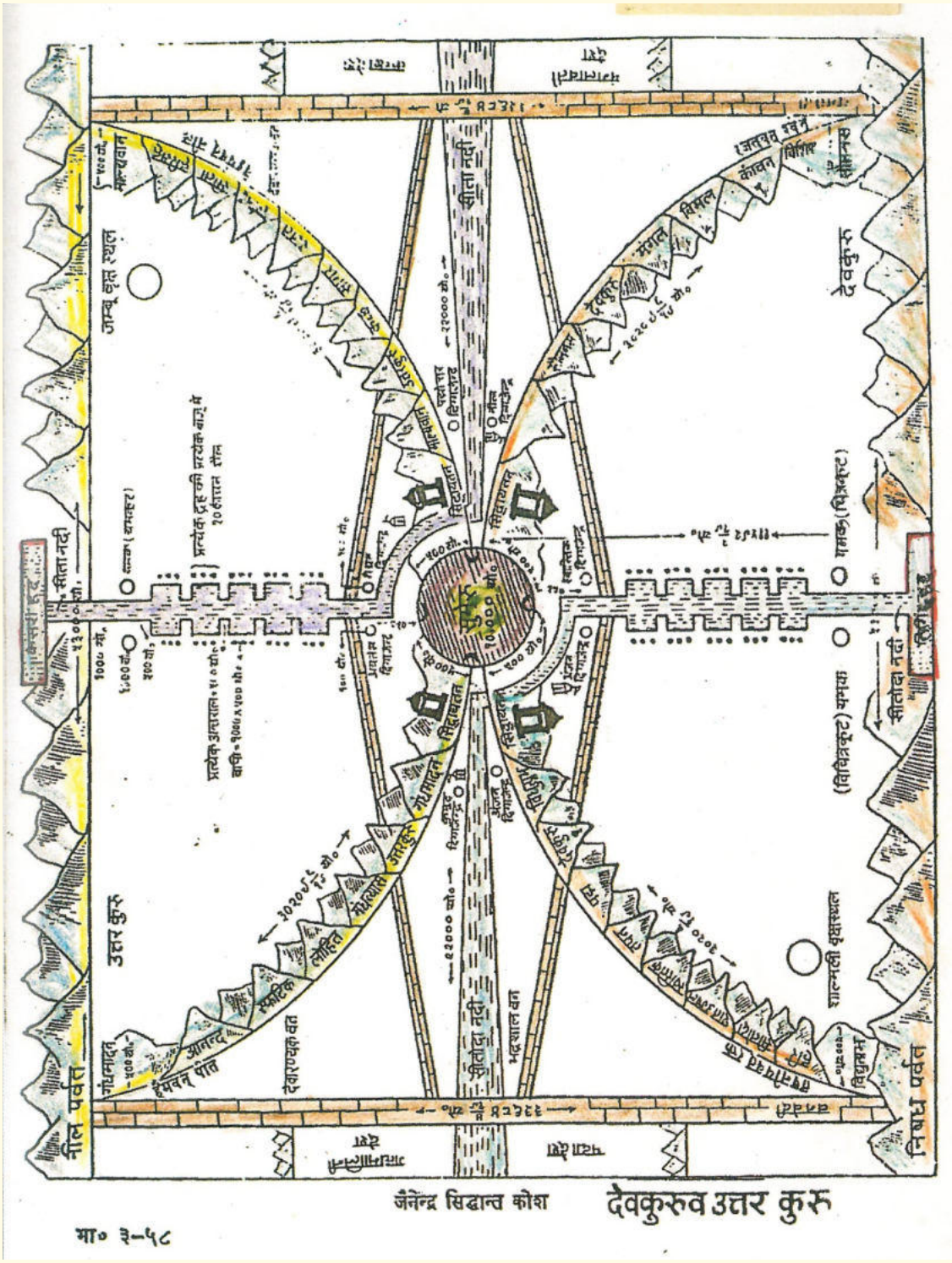
देवकुरु
उत्तर कुरु
सीता नदी
सीतोदा नदी
नील पर्वत
निषध पर्वत
जम्बू वृक्ष स्थल
शाल्मली वृक्षस्थल
मेरु
सिद्धायतन
माल्यवान
गंधमादन
विद्युत्प्रभ
सौमनस
देवकुरु
उत्तरकुरु
यमक (चित्रकूट)
कांचन
विमल
नील
सीता नदी
सीतोदा नदी
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश
देवकुरुव उत्तर कुरु
मा० ३-५८

Gouache on cloth, XVI[th] Century, Gujrat

उत्तम भोग भूमि (उत्तर कुरू अथवा देव कुरू)

Gouache on cloth, XVIIth Century, Rajasthan

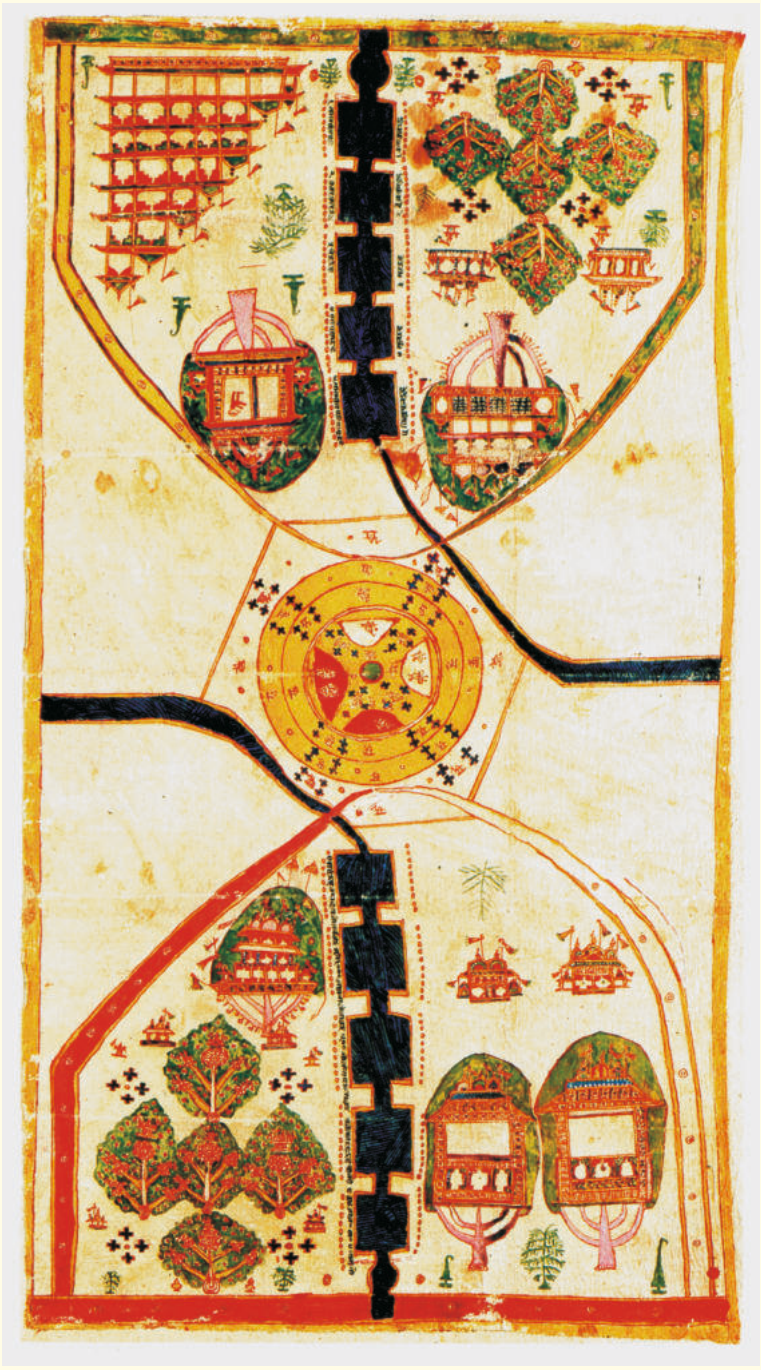

सुमेरू पर्वत एवं देव कुरू–उत्तर कुरू

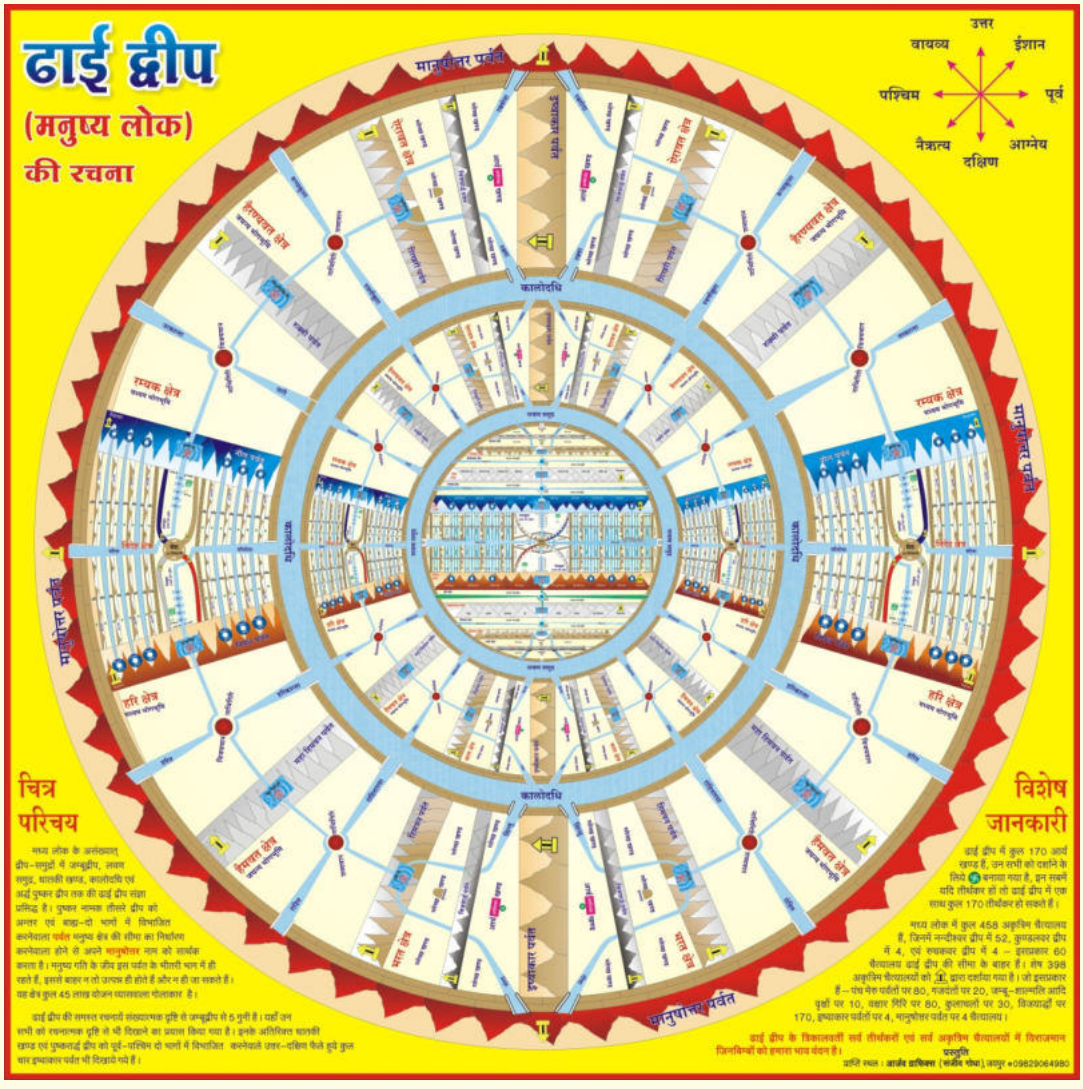
ढाई द्वीप
(मनुष्य लोक)
की रचना
उत्तर
वायव्य
ईशान
पश्चिम
पूर्व
नैऋत्य
आग्नेय
दक्षिण
मानुषोत्तर पर्वत
कालोदधि
रम्यक क्षेत्र
हरि क्षेत्र
हैरण्यवत क्षेत्र
भरत क्षेत्र
इषुकार पर्वत
चित्र परिचय
मध्य लोक के असंख्यात् द्वीप-समुद्रों में जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, धातकी खण्ड, कालोदधि एवं अर्द्ध पुष्कर द्वीप तक की ढाई द्वीप लंबा प्रसिद्ध है। पुष्कर नामक तीसरे द्वीप को अन्तर एवं बाह्य-दो भागों में विभाजित करनेवाला पर्वत मनुष्य क्षेत्र की सीमा का निर्धारण करनेवाला होने से अपने मानुषोत्तर नाम को सार्थक बनाता है। मनुष्य गति के जीव इस पर्वत के भीतरी भाग में ही पाये जाते हैं, इससे बाहर न तो उत्पन्न ही होते हैं और न ही जा सकते हैं। यह क्षेत्र कुल 45 लाख योजन व्यासवाला गोलाकार है।
ढाई द्वीप की समस्त रचनायें संख्यात्मक दृष्टि से जम्बूद्वीप से 5 गुनी हैं। यहाँ उन सभी को रचनात्मक दृष्टि से भी दिखाने का प्रयास किया गया है। इनके अतिरिक्त धातकी खण्ड एवं पुष्करार्द्ध द्वीप को पूर्व-पश्चिम दो भागों में विभाजित करनेवाले उत्तर-दक्षिण फैले हुये कुल चार इष्वाकार पर्वत भी दिखाये गये हैं।
विशेष जानकारी
ढाई द्वीप में कुल 170 आर्य खण्ड हैं, उन सभी को दर्शाने के लिये बनाया गया है, इन सबमें यदि तीर्थंकर हों तो ढाई द्वीप में एक साथ कुल 170 तीर्थंकर हो सकते हैं।
मध्य लोक में कुल 458 अकृत्रिम चैत्यालय हैं, जिनमें नन्दीश्वर द्वीप में 52, कुण्डलवर द्वीप में 4, एवं रुचकवर द्वीप में 4 – इसप्रकार 60 चैत्यालय ढाई द्वीप की सीमा के बाहर हैं। शेष 398 अकृत्रिम चैत्यालयों को द्वारा दर्शाया गया है। जो इसप्रकार हैं– पंच मेरु पर्वतों पर 80, गजदंतों पर 20, जम्बू-शाल्मलि आदि वृक्षों पर 10, वक्षार गिरि पर 80, कुलाचलों पर 30, विजयार्द्धों पर 170, इष्वाकार पर्वतों पर 4, मानुषोत्तर पर्वत पर 4 चैत्यालय।
ढाई द्वीप के त्रिकालवर्ती सर्व तीर्थंकरों एवं सर्व अकृत्रिम चैत्यालयों में विराजमान जिनबिम्बों को हमारा भाव वंदन है।
प्रस्तुति
प्रति रचना : आर्यिका प्रतिभा (संजीव गोधा), जयपुर +09829064980

Gouache on Cloth, XVIth Century, Gujrat

मनुष्य लोक (ढाई द्वीप)

Gouache on Cloth, XVIIIth Century, Rajasthan

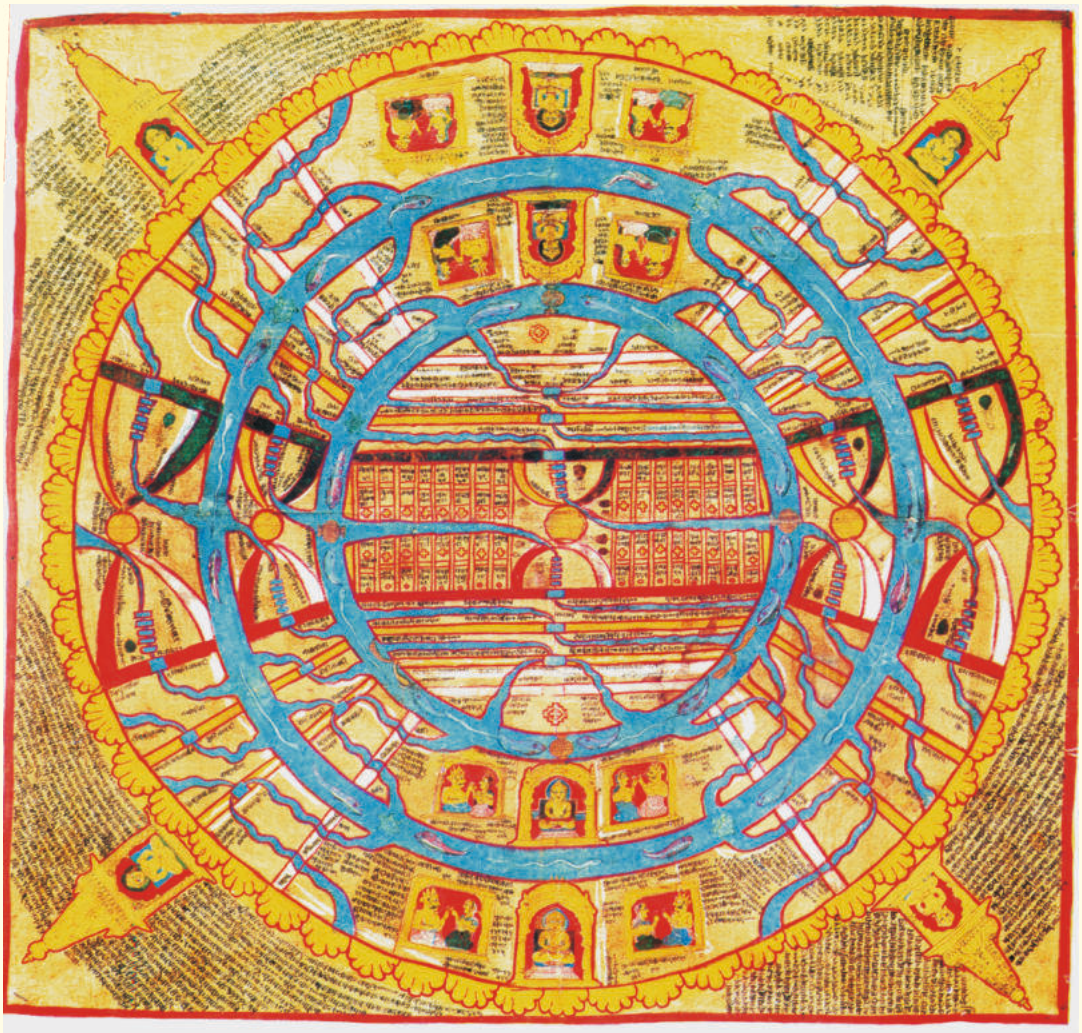

ढाई द्वीप

Gouache on paper, XVIth Century, Rajasthan

पृष्ठ 302

Gouache on paper, XVIIIth Century, Gujrat

Gouache on paper, XVIIth Century, Rajasthan

नन्दीश्वर द्वीप की रचना

जंबूद्वीपथी नंदीश्वर द्वीप-भावन शाश्वत चैत्य-नंदीश्वर समुद्र
(उत्तरोत्तर द्वीप- समुद्रो द्विगुण द्विगुण मापवाळा जाणवा)
जंबूद्वीप
१लाख योजन
२ धातकी खंड द्वीप
३ पुष्करवर द्वीप
४ वारुणीवर द्वीप
५ क्षीरवर द्वीप
६ घृतवर द्वीप
७ इक्षुवरस द्वीप
अंजन गिरि
दधिमुख
रतिकर

दैनिक भास्कर

निफ्टी 5,486.35 (पिछला 5,428.10 अंतर 58.
सोना 20,800 (पिछला 20,800 अंतर 00
चांदी 53,500 (पिछला 54,100 अंतर 600.
डॉलर 45.01 (पिछला 44.97 अंतर 0.

om Hi'life शनिवार जयपुर | 21 मई, 2011 ज्येष्ठ कृष्ण पक्ष-4, 2068

2 मेट्रो हादसे की जिम्मेदार कंपनी ब्लैकलिस्टेड

वैज्ञानिकों ने दिए तर्क, कहा- शान से चलती रहेगी जिंदगी, कोरी अफवाहें हैं दुनिया खत्म होने की बातें

कुछ नहीं होगा, सलामत रहेगी दुनिया

एजेंसी | न्यूयॉर्क

शनिवार को 21 मई 2011 है। भारत सहित विश्व के कई देशों में बड़े होर्डिंग लगे हैं-'जजमेंट डे यानी न्याय का दिन 21 मई 2011, इस दिन दुनिया खत्म हो जाएगी।' असल में ऐसा कुछ नहीं होने वाला है इसलिए घबराने की जरूरत नहीं है।

अमेरिका के बाइबिल टीचर और फैमिली रेडियो पर प्रचारक हैरॉल्ड कैंपिंग ने अपने रेडियो संदेश में बाइबिल के तथ्यों की अपनी सुविधा से गणना की और बताया था कि 21 मई 2011 को दुनिया खत्म हो जाएगी।

कैंपिंग 89 साल के हैं और 1994 में भी ऐसी भविष्यवाणी कर चुके हैं। तब कुछ नहीं हुआ था और उन्होंने कहा था कि गणना में गड़बड़ी हो गई। अमेरिका में ही 86 साल पहले 1925 में भी ऐसी भविष्यवाणी की गई थी। सेवंथ डे एडवेंटिस्ट चर्च के अनुयायी रॉबर्ट रेट ने 6 फरवरी 1925 को दुनिया खत्म होने की भविष्यवाणी की थी। टाइम मैगजीन ने उस तारीख के 2 दिन पहले बताया कि रेट ने अपनी संपत्ति बेच दी थी। शेष | पेज 6

दुनिया खत्म होने की अफवाहों का आधार क्या बताया था?

7 दिन में दुनिया खत्म कर रहा हूं

4990 वर्ष ईसा पूर्व में भयंकर बाढ़ आने पर ईश्वर ने नूह से कहा कि वे 7 दिन में दुनिया खत्म कर रहे हैं। संत पीटर ने कहा कि ईश्वर का हर दिन हमारे लिए 1000 वर्ष के बराबर है। यानी 7000 सालों में दुनिया खत्म होगी।

4990 ईसा पूर्व में 7001 वर्ष जोड़ने पर 2011 होता है। ईसापूर्व से ईस्वी में आते समय शून्य वर्ष नहीं था इसलिए 1 वर्ष अधिक जोड़ा गया। इसलिए कहा गया कि दुनिया 21 मई 2011 को समाप्त हो जाएगी।

कैसे साबित किया कि सब झूठ है

वैज्ञानिक और बाइबिल के ज्ञाताओं के तर्क

डेविड मोरिसन, नासा के एस्ट्रोबायोलॉजिस्ट बताते हैं...

प्रचारित किया गया कि निबिरू नामक ग्रह पृथ्वी से टकराएगा और जीवन खत्म हो जाएगा। ऐसा 21 मई 2011 को होगा, यह झूठ है।

इस झूठ को बल क्यों मिला : निबिरू एक काल्पनिक ग्रह है। इसकी परिकल्पना लेखक जेचारिया सिचिन ने की। वे ढाई हजार साल पहले की मेसोपोटामियाई सभ्यता के बारे में कहानियां लिखते रहे हैं। सिचिन के मुताबिक निबिरू ग्रह का प्रमाण उसे कई पुरानी किताबों में मिला था। इनमें कहा गया था कि निबिरू सूर्य की परिक्रमा 3600 वर्ष में पूरी करता है। यह पृथ्वी से वर्ष 2003 में टकराएगा। **लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ।**

ऐसे कई काल्पनिक चित्र जारी किए गए।

वह सबकुछ भी वहम ही था

एलियन पर शोध कर रही कनाडा की जीटाटॉक कंपनी की शोधकर्ता नैन्सी लेडर ने भी कहा था कि पृथ्वी को किसी ग्रह से 2005 में हानि पहुंच सकती है। वह भी एक वहम निकला।

उल्का भी नहीं कर सकती नुकसान

नासा के पास स्पेसगार्ड सर्वे नामक टीम है जो धरती के आस-पास के सभी ग्रहों पर नजर रखते हैं। विशालकाय उल्कापिंड 650 लाख वर्ष पहले पृथ्वी से टकराया था और डायनोसॉर लुप्त हो गए।

...लेकिन बाइबिल में ऐसा कुछ भी नहीं

बाइबिल के ज्ञाता डेनवर स्थित अगस्टिन इंस्टीट्यूट में प्रोफेसर डॉ.जेरेड स्टाउट के मुताबिक बाइबिल में ऐसा कुछ नहीं कि न्याय के दिन की तारीख निकाली जा सके।

अमेरिका के सर्दन बैप्टिस्ट थियोलॉजिकल सेमिनरी के अध्यक्ष डॉ. अल्बर्ट मोहलर ने इस तरह का दावा करने वालों को जीसस क्राइस्ट ने डांटा था। परमात्मा द्वारा तय तारीख को कोई मनुष्य जान नहीं सकता।

एक मरमन विद्वान केविन बार्नी ने कहा कि इस तरीके की भविष्यवाणियों के झूठे साबित होने से मेरे शिष्य अब समझदार हो गए हैं। चर्च की आधिकारिक स्थिति है 'अगर ऐसी कोई तिथि, दिन और समय है तो उसके बारे में ईश्वर के अलावा किसी व्यक्ति को तो दूर देवदूतों को भी नहीं मालूम है'।

कहां से शुरू हुई ये अफवाहें

फैमिली रेडियो के 89 वर्षीय अध्यक्ष हैरॉल्ड कैंपिंग ने बाइबिल की कुछ बातों की गलत व्याख्या करते हुए दावा किया है कि धरती 21 मई 2011 को येरुशलम में सूर्यास्त होने के साथ ही (भारत में शाम साढ़े आठ बजे) खत्म हो जाएगी। इस अफवाह के चलते न्यूयॉर्क की गलियों में भी जजमेंट डे की टी-शर्ट और किताबें बांटी जा रही हैं।

200 से ज्यादा बार खत्म कर चुके हैं दुनिया

1982 : अफवाह थी कि पृथ्वी खत्म हो जाएगी क्योंकि सभी ग्रह सूर्य की परिक्रमा के वक्त एक ही दिशा में थे। इसे एपोकैलिप्टिक प्रेडिक्शन कहा जाता है।

1992 : ली जैंग रिम ने अफवाह उड़ाई कि 28 अक्टूबर 1992 को दुनिया समाप्त होगी क्योंकि प्रभु यीशु सिडनी हार्बर पर आने वाले हैं। इस अफवाह के लिए उसे 2 साल जेल हुई।

21 दिसंबर 2012 : माया कैलेंडर के अनुसार दुनिया 13 बक्तून चक्रों के बाद खत्म हो जाएगी। यह 21 दिसंबर 2012 को पूरा हो रहा है।

नेशनल न्यूज रूम

दुनिया खत्म होने की अफवाह और इसके वैज्ञानिक पहलू पर कुछ तथ्य जुटाए गए हैं। इस पर आपकी राय क्या है। एसएमएस करने के लिए लिखें - डीबी <स्पेस>एलएआर1<स्पेस>नाम<स्पेस>शहर<स्पेस>आपका संदेश और भेज दें - 09223177890

दैनिक भास्
भारत का सबसे बड़ा समाचार पत्र
राजस्थान
गुरुवार
जयपुर | 5 जुलाई, 2012
श्रावण कृष्ण पक्ष - 2, 2069

विज्ञान का दावा-वो कण मिला जिससे बना ब्रह्माण्ड

■ 113 देशों के 10 हजार वैज्ञानिकों की 4 साल की मेहनत का नतीजा

जिनेवा (स्विट्जरलैंड) | वैज्ञानिकों ने बुधवार को परमाणु के भीतर नया कण खोजने का दावा किया है। यह उस 'हिग्स बोसॉन' यानी गॉड पार्टिकल से मिलता-जुलता है जिससे माना जाता है कि ब्रह्माण्ड अस्तित्व में आया।

सर्न के वैज्ञानिक ब्रह्माण्ड के इस रहस्य को सुलझाने के लिए 2008 से प्रयोग कर रहे थे। बुधवार को उन्होंने इसके नतीजे का ऐलान किया। वैज्ञानिकों की टीम के प्रवक्ता जोए इनकाडेला ने कहा कि 'हम हिग्स बोसॉन के करीब पहुंच गए हैं। हालांकि नया कण हिग्स बोसॉन ही है, यह कहने में वक्त लगेगा।' प्रयोग के दौरान जो कण मिले, वे उस जैसे ही हैं।

हमारे 100 वैज्ञानिक

» इस खोज में भारत के 100 से अधिक वैज्ञानिक कई स्तरों पर शामिल रहे।
» एफिल टावर से ज्यादा भारी 8,000 टन के चुंबक के हिस्से भारत में बने।

बोस ने दिया बोसॉन

भारतीय भौतिकविद सत्येंद्रनाथ बोस ने 1924 में बताया कि परमाणु में मौजूद कण प्रोटॉन एक जैसे नहीं होते। उनसे निकली ऊर्जा अलग-अलग होती है। इसी आधार पर बोस-आइंस्टीन फार्मूला सामने आया। सब-एटॉमिक पार्टिकल को बोसॉन कहा गया।

कुछ सवाल सुलझे, कुछ अनसुलझे -पेज 6
7 बड़ी खोज, जिन्होंने दुनिया बदल दी - पेज 15

वो सबकुछ जो आप जानना चाहते हैं

क्या है गॉड पार्टिकल यानी हिग्स बोसॉन?

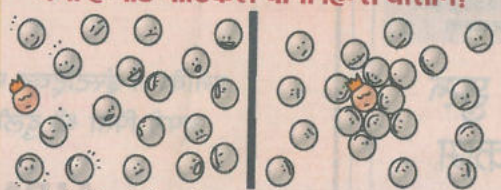

■ ब्रह्मांड में सभी कण बिखरे हुए थे। प्रकाश की गति से यहां-वहां घूम रहे थे। जैसे पार्टी में मेहमान बिखरे रहते हैं। लेकिन सेलिब्रिटी के आते ही वे उसे घेर लेते हैं।

■ 14 अरब साल पहले बिग बैंग के समय अस्तित्व में आया हिग्स बोसॉन ने कणों को जोड़ा। उन्हें द्रव्यमान दिया। जिससे परमाणु, अणु, तत्व और पदार्थ बने।

इसलिए जरूरी था प्रयोग...

■ ब्रह्मांड की हर चीज में गुरुत्व बल और द्रव्यमान (मास) से मार होता है। द्रव्यमान पैदा करने वाला कण हिग्स बोसॉन है। अब तक स्टैंडर्ड फिजिक्स के 11 कण ढूंढे जा चुके हैं। लेकिन हिग्स बोसॉन तक नहीं पहुंच पाए थे।
■ यदि हिग्स बोसॉन तक नहीं पहुंच पाते तो स्टैंडर्ड फिजिक्स के सिद्धांत झूठे साबित होते। अब तक की धारणाएं झुठला दी जाती।

तो कैसे तलाशा गया इसे?

■ जिनेवा में सर्न की जमीन से 175 मी. नीचे प्रयोगशाला में 27 किमी लंबी सुरंग में प्रोटॉन बीम्स की टक्कर कराई।
■ एक सेकंड में प्रोटॉन बीम्स ने सुरंग के 11 हजार चक्कर लगाए। इससे सूरज के केंद्र के तापमान से भी लाखों गुना ज्यादा तापमान पैदा हुआ।
■ तापमान बढ़ने से प्रोटॉन टूटा। 'हिग्स बोसॉन' जैसे कण बने। द्रव्यमान तुलनात्मक रूप से प्रोटॉन से 130 गुना तक। दोनों टीमों (एटलस व सीएमएस) ने कण की पुष्टि की है।

ऐसे नाम पड़ा 'गॉड पार्टिकल'

■ 1993 में लीडरमैन और टेरेसी की किताब में सबसे पहले हिग्स बोसॉन को गॉड पार्टिकल कहा गया।
■ 'द गॉड पार्टिकल : इफ द यूनिवर्स इज द आन्सर, वॉट इज द क्वेश्चन?' नामक किताब का नाम लीडरमैन गॉडडैम पार्टिकल रखना चाहते थे। लेकिन प्रकाशक को इस पर आपत्ति थी।
■ पीटर हिग्स समेत कई भौतिकविद गॉड पार्टिकल कहे जाने पर सहमत नहीं थे।

हमें क्या फायदा?

बता रहे हैं सर्न प्रयोगशाला में स्थित सीएमएस के वैज्ञानिक प्रो. विवेक आनंद शर्मा

जो निष्कर्ष मिलेंगे, उससे चिकित्सा और संचार तकनीकी में और विकास हो सकता है। यह एकदम वैसा ही है जैसे 100 साल पहले इलेक्ट्रॉन की खोज हुई। फिर बिजली और उसके बाद संचार क्षेत्र में अद्वितीय विकास हुआ। सेल फोन आए, कम्प्यूटर आए, जीपीएस की खोज हुई।

इसे ऐसे समझिए

1 चिकित्सा क्षेत्र में एटम स्मैशर पद्धति पर काम करने वाले स्कैनिंग इंस्ट्रूमेंट का विकास होगा। मानव शरीर में मौजूद बीमारियों की विस्तृत जानकारी मिल सकेगी।

2 इंटरनेट के क्षेत्र में विकास तेज होगा। क्योंकि सर्न लैब में रोज जितना डाटा एकत्र होता है उसे सही तरीके से रखने और दोबारा पाने के लिए डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू की खोज हुई थी। दो दशकों में ही यह दुनिया में संचार का बड़ा माध्यम बना।

3 परमाणु ऊर्जा, कंप्यूटर, मेडिसिन क्षेत्र में क्रांतिकारी अविष्कारों को दिशा मिलेगी। इलेक्ट्रॉन की मदद से आधुनिक विज्ञान के कई अविष्कार हुए।

-जैसा ऋचीक मिश्रा को बताया

...दरार ऐसी कि हिमालय समा जाए

भू-गर्भशास्त्री डॉ. जेजी नेगी का मानना है कि अमेरिकी वैज्ञानिकों को जरूर पता होगा कि समुद्र में भूकंप आने की वजह से सुनामी लहरें उठेंगी, अगर वे इससे अन्य देशों को सतर्क कर देते तो इतनी तबाही नहीं होती

कई द्वीप अपनी जगह से खिसके

पेरिस, 28 दिसंबर। इंडोनेशिया में हिंद महासागर की तलहटी में आया भूकंप इतना शक्तिशाली था कि इससे पूरी पृथ्वी ही अपनी धुरी पर हिल गई। इसके प्रभाव से आसपास के इलाकों की भूगर्भीय स्थिति तो हमेशा के लिए बदल गई है।

फ्रांस के विशेषज्ञ पॉल टेपोनियर ने बताया कि भूकंप का यह तगड़ा झटका ऐसा था जैसे किसी ने पूरी धरती पर ही एक साथ प्रहार किया हो। अमेरिकी भूगर्भ विशेषज्ञ केन हूडनट ने कहा कि इस भूकंप से धरती की धुरी हिलने से छोटे-छोटे द्वीप तो अपनी जगह से 20 मीटर तक खिसक गए हैं। इंडोनेशिया का सुमात्रा प्रांत तो करीब 36 मीटर खिसक गया है।

ऐसा परिवर्तन होता ही रहता है।

खंभात की खाड़ी में इसरो की अद्‌भुत खोज, 2 लाख वर्ष पहले मानव बस्ती होने के सुबूत

समुद्र में 10 हजार वर्ष पुराने शहर मिले

दिलीप पटेल

गांधीनगर, 21 अक्टूबर: तीन हजार वर्ग किमी में फैली खंभात की खाड़ी की जगह 10 हजार साल पहले इनसानों की विशाल बस्ती आबाद थी। इसरो ने समुद्र के भीतर 20 मीटर गहराई में दो शहर ढूंढ़ निकाले हैं। इनमें से एक सूरत के पास हजीरा से 20 किमी और दूसरा भावनगर के गोपनाथ के पास तलाजा में 20 किमी की त्रिज्या में फैला हुआ है। दोनों शहरों के साथ इसरो ने एक नदी भी ढूंढ़ निकाली है।

सूरत के पास समुद्र से मिला शहर रेत और कीचड़ के नीचे दबा हुआ है। तलाजा में पानी के नीचे दबे शहर के मूल स्थान की जांच आर्कियोलॉजी विभाग द्वारा की जाएगी। शहर के अवशेषों को इसरो द्वारा सैटेलाइट से ली गई तस्वीरों में स्पष्ट देखा जा सकता है। इन तस्वीरों में गुजरात की प्राचीन समृद्ध संस्कृति के सुबूत भी नजर आते हैं।

समुद्र विकास मंत्रालय से संबद्ध नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ ओशन टेक्नोलॉजी के वैज्ञानिक पिछले कई सालों से इन शहरों की खोज कर रहे थे। –शेष पृष्ठ 6 पर

संस्कृति के निशान

इन शहरों के नाम के बारे में फिलहाल कोई जानकारी नहीं है। जो अवशेष मिले हैं उनमें सात हजार वर्ष पुराने बेरल आकार के छिद्र वाले मोती, नौ किमी लंबी और 90 वर्ग किमी रेत की दीवार मिली है। पेड़ की जड़ें और वनस्पति के पत्ते भी पाए गए हैं। 76 सेमी पतरे की एक ब्लेड और ढेले भी मिले हैं जो 9910 से 9331 वर्ष पुराने हो सकते हैं। 4033324 मीटर का टैंक, पानी की टंकी की सीढ़ी और 2003345 मीटर का विशाल प्लेटफॉर्म भी शहर की विशालता का सबूत देते हैं।

सभ्यताये भी जन्मतीं है और फिर लुप्त होती जाती है।

पृथ्वी से 1500 गुना बड़ा

तीन सूर्य वाला नया ग्रह मिला

वाशिंगटन, 15 जुलाई•खगोलविदों ने तारामंडल 'सिगनस' में एक ऐसे ग्रह की खोज की है,जो आकार में पृथ्वी से 15 सौ गुना बड़ा है। खास बात यह है कि हमारे सौरमंडल के एक सूर्य की तुलना में इसके तीन सूर्य हैं। इससे पहले तीन सूर्यों वाले किसी ग्रह की कल्पना तक नहीं की गई थी।

कैलिफोर्निया प्रौद्योगिकी संस्थान के खगोलविद मैकेज कोनाचकी के नेतृत्व में हुई इस खोज के बारे में पत्रिका 'नेचर' में रिपोर्ट छपी है। इसके मुताबिक, हमारे सौरमंडल में शनि ग्रह से सूर्य की जो दूरी है,लगभग इतनी ही दूरी इस नए ग्रह के सूर्यों की आपस में है। सूर्य और शनि के बीच की दूरी पृथ्वी से सूर्य की दूरी के मुकाबले दस गुना ज्यादा है। यह अजूबा ग्रह अपने तारामंडल के बीच के सूर्य का एक चक्कर 80 घंटे में पूरा कर लेता है। यह दूरी ही करीब 80 लाख किलोमीटर बैठती है। दो अन्य सूर्य केंद्रीय सूर्य का उतनी दूरी से चक्कर लगाते हैं,जितनी दूरी हमारे सौरमंडल में शनि और यूरेनस की धरती से है। रिपोर्ट में खगोलविदों ने दावा किया है कि ताजा खोज से ग्रहों के पुराने सिद्धांतों में क्रांतिकारी बदलाव आ सकते हैं। इसके अलावा सौरमंडल में अनुमान से ज्यादा ग्रह होने की नई संभावनाएं भी इससे खुल सकती हैं।

नए ग्रह की दूनिया धरती से 149 प्रकाश वर्ष दूर है। उन्होंने बताया कि विभिन्न तारामंडलों के सूर्यों की गति नापने के लिए उन्होंने ऐसी प्रणाली विकसित की गई है,जिससे नए ग्रहों का पता लगाने में काफी आसानी होगी। •एजेंसी

बह्माण्ड के रहस्य असीम हैं

नरक के दु:ख

•वज्राग्नि में पकाना

करोंतो से चीरना

• पीव के कुण्ड में फेंकना

•नेत्र उखाड़ना

• शरीर का छेदन भेदन

•लड़ना नहीं चाहता पर फिर भी
लड़ने लगता है

नरक के दु:ख

•शूली पर पेलना

• आंख फोड़ना

•चिर भूख का दुख
तीन लोक को नाज जु खाय,
मिटै न भूख कणा न लहाय।

सिन्धुनीर तैं प्यास न जाये,
तो पण एक न बूंद लहाय।
•चिर प्यास का दुख

• बैल बनाकर जोतना

• घानी में पेलना

नरक के दुःख

• उष्णता का दुख

• पारे की भांति
शरीर बिखरना

• सेमर वृक्ष के नीचे बैठने का दुख

• शीत का दुख

• नरक भूमि का दुख

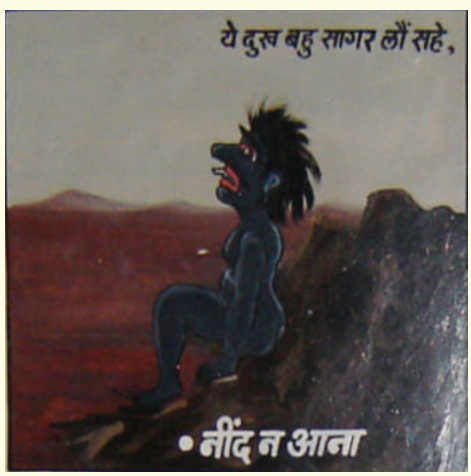
ये दुख बहु सागर लौं सहे,
• नींद न आना

डॉ. संजीवकुमार गोधा

पुस्तक के लेखक डॉ. संजीवकुमार गोधा जैन समाज की एक जानी-मानी शख्सियत हैं। आपका जन्म राजस्थान की गुलाबी नगरी जयपुर में 26 नवम्बर 1976 को हुआ। बचपन से ही धार्मिक संस्कारों में पले-बड़े डॉ. गोधा की ख्याति एक निर्भीक अंतरराष्ट्रीय जैन विद्वान के रूप में रही है।

आप **इतिहास** एवं **जैनविद्या व तुलनात्मक धर्मदर्शन** विषयों में एम.ए., **जैनदर्शन** विषय से एम.फिल (गोल्ड मैडल), यूजीसी-नेट तथा **तीन लोक** विषय पर पीएच.डी. हैं।

देश-विदेश की समाज एवं विभिन्न संस्थाओं द्वारा आपको समय-समय पर विविध अवार्ड, सम्मान, पुरस्कार एवं उपाधियों से अलंकृत किया जाता रहा है, जिनमें अखिल भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् द्वारा **पण्डितप्रवर टोडरमल पुरस्कार व युवा विद्वत्रत्न,** श्रवणबेलगोला (महामस्तकाभिषेक) युवा सम्मेलन में **आदर्श जैन युवा राष्ट्रीय सम्मान,** शिकागो (अमेरिका) द्वारा **अति विशिष्ट सेवा अवार्ड,** उत्तर प्रदेश जैन विद्या शोध संस्थान लखनऊ उत्तर प्रदेश सरकार व फिरोजाबाद सहित ब्रज क्षेत्र की सकल जैन समाज द्वारा **अध्यात्मचक्रवर्ती,** श्री परमागम ट्रस्ट सोनागिर द्वारा **अध्यात्मवेत्ता,** ब्राह्मी सुंदरी कन्या विद्या निकेतन, **अध्यात्मविभूति** मुमुक्षु मण्डल व तारण-तरण समाज सागर सहित दिल्ली की अनेक संस्थाओं द्वारा **उपाध्यायकल्प** आदि उपाधियों सहित **आचार्य समन्तभद्र पुरस्कार, युवा जैन रत्न सम्मान,** कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ द्वारा **अर्हत्वचन** पुरस्कार, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल चैरिटेबल ट्रस्ट द्वारा विशेष सम्मान आदि प्रमुख हैं।

आपके द्वारा लिखित एवं सम्पादित 13 पुस्तकें एवं 30 से अधिक लेख प्रकाशित हो चुके हैं। आप 1998 से वीतराग विज्ञान मासिक के सह-सम्पादक एवं पाक्षिक समाचार पत्र जैनपथप्रदर्शक के सम्पादक रहे हैं एवं श्री टोडरमल दि. जैन सि. महाविद्यालय में शास्त्री वर्ग के छात्रों की विशेष कक्षाएँ लेते रहे हैं।

आप जयपुर के ऐतिहासिक मंदिर श्री दि. जैन पंचायत तेरहपंथ बड़ा मन्दिर, जयपुर (टोडरमलजी वाले) के महामंत्री, श्री टोडरमल दि. जैन सि. महाविद्यालय के वरिष्ठ अध्यापक, जैन अध्यात्म एकेडमी ऑफ़ नॉर्थ अमेरिका के डायरेक्टर, विश्वस्तर पर संचालित अर्हं व सत्पथ पाठशाला के निदेशक एवं अ. भा. जैन युवा फैडरेशन राजस्थान के प्रदेश महामंत्री रहे हैं।

आप एक लोकप्रिय प्रवचनकार के रूप में विख्यात आध्यात्मिक प्रवक्ता थे। लाखों जैन-जैनेतर बन्धु आपको सुनने के लिए लालायित रहते हैं। आपकी सरल, सुबोध, ओजस्वी शैली समाज में आकर्षण का विषय बनी रही। आप पूरे विश्व में सर्वाधिक ऑनलाइन लाइव सुने जाने वाले प्रमुख जैन विद्वान थे। आपने 1993 से नियमित प्रवचन करते हुए जीवन के अंतिम समय तक लगभग 28,000 से अधिक प्रवचन किये हैं। सन् 2011 से प्रतिवर्ष लगभग 2 महीने विदेशों में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार हेतु बुलाए जाते रहे हैं। सन् 2011 से 2022 तक 18 विदेश यात्राओं के माध्यम से अमेरिका, कनाडा, इंग्लैण्ड, अफ्रीका, सिंगापुर, ऑस्ट्रेलिया, दुबई आदि अनेक देशों के लगभग 40-50 शहरों में अपने प्रभावक प्रवचनों के माध्यम से धर्मध्वजा फहराई है।

1 जुलाई 2021 से प्रतिदिन रात्रि 10 बजे नियमित रूप से टी.वी. के पारस चैनल पर एवं समय-समय पर जिनवाणी व आदिनाथ टी.वी चैनलों पर भी आपके मार्मिक प्रवचनों का प्रसारण होता रहा है। YouTube पर Dr. Sanjeev Godha नामक आपके चैनल पर आपके हजारों वीडियो प्रवचन उपलब्ध हैं, जिनमें जैनदर्शन के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का समावेश है। YouTube पर आपको जैन-अजैन 60 हजार से अधिक लोग फॉलो करते हैं, जिससे चैनल पर करोड़ों व्यूज़ हैं।